कबीर का समय

ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर का समय फीरोज तुगलक के शासन-काल (स० १४०८-४५) से सैयद-वश के शासन-काल (सं० १४७१-१५०४) तक माना जाता है। भारतीय इतिहास मे यह समय अत्यन्त अशान्ति का समय था। चारों ओर मार-काट की धूम थी। हिन्दू-मुसलमान ही नही, नाथ-पथी, शैव, शाक्त, बोद्ध और जैनी भी आपस मे लड-भिड रहे थे। इन झगडो के बीच धर्म का वास्तविक रूप लुप्त हो गया था। पाखंड और आडम्बर ने जीवन मे घर कर लिया था। वेदान्त की शिक्षाएँ लोग भूल चुके थे। देश की ऐसी राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो मे जन्म लेकर कबीर ने अपनी अनुभूति और सहज ज्ञान से लोगो को जातीय भेद-भावो को मिटाकर मानव-जाति मे परिणत होने और सब धर्मो के ऊपर मानव-धर्म को प्रतिष्ठापित करने का उपदेश दिया। उन्होने सभी मतातरो के बाह्याडबरो की खरी आलोचना की और उनके माननेवालो को मिलजुलकर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी और इसी कारण वह अपने युग के प्रतिनिधि थे।

कबीर का व्यक्तित्व

भारतीय सतो मे कबीर का व्यक्तित्व अप्रतिम था। अपनी खोज मे, अपने दार्शनिक सिद्धान्तो को स्थिर करने मे, अपनी साधना का मार्ग बनाने मे, अपनी भक्ति-भावना का रूप स्थिर करने मे, अपने सिद्धान्तो के प्रचार करने के ढग में और अपने विचारो की अभिव्यक्ति मे वह सर्वथा मौलिक और स्वतत्र थे। उनकी रचनाओ को देखकर कुछ लोगो ने उन्हे समाज-सुधारक के रूप मे परखा है, कुछ ने उन्हे हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच एकता स्थापित करनेवाला घोषित किया है, कुछ ने उन्हे विभिन्न मत-मतातरो के बीच एक समन्वयकर्ता के रूप मे पाया है और कुछ ने उन्हे एक सप्रदाय के सस्थापक के रूप मे देखा है, परन्तु वह इनमे से कुछ भी नही थे। वह न तो किसी की विचार-धारा से प्रभावित हुए और न उन्होने किसी पर अपने विचारो का भार लादने की चेष्टा की। वह सबको धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए स्वतंत्र विचारक बनने की प्रेरणा देते रहे। यदि किसी ने उनकी प्रेरणा से लाभ उठाया तो ठीक, नही तो उनको बला से

कौन उनके मार्ग पर चलता है और कौन नही चलता, इसकी उन्होने कभी चिन्ता नही की। 'अपनी राह तू चलै कबीरा'—यही उनका आदर्श था और इसी आदर्श ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था।

कबीर की भक्ति का स्वरूप

कबीर ज्ञानी भक्त थे। उनकी भक्ति ज्ञान पर आश्रित थी। उनका विश्वास था कि पहले ज्ञान-द्वारा परमात्मा के सहज रूप का परिचय प्राप्त करना चाहिए और फिर उसकी भक्ति करनी चाहिए। आत्मा क्या है? आत्मा और परमात्मा के बीच क्या सबध है? और इस सबध मे माया-मोह का क्या स्थान है?—आदि प्रश्नो का सतोष-जनक उत्तर पाये बिना न तो परमात्मा के रूप की पहचान हो सकती है, न उसकी भक्ति की जा सकती है। अपने इस विश्वास के अनुसार कबीर ने स्वय सतत चिन्तन और अभ्यास किया। वेद और कुरान मे प्रतिपादित परमात्मा-सबंधी विचारो की उपेक्षा न करते हुए भी उन्होने अपने स्वतत्र चिन्तन का ही विश्वास किया और उसीके अनुरूप अपनी भक्ति-भावना का मार्ग निश्चित किया। वह पढे-लिखे नही थे। पुस्तकीय ज्ञान से उनका परिचय नही था। दूसरो के अर्जित ज्ञान को ही सत्य मानकर चलनेवाले वह नही थे। ज्ञान और भक्ति-भावना के क्षेत्र मे किसी की नकल करना उन्हे पसद नही था। ऐसा निर्लिप्त, उज्ज्वल और सपाट उनका व्यक्तित्व था और इस व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनकी भक्ति-भावना थी। इसमे शक नही कि वह विचार करते-करते उन्ही तथ्यो पर पहुँचे जिनका उल्लेख हमारे शास्त्रो और धार्मिक ग्रथो मे मिलता है, परन्तु उनकी खोज की दिशा सर्वथा अछूती थी और उनकी भक्ति-भावना उनके स्वतत्र विचारो का परिणाम थी। अपने स्वतत्र चिन्तन एव अभ्यास द्वारा उन्होने परमात्मा का जिस रूप मे परिचय प्राप्त किया, वह उनका अपना है। संक्षेप मे, उनकी भक्ति-भावना सर्वथा मौलिक, अछूती और आत्मचिन्तन एव स्वानुभूति का परिणाम है। ऐसी भक्ति-भावना वैयक्तिक होती है। कबीर वैयक्तिक भक्ति-भावना के आदर्श है। उनका कहना है कि ज्ञान के क्षेत्र मे जिसकी जैसी पहुँच होती है उसी के अनुसार उसे परमतत्व की उपलब्धि होती है। वेद और कुरान आदि मे परमतत्व के सबध मे

जो विचार व्यक्त किये गए हैं वे उनके रचयिताओ की सावना के अनुरूप सत्य हैं । वे असत्य नही है। झूठा वह है जो 'वेद कितेब कहूँ क्यों झूठा, झूठा जा न विचारै।'

कबीर के आध्यात्मिक विचार

सैद्धातिक दृष्टि से कबीर के आध्यात्मिक विचारो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है : (१) परमतत्व (२) जीवतत्व और (३) मायातत्व । परमतत्व को वह निराकार और साकार से परे मानते थे । उनका विश्वास था कि परब्रह्म त्रिगुणातीत है । वह न द्वैत है, न अद्वैत, निर्गुण है, न सगुण । सख्या और गुण की सीमाएँ उसे नही बाँध सकती । ब्रह्म के ऐसे अनिर्वचनीय रूप को समझना कठिन है । वह सबके लिए अगम है । कबीर ने अपने ऐसे परमतत्व को कही-कही माता, पिता, स्वामी और पति के रूप मे भी चित्रित किया है । उनके मतानुसार जीव उसी का अश है जो माया-मोह मे पडकर सासारिक बन जाता है । यह माया दो प्रकार की होती है (१) विद्या और (२) अविद्या, जिसके अतर्गत किये हुए कर्मो से जीव ईश्वर को ओर झुकता है और जिसके घेरे मे विवेक एव वैराग्य की क्रियाएँ पायी जाती है उसे विद्या-माया कहते है । इसके विरुद्ध जिसके घेरे मे काम, क्रोध आदि के वशीभूत होकर जीव कार्य करता है और अपने कृत-कर्मो से ससार मे बँधता चला जाता है उसे अविद्या-माया कहते है । अविद्या-माया से छुटकारा पाने के लिए विद्या माया का आश्रय लेना पडता है । इसकी सहायता से जब हृदय मे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब दोनो प्रकार की मायाओ का साधक के लिए ठीक उसी प्रकार कोई महत्व नही रहता जैसे पैर मे एक काँटा चुभ जाने पर उसे निकालने के लिए दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है, पर जब काँटा निकल जाता जाता है तब दोनो बेकार हो जाते हैं । कबीर ने अविद्या-माया की ही निन्दा की है और इससे बचने के लिए उन्होने 'सहज समाधि' की प्रतिष्ठा की है । मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने ओर उसे पूर्णत निर्विषय बनाने के लिए ही उन्होने इसका आदर्श प्रस्तुत किया है । इस दिशा मे वह अपनी अनुभूति से ही उत्प्रेरित है । वह मन को कृत्रिम उपायो, हठ योग आदि द्वारा निर्विषय बनाने के पक्ष मे नही है । वह 'राम-नाम' की साधना पर बल देते हैं । 'राम नाम योग' सहज

इसलिए है कि सासारिक कर्मो के करते हुए भी इसकी साधना की जा सकती है। कबीर स्वयं इसके उदाहरण है।

कबीर की काव्य-साधना

कबीर कवि नही, साधक थे। कविता को उन्होने अपनी साधना का एक अंग बनाया था। इसलिए उनका काव्य उनकी साधना का प्रतिबिब है। इस प्रतिबिब को देखकर किसी पारखी को उनके विषय मे धोखा नही हो सकता। वह धोखा देनेवाली बात ही नही करते थे। उनका ज्ञान उनकी अनुभूतियो का फल था। अपने अनुभव-जन्य ज्ञान के बल पर उन्होने जी खोलकर खुले शब्दो मे हिन्दू तथा मुसलमानो के धार्मिक जीवन के पाखण्ड की भर्त्सना की है। उनके कथन मे जो तीखापन है, जो उपालम्भ है, तीर की तरह चुभने की जो शक्ति है उसमे कबीर का अपनत्व है। वह किसी की भर्त्सना उसे नीचा दिखाने के लिए नही करते। वह प्रत्येक से सीधे-सादे, खुले शब्दो मे कहते है अपने आत्मविश्वास के कारण और इस उद्देश्य से कि उसमे जो अधार्मिकता आगयी है उससे उसका उद्धार हो जाय। वह अपने उद्धार के लिए भी अपनी खरी आलोचना करते है।

लेकिन हमे कबीर का कवित्व उनके प्रताड़ना के पदो मे देखने को नही मिलता। हमे मिलता है उनका कवित्व उन पदो मे जिन्हे वह अपनी मौज और अपनी तन्मयता मे रचा करते थे। उस समय उनकी कविता सनातन कवित्व का शृंगार होती थी। उनकी रहस्यवादी रचनाओ मे आत्मा की परमात्मा से मिलने की जो तड़प है, ससीम की असीम मे आत्मसात् होने की जो व्याकुलता है, असीम की सीमा को पाने के लिए जो आकुलता-व्याकुलता है वही उनके कवित्व की परख की कसौटी है। कबीर का रहस्यवादी काव्य किसी भी रहस्यवादी कवि की कविता से टक्कर ले सकता है। सयोग और वियोग के चित्रण मे कबीर किसी रहस्यवादी कवि से पीछे नही हैं।

इस प्रकार कबीर की कविता के मुख्यत तीन विषय हैं (१) प्रताड़न (२) उपदेश और (३) स्वानुभूति चित्रण। इन तीनो मे उन्हे अभूतपूर्व सफलता मिली हैं। वह प्रताड़न करते है, अधार्मिकता के लिए। परमात्मा की भक्ति मे जाति-पाँति का भेद, ऊँच-नीच का भाव, रूढिगत परम्पराओ का अनुसरण, मूर्ति-

पूजन, तिलक-छाप, रोजा-नमाज, योग की क्रियाएँ आदि के लिए फटकारना उनके संत-स्वभाव का द्योतक है। उनकी भर्त्सना मे चिढ या खीझ नही, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव है—

'दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय ॥'

* * *

'कनवा फराय जोगी जटवा बढौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैलै बकरा।
जगल जाय जोगी धुनियाँ रमौलै, काम जराय जोगी बन गैलै हिजरा ॥'

कबीर की उपदेश-सबधी रचनाओ मे जीवन की दार्शनिकता भरी हुई है। उनमे गुरु-महिमा, ईश्वर-महिमा, प्रेम-महिमा, सत्सग-महिमा, माया का फेर आदि का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है। इनसे जीवन मे उनकी गहरी पैठ का आभास हो जाता है। उनके कवित्व का भी आभास हमे उनकी ऐसी ही रचनाओ से मिलने लगता है। उनकी ऐसी रचनाएँ प्राय: उनके चिन्तन और मनन का परिणाम होती है, उनकी भक्ति का स्वरूप नही। देखिए—

'अरस परस कछु रूप-गुन, नहि तँह सख्या आहि।
कहै कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिये ताहि ॥'

* *

'साईं इतना दीजिये, जामैं कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥'

* *

'जब मै था तब गुरु नहीं, अब गुरु है हम नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ।।'

कबीर की कविता का तीसरा विषय है, उनकी स्वानुभूति। यही उनका सर्वप्रिय विषय है। उनके सभी धार्मिक तत्व, उनकी समस्त साधना, उनकी समस्त चिन्ता कविता का सहारा पाकर सहस्र मुख से मुखरित हो उठी है। काव्य को शास्त्रीय तुला पर तौलने से उसमे दोष अवश्य मिलते हैं, पर भावनाओ का तारतम्य, रूपको की योजना और स्वाभाविक अलकारों

की छटा उसमे स्वाभाविक रूप से मिलती है और ऐसा आभास होने लगता है कि वह उच्च कोटि के कवि है। जिस संत ने 'मसि कागज छुओ नही कलम गहो नहिं हाथ', उसकी वाणी सुनकर सहसा यह विश्वास नही होता कि वह काव्य-शास्त्र के ज्ञाता नही थे। उनका रहस्यवाद उच्च कोटि का काव्य है। प्रेम और विरह का चित्रण इन पँक्तियो मे देखिए —

'नैनो की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, पिया को लिया रिझाय॥'

* * *

'विरह कमंडल कर लिये, वैरागी दो नैन।
मागैं दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥'

वास्तविक अर्थ मे कबीर कवि नही थे। उनकी कोई स्थिर भाषा भी नही थी। उनका छन्द-ज्ञान भी अल्प था, अलंकार-शास्त्र के भी वह पंडित नही थे। पर उत्कृष्ट चिन्तन का अभूतपूर्व संयोग उनकी बानी मे अवश्य हुआ था। उनकी उक्तियो मे पाठकों को चमत्कृत कर देने की अभूतपूर्व क्षमता है। दाम्पत्य प्रेम की परिधि मे ही उनकी आध्यात्मिक प्रणय-भावना का विकास हुआ है। उनकी कविता मे हठयोग के सिद्धान्त भी मिलते हैं। निर्गुणवाद का सहारा लेकर उन्होने परोक्ष रूप से अपनी रचनाओं मे सगुणवाद के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार की है। इन बातो पर विचार करते हुए हम कह सकते है कि वह कवि न होकर भी कवि थे। हिन्दी के संत और ज्ञान-धारा के कवियो मे उनका स्थान सर्वोच्च है।

कबीर की शैली

कबीर की रचनाएँ मुक्तक है। मुक्तक दो प्रकार के होते है (१) प्रबन्ध मुक्तक और (२) भाव-मुक्तक। कबीर ने अधिकाश भाव मुक्तक ही लिखे है। भाव-मुक्तकों मे उनके साखी और पद अधिक महत्वपूर्ण है। राग-रागिनियो के अनुसार सुन्दर भावपूर्ण गेय पदो की रचना मे वह सूर के अग्रगण्य है। उनके अधिकाश गेय पद छोटे गम्भीर और सरस है। पिंगल के वह पंडित नही थे, इसलिए काव्य-शिल्प की दृष्टि से उनके गेय पदो और दोहो मे मात्रा की न्यूनता तथा पुनरुक्ति आदि

सबंधी दोष पाये जाते है और इस कारण उनमे शिथिलता भी आ गयी है, पर वे अपना भाव व्यक्त करने मे सफल है। उन्होने तुकान्त और अतुकान्त दोनो तरह के छन्दो का प्रयोग किया है। उनके कुछ ऐसे भी छन्द मिलते हैं जिनका देहातो मे प्रचलन है।

कबीर अपनी भाषा-शैली मे सजग है। व्यक्ति और विषय के अनुसार वह अपनी भाषा का रूप बदलते रहते है। पडितो से वेदान्त-सबधी बाते कहते हुए वह पडितो की-सी भाषा का प्रयोग करते है और मुसलमानो से इस्लाम-धर्म-सबंधी बाते करते समय वह फारसी-अरबी के शब्दो से प्रभावित भाषा का प्रयोग करते है। इससे उनकी कथन-शैली मे स्वाभाविकता आ गई है और वह अत्यन्त सजीव हो उठी है।

कबीर की तर्क-शैली विचित्र है। वह अशास्त्रीय ढग से तर्क करते है। तर्क करने की शास्त्रीय पद्धति से अनभिज्ञ होने के कारण उनके तर्को मे न तो गम्भीरता है, न सरसता। वह लठमार तर्क करते है, परन्तु वह जो कुछ कहते है, आत्मविश्वास के साथ कहते है। उनके लठमार तर्क के आगे बड़े-बड़े पडित और मुल्ला निरुत्तर हो जाते है। जीवन मे पाखड के वह इतने अधिक विरोधी है कि वह उस पर सीधी चोट करते है। उनके कथन मे न तो वक्रता है, न खीज। वह स्पष्ट वक्ता, खरे आलोचक स्वतन्त्र विचारक और निर्भीक उपदेशक है। जैसे वातावरण मे उन्होने जन्म लिया और जिस कोटि के लोगो को उन्होने उपदेश दिया उनकी योग्यता के अनुसार इनके तर्क लठमार होते हुए भी सटीक, उचित और प्रभावशाली है।

कबीर की रचनाओ मे रस और अलकार की भी सुन्दर योजना मिलती है। रसो मे शान्त, अद्भुत और शृंगार के दोनो पक्ष—सयोग और वियोग के परिपाक मे वह सफल है। अलकारो मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण अन्योक्ति आदि प्रमुख है। इनके बाज-बाज रूपक अत्यन्त उच्चकोटि के है। उनकी उलटबाँसियो मे भी पर्याप्त चमत्कार है।

कबीर की भाषा

कबीर बहुश्रुत सत थे। भारत के विविध प्रान्तो के साधको से उनका

सत्सगत होता रहता था । इसलिए उनकी भाषा उनकी अपनी भाषा नही रह पाती थी । वह जो पद गाते अथवा जो उपदेश देते थे उसमे अवधी ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पूर्वी हिन्दी, सस्कृत, फारसी, अरबी, राजस्थानी, पजाबी, गुजराती आदि भाषाओ के शब्द अपना स्थान बना लेते थे । वह भाषा के शब्द-पारखी नही थे । भाषा का कोई साहित्यिक रूप भी उनके सामने नही था । ऐसी स्थिति मे उनकी भाषा को किसी ने 'सधुक्कडी' कहा है और किसी ने 'पचमेल खिचड़ी' । स्वय कबीर कहते है—'बोली मेरी पुरुब की' । इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होने पूर्वी हिन्दी मे रचना की है । वह काशी के रहनेवाले थे । भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियो से उनका परिचय भी था । इसलिए पूर्वी बोलियो मे उनकी रचनाओ का मिलना आश्चर्यजनक नही है । उनकी अधिकाश रचनाएँ ऐसी हैं भी । उदाहरण लीजिए

'अँधियरवा में ठाढ़ि गोरी, का करलू ।
जब लगि तेल दिया मे बाती, पही उजियरवाँ बिछाय घलतू ।।
मन का पलग, सतोष बिछौना, ज्ञान का तकिया लगाय रखतू ।'

परन्तु कबीर की भाषा का यह रूप सर्वत्र नही है इस भाषा पर राजस्थानी और पजाबी का यथेष्ट प्रभाव है । उदाहरण के लिए निम्न दोहे लीजिए—

'ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ ।
आपन मन सीतल करै, औरन को सुख होई ।।'

*　　　*　　　*

'हरिजी यहै विचारिया, साखा कहै कबीर ।
भवसागर मे जीव हैं, जे कोइ पकडै तीर ।।'

*　　　*　　　*

'कबीर सगत साधु की कदे न निष्फल होय ।
चदन होसी बावना नीम न कहसी कोय ।।'

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि कबीर की रचनाओ मे पजाबी और राजस्थानी भाषाओ के कुछ शब्दो, क्रियाओ और कारको के प्रयोग मिलते है, परन्तु उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमे इनका अत्यधिक प्रयोग मिलता है और वह भी किसी निश्चित क्रम से नही । इससे उनकी रचनाएँ कुछ बेतुकी-सी

हो गई है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कबीर पढ़े-लिखे नही थे। उनके शिष्य-प्रशिष्य उनकी बानियो को लिखित रूप देते थे। इसलिए वे उनकी भाषा मे अपनी बोली के शब्दो का घाल-मेल कर देते थे। यही कारण है कि हमे कबीर की रचनाओ मे उनकी भाषा के विविध रूप देखने को मिलते है। यदि हम उस घाल-मेल को पहचान कर कबीर की भाषा को कबीर की शैली के अनुसार शुद्ध रूप दे सके तो हमे ज्ञात होगा कि उनकी भाषा न तो 'सधुक्कडी' है और न 'पचमेल खिचडी'। उनकी भाषा पन्द्रहवी शताब्दी की वह भाषा है जो उत्तरी भारत मे एक छोर से दूसरे छोर तक बोली और समझी जाती थी। उस समय की इस भाषा को कुछ आलोचको ने 'सामान्य भाषा' कहा है। इसलिए हम कबीर की भाषा को भी 'सामान्य भाषा' मानते हैं। उसमें फारसी, अरबी, राजस्थानी, पजाबी, बिहारी, अवधी, भोजपुरी, खड़ीबोली, संस्कृत—सबके चलतू शब्दों का मेल है। यह सच है कि ऐसी भाषा को हम साहित्यिक भाषा नही कह सकते, परन्तु फिर भी कबीर ने उस भाषा को अपनी रचनाओ मे स्थान देकर उसे साहित्यिक भाषा बनाने की पूरी चेष्टा की है और अपनी इस चेष्टा मे वह सफल हुए है। भाषा-निर्माण उनका उद्देश्य नही था और वह ऐसी धृष्टता कर भी नही सकते थे, परन्तु उन्होने जिस भाषा को अपनाया वह उनकी प्रतिभा का स्पर्श पाकर अवश्य चमकउठा है और भावी सतो की भावाभिव्यक्ति के लिए आकर्षक माध्यम बन गई है।

---

२ : मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म-स० १५२० मृत्यु-स० १५९९

जीवन-परिचय

मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म रायबरेली जिले के जायस नामक ग्राम में लगभग सं० १५२० मे हुआ था। जायस मे रहने के कारण वह 'जायसी' कहलाने लगे। 'मलिक' उनकी पैतृक उपाधि थी। कहा जाता है कि ७ वर्ष की

अवस्था में शीतला के प्रकोप से उनकी बाईं आँख जाती रही थी और एक कान भी बहरा हो गया था। उनके चेहरे पर शीतला के चिह्न भी अंकित हो गए थे। इससे वह कुरूप भी हो गए थे। अपनी पुस्तक मे उन्होने अपनी कुरूपता का वर्णन बडे गर्व से किया है और शंकराचार्य से अपनी तुलना की है।

जायसी के माता-पिता उनकी बाल्यावस्था मे ही मर गए थे। इसलिए वह साधु-संतों के साथ रहने लगे। उनकी शिक्षा कब और किस प्रकार हुई, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, परन्तु इसमे सन्देह नही कि उन्हे हिन्दी-काव्य-शास्त्र तथा हिन्दू-धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो का पर्याप्त ज्ञान था। हठयोग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष आदि की बहुत-सी बातें उन्होने हिन्दू साधु-संतो के सत्संग से ही सीखी थी। कुरान मे उनका अटल विश्वास था, परन्तु अन्य धर्मो की ओर वह आदर की दृष्टि से देखते थे। सूफी मत की ओर उनका विशेष झुकाव था। चिश्तिया सप्रदाय के कालपी वाले शेख मुहीउद्दीन उनके गुरु थे।

जायसी अपने समय के बड़े सिद्ध पुरुष थे। उन्हे लोग पहुँचा हुआ पीर मानते थे। उनके बहुत से शिष्य थे। परम्परा से प्रसिद्ध है कि उनका एक शिष्य अवध अमेठी के राज्य मे जाकर उनका 'नागमती का बारहमासा' गाकर घर-घर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी-नरेश ने उसे बुलाकर वह बारहमासा सुना और उससे उसके रचयिता का नाम पूछा। शिष्य ने जायसी का नाम बता दिया। जायसी का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मानपूर्वक उन्हे अपने यहाँ बुलाया। तब से मलिक मुहम्मद जायसी अमेठी मे रहने लगे। अमेठी के मँगरा वन मे वह रहते थे। कहा जाता कि एक बार उन्होने अमेठी के राजा से कहा कि मै योग-बल से अन्य पशुओ के रूप धारण कर लिया करता हूँ। राजा ने उनकी बात का विश्वास करके मँगरा वन के आस-पास शिकार की मनाही कर दी। दैवयोग से एक दिन एक शिकारी उस वन मे आ पहुँचा। उसे उस वन मे एक बाघ की गरज सुनायी दी। उसने आवाज सुनते ही आत्म-रक्षा के लिए गोली चला दी और जब पास जाकर देखा तब बाघ के स्थान पर उसे जायसी का मृतक शरीर मिला। अमेठी के राजा ने वही उनकी समाधि बनवा दी जो अबतक वर्तमान है। इस किंवदन्ती के अनुसार उनकी मृत्यु सं० १५९९ मे मानी जाती है।

जायसी की रचनाएँ

जायसी २१ ग्रन्थो के रचयिता माने जाने है, परन्तु अबवक उनकी केवल पाँच कृतियाँ उपलब्ध हो सकी है (१) पद्मावत, (२) अखरावट, (३) आखिरी कलाम, (४) कहरनामा अथवा महरीबाईसी और (५) चित्ररेखा। इनमे से पद्मावत महाकाव्य है। यह एक प्रेमाख्यान है। यद्यपि इसकी रचना प्रबन्ध-काव्यो की सर्गबद्ध पद्धति के अनुसार न होकर फारसी की मसनवी-शैली के अनुसार की गई है, वथापि रसो के वर्णन मे लेखक ने भारतीय काव्य-शैली का ही अनुसरण किया है। इसकी कथा के दो भाग है . (१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। चित्तौड के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी के विवाह-सबध की कथा पूर्वार्द्ध और अलाउद्दीन के साथ संघर्ष की कथा उत्तरार्द्ध मे आती है। इन दोनो को जायसी ने एक मे गूँथकर जो कथा तैयार की है उसमे लोक-पक्ष और अध्यात्म-पक्ष, दोनो का अभूतपूर्व समन्वय है। अध्यात्म-पक्ष की दृष्टि से रत्नसेन साधक, पद्मावती साध्य, हीरामन तोता गुरु और नागमती आदि माया के प्रतीक है।

'अखरावट' मे दो प्रकार के पद्य है एक वो वे जो अक्षरो के क्रम के अनुसार रचे गए है, दूसरे वे जिनका अक्षरो के क्रम से कोई सबध नही है। इन पदो मे गुरु-चेला सवाद की प्रधानता है। 'आखिरी कलाम' मे जायसी ने पहले वो ईश्वर की स्तुति की है और फिर आत्म-परिचय देते हुए मुहम्मद साहब और गुरु की स्तुति के साथ प्रलय का दृश्य चित्रित किया है। 'चित्ररेखा' इन सबसे भिन्न रचना है। यह शोध-द्वारा प्राप्त उनका प्रेम-काव्य है। इसकी विशेषवा यह है कि इसमे कही भी सूफी भावना का प्रवेश नही किया गया है। इसलिए यह आदि से अन्त वक साहित्यिक रचना है। इसमे भी मसनवी-पद्धति का आश्रय लिया गया है। आरभ मे समस्त जगत के करतार की वन्दना की गई है। चाँद, सूरज, मेघ, आदि सभी उसके सकेत पर नर्तन करते है। इसके बाद मुहम्मद-स्तवन है और हजरत नवी रसूल की स्तुति और चारो यार की प्रशसा है। फिर पीर परपरा, गुरु-परपरा तथा आत्म-निवेदन के साथ कहानी आरभ होती है। इस प्रेम कहानी का सदेश है—

'दई आन उपराजा, सोग मोंह सुख-भोग।
अवस ते मिलै बिछोही, जिन्ह हिय होय वियोग।'

जायसी का अध्यात्म-चितन

जायसी उच्च कोटि के सूफी-साधक थे। उनका हृदय पूत भावनाओ और प्रेम की पीर से भरा हुआ था। क्या लोक-पक्ष मे और क्या भाव-पक्ष मे, दोनो ओर उनकी समदृष्टि थी। मुसलमान फकीरो की एक प्रसिद्ध गद्दी की शिष्य-परम्परा मे होते हुए भी उनके धार्मिक विचार अत्यन्त उदार थे। विधि पर उनकी पूरी आस्था थी। इस्लाम-धर्म के वह पक्के अनुयायी थे और उसका प्रचार करना वह अपना परम कर्तव्य समझते थे। पर ऐसा करने मे उन्होने किसी धर्म की निन्दा नही की। अपनी साधना को सफल एवं जन-सुलभ बनाने के लिए उन्होने सब धर्मो से कुछ-न-कुछ अवश्य लिया है और उस पर अपनी साधना की छाप अंकित की है। गुरु के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी। साधना के क्षेत्र मे वह गुरु के महत्व को स्वीकार करते थे। उपासना के क्षेत्र मे वह ईश्वर के निर्गुण रूप के उपासक थे, पर सूफी होने के कारण उनकी उपासना मे साकारोपासना की-सी सहृदयता भी थी। वह परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य अनन्त शक्ति और अनन्त गुणो का सागर मानते थे। वह एकेश्वरवादी थे, पर उन पर अद्वैतवाद, वेदान्त, योग आदि का भी प्रभाव था। इसका कारण था, तत्कालीन भक्तिवाद। हिंदुओ का भक्तिवाद सूफी-साधना के अनुकूल था।

सूफी-साधना के अनुसार साधक की जो चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं उन्हे (१) शरीयत, (२) तरीकत, (३) हकीकत और (४) मारफत कहते है। 'पद्मावत' मे इनका वर्णन किया गया है। रत्नसेन का योगी होकर निकल पडना 'शरीयत' अर्थात् नियमो का पालन करना है। इन्द्रियो का दमन करना और कलब (आत्मा) की शुद्धि करना 'तरीकत' है। इसके पश्चात् सत्य का बोध होना 'हकीकत' और फिर चिर आनन्द की प्राप्ति सिद्धावस्था अर्थात् 'मारफत' है। सूफी-साधक "खुदा के नूर को हुस्ने बुताँ के परदे' मे देखा करते है। उनके अनुसार इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) इश्क हकीकी (अलौकिक प्रेम) की प्रथम अवस्था है। इसीलिए सूफी-कवि रूप का बड़े चाव से वर्णन करते है। प्रेम को वे एक पवित्र वस्तु मानते है। प्रेम के दो रूप माने गए है . (१) सम और (२) विषम। भारतीय काव्य में प्रेम के सम रूप का ही चित्रण हुआ है। दुष्यन्त और शकुतला तथा

राम और सीता के बीच उत्पन्न होनेवाला प्रेम सम है। सीता को राम उतने ही प्रिय है जितनी राम को सीता। भारतीय सस्कृति मे इसी प्रकार के प्रेम को महत्व दिया गया है। परन्तु इस्लामी-सस्कृति मे प्रेम के वैषम्य पर अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार के प्रेम मे प्रेमी तड़पता और आहे भरता है, प्रिय तटस्थ रहता है। जायसी ने प्रेम के इसी रूप का अपनाया है। इसीलिए उनके काव्य मे 'प्रेम की पीर' का चित्रण बड़े स्वाभाविक ढग से हुआ है।

जायसी की काव्य-साधना

जायसी हिन्दी सूफी-कवियो मे सर्वोच्च है। अपनी धर्म-भावना के अनुरूप ही उन्होंने अपनी काव्य-साधना का मार्ग निश्चित किया है। सूफी-साधना प्रेम की साधना है। इस साधना का साधक लौकिक-प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर होता है। इसका आधार है—वियोग। सूफी मानते है कि वे अपने प्रिय ईश्वर से बिछुड़ गए है। इसीलिए अपने प्रिय के वियोग मे वे तड़पा करते है। इसी तड़पन मे उनकी साधना सफल होती है। लौकिक क्षेत्र मे उनका जो प्रिय रहता है वही अध्यात्म के क्षेत्र मे उनका साध्य बन जाता है। जायसी भी इसी प्रकार के साधक है। विशेषता यह है कि वह साधक होने के साथ-साथ महाकवि भी हैं। 'पद्मावत' उनका महाकाव्य है। इसमे उन्होने भारतीय कथानक के आधार पर 'प्रेम की पीर' का चित्रण बड़े कौशल से किया है। 'प्रेम की पीर' ने ही उनके काव्य को जन्म दिया है और उन्हे सफल महाकवि बनाया है। 'नागमती' के विरह-वर्णन मे उनके 'प्रेम की पीर' का जो आभास पाठक को मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमे इतनी तन्मयता, इतनी तीव्रता और इतना प्रवाह है कि पाठक का हृदय उस विरहिणी के स्वर मे अपना स्वर मिला देता है। पाठक ही क्यो, सारी प्रकृति हो उस वियोगिनी के प्रति सवेदनशील हो उठी है। इस प्रकार मानवीय भावो तथा अवस्थाओ का सृष्टि के साथ सामजस्य स्थापित कर जायसी ने अपने उत्कृष्ट काव्य-कला का परिचय दिया है। 'नागमती' का विरह-वर्णन वेदना से भरे हुए हृदय का अति द्रावक चित्र है। प्रकृति की सवेदनाशीलता और सहानुभूति उनके बारह-मासा-वर्णन तथा नख-शिख-वर्णन में भी वर्तमान है। इस दृष्टि से जायसी 'छायावाद' के बहुत निकट पहुँच गए है।

भाव-चित्रण के अतिरिक्त जायसी का दृश्य-चित्रण भी अत्यन्त सफल है। उन्होने दृश्य-चित्रण के साथ-साथ तत्सम्बन्धी भावो को भी अपने वर्णन मे स्थान दिया है। जिन दृश्यो का माधुर्य भारतीय हृदय पर चिरकाल से अंकित है उसका समावेश भी उन्होने अपनी रचना मे किया है। वन, उपवन, हाट इत्यादि का जो वर्णन उनकी रचनाओ मे मिलता है वह इसी दृष्टिकोण को लेकर हुआ है। उनके इस प्रकार के वर्णनो पर फारसी कविता का अधिक प्रभाव है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जायसी का दृष्टिकोण सकुचित नही है। उनके पात्र प्रेम को अपने जीवन का आदर्श मानते हुए भी ईर्ष्या, स्वाभिमान और स्वधर्म के प्रति जागरूक है। अधिकाश पात्र आदर्श है। राघवचेतन और अलाउद्दीन खल पात्र है। मुस्लिम सभ्यता के प्रभाव के कारण रत्नसेन के चरित्र-विकास मे बाधा भी पडी है। नारद और हनुमान का परिहासपूर्ण चित्रण उनकी भारतीय सस्कृति-संबधी अल्पज्ञता का सूचक है।

जायसी ने सूक्तियाँ भी कही है। उनकी सूक्तियाँ बडी मधुर और व्यजक है और उनमे चमत्कार के साथ-साथ भावुकता भी पायी जाती है। उन्होने जन-समाज मे स्वीकृत साधारण तथ्यो को जिस अनूठे ढग से पाठको के सामने रखा है उसमे भी उन्हे सफलता मिली है। वह कहते है—

'भोर होई जौ लागै, उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैन कै, कागहि केर अभाग॥'

* * *

'जग महँ कठिन खडग कै धारा। तेहि से अधिक विरह कै झारा॥'

सक्षेप मे जायसी के पद्मावत की निम्न विशेषताएँ है—

(१) यह घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य है और मसनावियो के ढग पर लिखा गया है। इसके आरम्भ मे खुदा, रसूल, गुरु और तत्कालीन बादशाह की वन्दना की गई है। इसमे सर्गो का विधान नही है। सर्गो के स्थान पर घटनाओ के अनु-सार शीर्षक दिए गए है।

(२) इसकी भाषा अवधी है और यह दोहा-चौपाइयो मे लिखा गया है।

(३) यह प्रेम-गाथा काव्य है जिसमे मुसलमानी सस्कृति के साथ-साथ हिंदू-संस्कृति का भी समन्वय बडी सुन्दरता से किया गया है ।

(४) इसमे लौकिक प्रेम के चित्रण के आधार पर सूफी-मत की आध्यात्मिक-साधना की व्यंजना की गई है ।

(५) प्रबन्ध काव्य होते हुए भी इसमे वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भावो को अधिक प्रधानता दी गई है ।

(६) इसमे प्रेम के विषम रूप की बडी ही सुन्दर अभिव्यजना हुई है । रसो मे श्रृंगार प्रमुख है । इसके अतिरिक्त शान्त, करुण, अद्भुत, बीभत्स, रौद्र, भयानक, वात्सल्य आदि रस भी पाए जाते है ।

इन विशेषताओ के साथ-साथ कुछ दोष भी है । इसमे पुनरुक्तियाँ अधिक है जिनसे कभी-कभी जी ऊब जाता है । इसमे अनावश्यक पाडित्य-प्रदर्शन का भी अधिक अनुरोध है । इससे लम्बे वर्णनो मे बाधा पड गई है और कथानक शिथिल हो गया है । इसमे फारसी-काव्य के प्रभाव से अत्युक्ति भी अत्यधिक है । साथ ही यह भी देखने मे आता है कि जायसी को हिन्दी-व्याकरण का अच्छा ज्ञान नही है और वह हिन्दू-कथाओ से भी भली भाति परिचित नही है ।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेम-मार्गी सूफी-कवियो मे जायसी सर्वोपरि और अग्रगण्य है । कल्पना तथा इतिहास के सुन्दर सम्मिश्रण से उन्होने जिस कथा-काव्य का निर्माण किया है वह हिन्दी साहित्य मे गर्व की वस्तु है । चित्तौड और पद्मावती के प्रति हिन्दू-जनता की जो आस्था रही है उसका वर्णन जब हम आतवायी युग के एक मुसलमान कवि के मुख से सुनते है तब हम आत्म-विभोर हो जाते है । जायसी ने मुसलमान होकर भी हिन्दुओ की चलती कथाओ का आश्रय लिया है और उनमे पतिपरायण हिंदू नारी का पूत आदर्श, राजपूतो का शौर्य, क्षात्रधर्म, त्याग, प्रेम, विरह, सौंदर्य, श्रृंगार आदि का सफलतापूर्वक चित्रण किया है । 'प्रेम की पीर' को मानव-हृदय मे जगा देने की उनमे अद्भुत क्षमता है । सूफी रहस्यवादी काव्य मे जिस प्रेम की पीर का महत्व है, उससे वह भली भाति परिचित हैं ।

जायसी की शैली

जायसी की शैली उनकी अपनी शैली है। वह अपनी बात अपने ढङ्ग से कहते है। काव्य-क्षेत्र मे उनका उद्देश्य जीवन की मार्मिक अनुभूतियो का चित्रण कर किसी आदर्श की स्थापना करना नही है। यह सच है कि उनकी रचनाओ मे एक सुन्दर काव्य की सभी विशेषताएँ पाई जाती है, फिर भी उनकी दृष्टि मे उनके काव्य का महत्व कुछ और ही है और वह है भारतीय जनता मे बहुश्रुत कथाओ का काव्य-विषय बनाकर सूफी सिद्धान्ता का प्रचार करना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने जो कथा चुनी है उसमे उनका सब कुछ आ गया है। पद्मावती, रत्नसेन आदि हमारे लिए प्रेमी पात्र हो सकते है, पर उनके लिए वे सूफी-साधक है। उनके इस काव्यगत दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुये हम उनकी काव्य-शैली को प्रतीकात्मक शैली कह सकते है। इस शैली के अन्तर्गत हो उनकी रहस्य-भावना का विकास हुआ है। वर्णित विषय को दृष्टि से उनकी शैली वर्णनात्मक है जो कल्पना और भाव प्रधान होने के कारण अत्यन्त सजीव, सरस और प्रभावोत्पादक है।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि से जायसी की शैली आलकारिक है। सादृश्य-मूलक अलकारो का उन्होने अधिक प्रयोग किया है। यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टात, समासोक्ति, विभावना, अन्योक्ति, भ्रम, विरोधाभास, परिपराकुर आदि के उदाहरण उनकी भाषा एव भाव-व्यजना का सौदर्य बढाने मे समर्थ है। जायसी ने शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालंकारो का ही अधिक प्रयोग किया है। उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ को अनेक बार दुहराने पर भी उन्होने उनकी सजीवता और नवीनता का पूरा ध्यान रखा है। रसो मे शृगार मुख्य है। शृगार के दोनो पक्षो का उन्होने सजीव चित्रण किया है, पर संयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रण मे ही उनके काव्य का सौन्दर्य विशेष रूप से झलका है। वियोग-वर्णन मे वह हिन्दी के अद्वितीय कवि है। नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी-काव्य की स्थायी सम्पत्ति है। शृगार के अतिरिक्त शान्त, वीभत्स, वीर, रौद्र, करुण आदि रसो के भी अच्छे उदाहरण मिलते है।

उक्त विशेषताओ के साथ जायसी की शैली मे कई दोष भी मिलते हैं। जायसी

को छन्द-शास्त्र का कम ज्ञान है। दोहा और चौपाई पिंगल-शास्त्र के सरलतम छन्द है, पर उन्होने इन छन्दो के निर्माण मे भी भद्दी भूले की है। इसके अतिरिक्त उनके वस्तु-वर्णन मे आवश्यकता से अधिक विस्तार आ जाने के कारण कथा के प्रवाह पर आघात पहुँचा है। अत्युक्तियो तथा पुनरुक्तियो की भरमार, मुहावरो का अशुद्ध प्रयोग, पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा तथा शब्दो के व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग ऐसे दोष है जो उनकी भाषा-शैली के प्रभाव को शिथिल कर देते है।

जायसी की भाषा

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी के दो रूप है (१) पूर्वी और (२) पश्चिमी। जायसी ने अवधी के पूर्वी रूप को ही अपनाया है, पर कही-कही पश्चिमी अवधी के रूप भी उनकी रचनाओं मे मिलते है। वह 'तू' या 'तैं' के स्थान पर प्राय 'तुइँ' का प्रयोग करते है। यह कनौजी और पश्चिमी अवधी का रूप है। इसी प्रकार उनकी साधारण क्रियाएँ भी पश्चिमी अवधी से प्रभावित है। उन्होने कही-कही बहुत पुराने अप्रचलित शब्दो और रूपो को भी स्थान दिया है। उनकी रचनाओ मे दिनअर, ससहर, भुवाल, विसहर आदि का प्रयोग भी मिलता है। ये शब्द प्राकृत की सज्ञाएँ हैं। ब्रजभाषा के ऐसे शब्द जो अवधी-प्रदेश में भी प्रयुक्त होते है उनकी भाषा मे मिल जाते है। इन प्रयोगो के कारण उनकी भाषा कुछ अव्यवस्थित-सी हो गई है, पर वह अधिक सरस है। चरणो की पूर्ति के लिए अर्थ-सम्बन्ध और व्याकरण-सम्बन्ध-रहित शब्दो की भरती उन्होंने कही नही की है। कुछ शब्द व्याकरण-विरुद्ध अवश्य हैं, पर उनका कोई वाक्य असयत और शिथिल नही है। उसमे न्यून पदत्व दोष अवश्य है। उनके वाक्यो मे विभक्तियो, सम्बन्धवाचक सर्वनामो और अव्ययो का लोप भी खटकता है। इस प्रकार के लोप से अर्थ-सिद्धि मे बाधा भी पहुँची है। शब्दो की तोड़-मरोड़ उनकी रचनाओ में नही है। उनकी भाषा बोलचाल की और सीधी-सादी है। समस्त पदो का व्यवहार उन्होने बहुत कम किया है। फारसी का प्रभाव भी उनकी भाषा पर नही के बराबर है। इससे उनकी भाषा मे स्वाभाविक माधुर्य स्थायी रूप से मिलता है। उन्होने अपनी भाषा मे लोकोक्तियो और मुहावरो को भी स्थान दिया है और उनका प्रयोग भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के अनुसार ही किया है।

३ : भक्त सूरदास

जन्म-स० १५३५ मृत्यु स० १६४८

जीवन-परिचय

'निजवार्ता' के अनुसार सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ६, स० १५३५ को माना जाता है और उनकी जन्म-भूमि रुनकुता ग्राम बताई जाती है। यह स्थान आगरा से मथुरा जानेवाली सडक पर स्थित है। कुछ लोग दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम को भी उनकी जन्म-भूमि मानते है। इसी प्रकार कुछ लोग उन्हे सारस्वत ब्राह्मण कहते है और कुछ लोग 'साहित्य-लहरी' वाले सूर के स्ववंश-परिचायक पद के आधार पर उन्हे चद्र भट्ट का वशज ब्रह्मभट्ट स्वीकार करते है। 'भविष्य पुराण' के रचयिता ने भी उन्हे चन्द्र भट्ट का वशज माना है। भट्टो का एक वर्ग आज तक अपने को सारस्वत ही कहता है। 'साहित्य-लहरी' के पद से यह भी ज्ञात होता है कि वह ब्रजवासी बाबा रामदास के सात पुत्रो मे सबसे छोटे थे। उनका प्रारम्भिक जीवन आरम्भ से ही अत्यन्त कष्टमय था। इसलिए वह धीरे-धीरे अध्यात्म की ओर झुकते गये। सगीत प्रेमी थे ही, सतो की शैली मे भजन बनाकर गाने और कीर्तन करने लगे। कालातर में उन्होने वैष्णव-धर्म मे दीक्षा ले ली और रुनकुता (रेणुका क्षेत्र) के समीप गऊघाट पर साधु-जीवन व्यतीत करने लगे। यही स० १५७६ के आस-पास महाप्रभु वल्लभाचार्य (स० १५३५-८७) से उनकी भेंट हुई। उस समय उन्होने स्वामीजी को स्वरचित एक पद गाकर सुनाया। वह पद स्वामीजी को बहुत पसन्द आया। उन्होने सूर को अपने धर्म मे दीक्षित किया और उन्हे श्रीमद्‌भागवत की कथाओ को सुललित गेय पदो मे रूपान्तरित करने का आदेश देकर श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा का भार भी उनको सौंप दिया। उस समय से वह श्रीकृष्ण की पावन लीलाओ का गुणगान करने लगे।

सूरदासजी अंधे थे, पर वह जन्माध नही थे। उनके अधे होने के सम्बन्ध मे जो जनश्रुति प्रचलित है उसपर सहसा विश्वास नही होता। यह भी कहा जाता

है कि अन्धे होने पर वह एक बार एक कुएँ मे गिर गए थे और छ: दिन तक उसी मे पडे रहे। सातवें दिन उन्हे किसी ने निकाला। अपने रक्षक को कृष्ण भगवान् समझकर उन्होने उसका हाथ पकड लिया, पर वह हाथ छुड़ाकर भाग खडे हुये। इस पर उन्होने यह दोहा कहा —

'बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि के मोहिं।
हिरदै ते जब जाहुगे, सबल बखानौ तोहिं॥'

सूरदास की मृत्यु महाप्रभु वल्लभाचार्य के सुयोग्य पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ (सं० १५७२-१६४४) की उपस्थिति मे पारसाली नामक ग्राम मे हुई। वह अपने अन्तिम समय तक अपने पद गाते रहे और इस प्रकार सवत् १६४० के लगभग उन्होने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

सूर की रचनाएँ

सूरदास-कृत पाच ग्रंथ बताए जाते है (१) सूर-सागर, (२) सूर-सारावली, (३) साहित्य-लहरी, (४) नल दमयन्ती और (५) ब्याहलो। इनमे से पिछले दो ग्रथ अप्राप्य है और उनके सूर-कृत हाने मे भी सन्देह है। इस प्रकार उनके तीन ग्रंथ रह जाते है (१) सूर-सागर, (२) सूर सारावली (स० १६०५) और (३) साहित्य-लहरी(स० १६०७। 'सूर-सारावली' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर 'सूर-सागर' की अनुक्रमणिका-मात्र है। 'साहित्य-लहरी' एक शास्त्रीय ग्रथ है। इसमे रस, अलंकार और नायिका-भेद का वर्णन है। 'दृष्टिकूट' के पद भी इसमे मिलते हैं। 'सूर-सागर' मे कृष्ण-लीला सम्बन्धी ४०३२ पद सगृहीत है। कृष्ण-लीला के दो रूप है. (१) ब्रज-लीला और (२) द्वारिका-लीला। 'सूर-सागर' मे 'ब्रज-लीला' के ३४९४ और शेष 'द्वारिका-लीला' के पद है। इन सभी पदो मे कृष्ण के भागवत वाले रूप का चित्रण हुआ है।

सूर की भक्ति का स्वरूप

सूरदास उच्च कोटि के भक्त थे। उनके इष्टदेव थे, बालकृष्ण। बालकृष्ण की भक्ति मे उनका अटूट विश्वास था। 'सूर-सागर' के दशम स्कन्ध मे उन्होने रामावतार की कथा का जो वर्णन किया है, उस ओर उनका विशेष आकर्षण नही है। पर अपनी कृष्ण-कथा मे वह एक सच्चे भक्त के रूप मे हमारे सामने आते है।

उनकी भक्ति-भावना पर स्वामी वल्लभाचार्य के 'पुष्टि-मार्ग' का प्रभाव है। वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत है। इसके अनुसार जीव और प्रकृति—दोनो ही ईश्वर के रूप है, मेरा-तेरापन ससार (माया) है और जगत का आविर्भाव ईश्वर की शाश्वत लीला है। यह है सक्षेप मे शुद्धाद्वैत का दार्शनिक पक्ष। इसके भक्ति पक्ष के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। लीला करने की इच्छा से ही उन्होने जगत की उत्पत्ति की है। इसलिए पुष्टि-मार्ग मे हरि-लीला का ही विशेष महत्व है। इस हरि-लीला का प्रमुख अङ्ग रास-लीला है। रास-लीला श्रीकृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्धित है। पुष्टि-मार्ग मे हरि-लीला के श्रवण, कीर्तन और स्मरण द्वारा श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करना ही प्रमुख है। इसीलिए सूर ने 'सूर-सागर' मे हरि-लीला का वर्णन किया है। उनके इस प्रकार के वर्णन मे दास्य, सख्य, आत्म निवेदन और आत्म-समर्पण के जो भाव सजग हो उठे है वे उन्हे हरि-लीला मे सम्मिलित गोप-गोपिकाओ से ही प्राप्त हुए है और वही उनकी भक्ति-भावना के सबल आधार हैं।

सूर की भक्ति का विकास दो रूपो मे हुआ है (१) दास-भाव की भक्ति के रूप मे और (२) सखा-भाव की भक्ति के रूप मे। दास-भाव की भक्ति के रूप में उन्होने अपनी दो प्रकार की अनुभूतियो का चित्रण किया है (१) आत्म-निवेदन-सम्बन्धी अनुभूतियाँ और (२) आत्म-समर्पण-सम्बन्धी अनुभूतियाँ। इन दोनो प्रकार की अनुभूतियो के चित्रण मे वह संत-कवियो की शैली से प्रभावित है। पर सखा-भाव के चित्रण की शैली इससे सर्वथा भिन्न है। यह सूर की अपनी शैली है। इसके अन्तर्गत हरि-लीला का वर्णन है। हरि-लीला के वर्णन मे सूर की भक्ति-भावना का विकास दो रूपो मे हुआ है (१) गोप-ग्वाल और बाल-कृष्ण के प्रसङ्ग मे और (२) राधा और बाल-कृष्ण के प्रसङ्ग मे। गोप-ग्वाल बाल-कृष्ण के सच्चे सखा है। माखन चुराने मे, खेल-कूद मे, शरारत करने मे, गो-चारण में, गोपियो को छकाने मे, उन्हे झाँसा-पट्टी देने मे, प्रेम-लीला में, लूट-खसोट मे प्रत्येक क्षण उनका और कृष्ण का साथ रहता है। सख्य-भक्ति का दूसरा स्वरूप है राधा और बाल-कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग मे। इस प्रकार के प्रसङ्गो मे उनकी सख्य-भक्ति का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। कृष्ण के सखा होने के नाते उन्होने जिस

प्रकार बाल-मित्र के रूप मे बाल-कृष्ण की भक्ति की है उसी प्रकार एक तरुण-मित्र के रूप मे वह तरुण-कृष्ण के प्रेम-व्यापारो मे उनका साथ देते रहे है। इन अवसरो पर कृष्ण का उनसे कोई पर्दा नही है। वह बाहर भी कृष्ण के साथ है और अन्त.पुर मे भी। कोई बात, कोई प्रेम-व्यापार उनसे छिपा नही है। कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार उनकी आँखो के सामने होता रहता है और वह उसके चित्र उतारा करते है।

सूरदास के कृष्ण अलौकिक है। वह विष्णु के अवतार और बैकुण्ठ-स्थित कमला-पति नारायण से भी श्रेष्ठ है। वह भक्त-वत्सल है, असुरो का वध करनेवाले है। और आनन्द-रूप है। ब्रज और वृन्दावन मे वह जो लीलाएँ करते है वे उनके आनन्द-रूप की सहज अभिव्यक्तियाँ है। राधा आनन्दमयी सर्जनात्मक शक्ति है। यदि कृष्ण सच्चिदानन्द 'आदि पुरुष' है तो राधा 'आदि प्रकृति'। दोनो दो शरीर, एक प्राण है। माया के कारण तथा लीला सुख के लिए उन्होने पृथक-पृथक शरीर धारण किया है। राधा शेष, महेश, शुकादि की स्वामिनी है। सूरदास ने अपनी भक्ति-भावना मे राधा और कृष्ण की कृपा अथवा अनुग्रह को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाया है। इससे भक्ति की अनन्यता प्रकट होती है। भक्ति के सामने सूर को ज्ञान तुच्छ प्रतीत होता है। भगवान् के अनुग्रह पर, उनका अटूट विश्वास है। यही 'पुष्टि-मार्ग' है।

सूर की काव्य साधना

सूर की काव्य साधना का मुख्य ध्येय है, प्रेम निरूपण। अपने इस ध्येय मे उन्हे पूरी सफलता मिली है। प्रेमी ही प्रेम के आघात-प्रतिघातो को समझता है। सूर सच्चे प्रेमी है। इसलिए जीवन के विविध क्षेत्रो मे वह जहाँ कही भी प्रेम देखते है उसका चित्रण वह अपनी अनुभूति के बल पर करते है। उन्होने माता का हृदय टटोला है, पिता के हृदय को परखा है, गोप-गोपिकाओ के हृदय मे प्रवेश किया है, राधा के हृदय मे घुसकर उनके प्रेम की परीक्षा ली है। इस प्रकार भक्ति और भावना की जिस सीमा तक वह पहुँचे है उस सीमा तक हिन्दी के बहुत कम कवि पहुँच सके है।

विषय के अनुसार सूर के पदो का विभाजन चार प्रकार से हो सकता है:

(१) विनय और महिमा के पद, (२) अवतार की कथा-सम्बन्धी पद, (३) हरि-लीला सम्बन्धी पद और (४) दार्शनिक तत्व-सम्बन्धी पद । विनय और महिमा के पदो मे निर्गुण भक्ति से प्रभावित पद, दास भाव से प्रभावित पद, सखा-भाव से प्रभावित पद, हठयोग ओर शिव-साधना-सबन्धी पद है । इनके अतिरिक्त सन्त-महिमा, गुरु-महिमा आदि सम्बन्धी पद भी है । अवतार की कथाओ मे प्राय' सभी अवतारो को स्थान दिया गया है । कृष्ण की लीलाओ मे बाल-लीला, गो-चारण, दान-लीला, मान-लीला, मुरली-माधुरी आदि का स्फीत चित्रण है । दार्शनिक तत्व-सम्बन्धी पदो मे सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण है । इस प्रकार इन समस्त विषयो के निरूपण से 'सूर-सागर' एक विशाल काव्य-ग्रन्थ बन गया है । इस काव्य की गणना मुक्तक-काव्य अथवा गीतात्मक-काव्य मे होती है ।

कृष्ण की बाल-लीला वात्सल्य रस-प्रधान अश है । इसी अश के चित्रण मे सूर की काव्य प्रतिभा का विकास हुआ है । सूर ने अपने गीतो मे कृष्ण के जन्म से उनकी तरुणावस्था तक के जो शाब्दिक चित्र उतारे है वे अपने मे महान् है । बाल स्वभाव के वर्णन मे वह बेजोड़ है । हिन्दी का ही क्यो, विश्व का कोई कवि इस क्षेत्र मे उनके सामने नही टिक सकता । इसका मुख्य कारण है, उनके हृदय की सरलता । सूर का हृदय बालको का हृदय है । मातृ-हृदय का मर्म वह समझते है । इसलिए बाल-स्वभाव के चित्रण मे वह एक तरह का अपनापा अनुभव करते है । अपने इष्टदेव कृष्ण के बाल-रूप पर वह मुग्ध है और सौ-सौ तरह से उसका बखान करते है। इस प्रकार के चित्र चार भागो मे विभाजित किए जा सकते है (१) रूप-सौंदर्य के चित्र, (२) चेष्टाओ और क्रीडाओ के चित्र, (३) अन्तर्भावो के चित्र और (४) संस्कारो, उत्सवो तथा समारोहो के चित्र ।

रूप सौंदर्य के चित्र प्रस्तुत करने मे सूर ने बाल-कृष्ण के लौकिक और अलौकिक, दोनो पक्षो पर ध्यान रखा है । बाल-कृष्ण जन्म लेते ही अपने विराट् रूप का दर्शन कराते है । अनेक स्थलो पर, अनेक अवसरो पर, असुरो के वध के समय वह अपने इस रूप का परिचय सब को देते है । पर इतना होते हुए भी उनके अलौकिक चरित्रो मे इतना आकर्षण और इतनी तन्मयता है कि उनका वह रूप शीघ्र सामने नही आता । इसलिए सूर के रूप सौदर्य-स्थापन मे काव्य-कला

की दृष्टि से कोई बाधा नही पडती। बाल-कृष्ण की चेष्टाओ तथा क्रीडाओ के चित्र भी रूप सौंदर्य के चित्रो की भाति ही मनमोहक है। कृष्ण कभी मचलते है, कभी नाचते है, कभी परछाई पकडते है, कभी नन्द के साथ खाना खाने बैठते है, कभी झूठ भी बोलते है। इन समस्त बाल-लीलाओ से बाल-जीवन का सौदर्य फूटा पडता है। कृष्ण नटखट बालक है, बाल चपलता उनकी नस-नस मे भरी हुई है। माखन चुराकर खाने मे, पनिहारियो का तङ्ग करने मे, चलते हुए लोगों के साथ छेडखानी करने मे, दही और दूध लूटने मे, गोपिकाओ के वस्त्र नोचने-खसोटने मे, खेल मे बाजी हार जाने पर दाँव न देने मे, अपनी बारी आने पर सब को थका देने मे, मीठी-मीठी बाते बनाने मे, झूठ बोलने मे वह सिद्धहस्त है। झूठ बोलने और बाते बनाने का एक उदाहरण लीजिए —

> 'मैया मेरी ! मै नहि माखन खायो।
> ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥'

कौन ऐसी माता है जो अपने बालक के इस भोलेपन पर न रीझती हो! पर सभी अवसरो पर बालको का यह जादू नही चलता। इस बार तो झाँसा पट्टी पढा कर वह बच गये, यशोदा ने उन्हे गले लगा लिया, पर उलाहना मिलने पर वह पीटे गए है और खूब पीटे गए है। ऐसे अवसरो पर यशोदा ने उन्हे क्षमा नही किया है।

अब अन्तर्भावो के चित्र लीजिए। सूर ने इस क्षेत्र मे भी कमाल किया है। बालको के हृदय मे स्वाभाविक रूप से जो भाव उठा करते है उनका चित्रण भी सूर ने उनके हृदय मे पैठकर किया है। बाल-कृष्ण की स्पर्द्धा का, इन पंक्तियो मे, रस लीजिए —

> मैया ! कबहि बढ़ेगी चोटी।
> किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति बल की बेनी-ज्यो ह्वै है लाबी मोटी ॥'

कृष्ण के बाल-जीवन का वर्णन उनके जन्म से होता है। इसलिए सूर ने विविध उत्सवो का वर्णन बडी सफलता से किया है। उनके पदो मे छट्ठी-व्यवहार-वर्णन, अन्नप्राशन-लीला, वर्षगाँठ-लीला, कनछेदन-लीला, घुटरुवनि-चलनि, पायन-चलनि इत्यादि की बडी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत की गई है। इन झाँकियो का

लौकिक और आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो से महत्व है। यशोदा के लिए जो वात्सल्य भाव है वही भक्तो की भक्ति की आधार शिला है।

कृष्ण की बाल्यावस्था के चित्रण के बाद सूर ने उनकी प्रेममयी लीलाओ के चित्र भी उतारे है। कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ उनकी तरुणावस्था के पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाती है। बाल्यावस्था मे गोपियो के साथ कृष्ण की जो छेड़छाड़ है वह तरुणाई आते-आते प्रेम मे परिणत हो जाती है। राधा स्वत प्रेम की साकार प्रतिमा है। कृष्ण के प्रति उनका अनन्य प्रेम है। उन्ही के द्वारा ब्रज के कण-कण मे कृष्ण का प्रेम व्याप्त होता है। भक्ति की बेलि इसी कण मे अकुरित, पल्लवित और पुष्पित होती है। इस प्रकार सूर की प्रेम-साधना व्यक्तिगत प्रेम की सकुचित परिधि से निकलकर सामाजिक रूप धारण करती हुई भक्ति-पथ का अनुसरण करती है और अन्तत शान्त रस मे परिणत हो जाती है।

सूरदास ने 'भ्रमर गीत' भी लिखे है। हिन्दी मे 'भ्रमर-गीत' काव्य की परम्परा महापुराण 'श्रीमद्भागवत' पर आधारित है। सूरदास ने उसी से प्रेरणा प्राप्त की है। उन्होने तीन भ्रमर-गीत लिखे है। पहला भ्रमर-गीत चौपाइयो मे लिखा गया है। यह एक प्रकार से 'भागवत' का ही अनुवाद है। इसमे ज्ञान-वैराग्य की विशेष चर्चा है, पर ज्ञान पर भक्ति की ही विजय घोषित की गई है। रचना-कौशल की दृष्टि से यह साधारण काव्य है —

'आपुहि पुरुष, आपुही नारी। आपुही वानप्रस्थ ब्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुही माता। आपुही भगिनि, आपुहि भ्राता॥'

कहकर उद्धव गोपियो का परितोष करना चाहते हैं, पर गोपियाँ यह कहकर

'बार बार ये वचन निवारे। भक्ति विरोधी ज्ञान तुम्हारे॥
होत कहा उपदेसे तेरे। नयन सुबस नाहीं अलि ! मेरे॥'

उनकी बात काट देती है। यहाँ सूर 'भागवत की परम्परा से बँधे हुए है, परन्तु अपने दूसरे प्रकार के भ्रमर-गीतो मे उन्होने अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनके ऐसे 'भ्रमर-गीत' पदो मे हैं। इनमे उद्धव को सहृदय दिखाने का वर्णन उनका एक मौलिक प्रयास है। गोपियो-द्वारा उद्धव को सम्मानित भी किया गया है। अन्त में उद्धव के मुँह से यह भी कहलाया गया है :—

'प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये।'

इतना ही नही, कृष्ण के पास आकर वह गोपियो की ओर से यह भी कहते है —

'एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई।'

सूर का तीसरे प्रकार का 'भ्रमर-गीत' उक्त दोनो प्रकार के भ्रमर-गीतो से उत्कृष्ट है। इसमे काव्य-सौष्टव एव कलात्मकता का एक साथ साक्षात्कार होता है। इसमे उद्धव का ज्ञान-गर्व-हरण भी दिखाने का प्रयास है। सूर की यह भावना उनकी मौलिक सूझबूझ का परिणाम है। इस प्रकार की मौलिकता के साथ-साथ सगुण-भक्ति की श्रेष्ठता भी सिद्ध की गई है। गोपियाँ वाचाल है और अपने पक्ष के समर्थन मे अत्यन्त सुन्दर तर्क उपस्थित करती है तथा अन्त मे उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। इस प्रकार के तर्क-वितर्क के साथ-साथ इस काव्य मे विरह-वेदना की भी मार्मिक अभिव्यजना की गई है। इसमे वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती है, जितने ढंग से उन दशाओ का वर्णन साहित्य मे हुआ और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद है।' सूर का यह प्रयास सफल और मौलिक है।

सूर की शैली

सूर की शैली गीत-काव्य की शैली है। उन्होने जो कुछ लिखा है, वह किसी-न-किसी राग के अन्तर्गत ही लिखा है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि सूर की रचनाओ मे छन्दो की विविधता नही है। उनमे कवित्त, छप्पय, रोला, चौपाई आदि सबका यथा-स्थान विषय के अनुसार विधान है, पर इन सब का विधान राग-रागिनियो के अन्तर्गत ही हुआ है। कीर्तन से ही उन्होने अपने काव्य का आरभ किया है और कीर्तन से ही उसका अन्त। उन्होने अपने सभी छन्दो को गेय बनाया है और उनमे साहित्य और सगीत का आभूतपूर्व समन्वय किया है।

सूर के पद दो प्रकार के है · (१) भावात्मक और (२) प्रबन्धात्मक। भावात्मक पदो मे भाव-धारा की एक-एक लहर सजीव हो उठी है और अनुभूति का एक-एक अग आकर्षक हो गया है। इनका आकार छोटा और संगीत के माधुर्य से परिपूर्ण है। प्रबन्धात्मक पद काफी बड़े हैं। इत्तिवृत्तात्मक होने के कारण उनमें भावो का अव्याहत वेग नही है। ऐसे पदो का मुख्यतः

अवतार-वर्णन मे ही प्रयोग हुआ है। भावात्मक पद दो प्रकार के है (१) शुद्ध भावना-प्रधान पद और (२) प्रबध पर आधारित भावना-प्रधान पद। पहले प्रकार के पद विनय, आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण की अनुभूतियो से ओतप्रोत है। दूसरे प्रकार के पदो मे मुरली, रूप-वर्णन, लीला-वर्णन आदि का समावेश हुआ है। ऐसे पदो मे सूर का जो कुछ है वह सब उनका अपना है। इस प्रकार अपने सभी पदो मे वह कही कथाकार है, कही कवि और कही भक्त। इन तीनो रूपो मे उनकी तीन शैलियाँ देखी जा सकती है। कथाकार के रूप मे उनकी शैली विषय-प्रधान है, कवि के रूप मे उनकी शैली भाव-प्रधान है और भक्त के रूप मे उनकी शैली अनुभूति प्रधान है। उनकी पहली शैली व्यास-प्रधान और शेष दोनो समास-प्रधान है।

रस के आयोजन मे, अलकारो के प्रयोग मे और भाषा को सजाने-सँवारने मे सूर भावी कवियो के पथ-पदर्शक है। रस-परिपाक की दृष्टि से सूर का काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। वात्सल्य रस के तो वह सम्राट है। शृङ्गार रस मे सयोग की अपेक्षा विप्रलभ शृङ्गार ही अधिक है। सूर का विरह-वर्णन चमत्कारिक उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण ही नही है, उसमे हृदय का स्पर्श करने की पूर्ण क्षमता भी है। साथ ही उसमे अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की मार्मिकता भी है। अद्भुत और वीर रस के उदाहरण भी कई स्थलो पर मिलते है। अद्भुत रस के उदाहरण बाल-लीलाओ मे अधिक मिलते है। करुण और हास्य रस अपेक्षाकृत कम है। जहाँ वर्णन मे अलौकिकता है वहाँ शान्त रस के उदाहरण मिलते हैं।

सूर का अलंकार-विधान भी अत्यन्त उच्च कोटि का है। उत्प्रेक्षा और रूपक का अत्यन्त सफल प्रयोग उनकी रचनाओ मे मिलता है। इनके अतिरिक्त यथासख्य, परिकराकुर, विभावना, असगति आदि के उदाहरण भी मिलते हैं। सूर ने अपने उपमान जीवन की घटनाओ से लिए है। उनके अलकार-विधान की दो विशेषताएँ है एक तो उससे प्रसगो की वास्तविक अनुभूति हो जाती है और दूसरे उससे सुन्दर शब्द-चित्र उपस्थित हो जाते है। इन दोनो विशेषताओ के कारण सूर के अलकार अत्यन्त स्वाभाविक हो गए हैं।

सूर की भाषा

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। उसका सम्बन्ध साधारण बोलचाल से है और उस पर ब्रज के स्वाभाविक वातावरण का प्रभाव है। सूर के पूर्व हिन्दी-साहित्य मे या तो अपभ्रंश-मिश्रित डिंगल पाई जाती थी, या साधुओ की 'पँचमेल खिचडी' भाषा। चलती हुई ब्रजभाषा मे सर्व प्रथम और सर्वोत्तम रचना सूर की ही कही जा सकती है। उन्होंने साधारण बोलचाल की भाषा को अपनी भाव-धारा की खराद पर चढाकर सजाया-सँवारा और उसे साहित्यिक रूप दिया है। वह उसके परिमार्जक है। उनकी भाषा पूर्ववर्ती कवियो की भाषा की अपेक्षा सयत सुव्यवस्थित और गठी हुई है। कोमल पदो के साथ उनकी भाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, सजीव और भावो के अनुसार बन पडी है। माधुर्य और प्रसाद उसके मुख्य गुण है। ब्रज की चलती बोली मे संस्कृत के तत्सम शब्दो का सन्निवेश कर उन्होने ब्रजभाषा को उत्तराखंड की ही नही, समस्त भारत की साहित्यिक भाषा बना दिया है। ठेठ ब्रजभाषा के शब्दो को भी उन्होंने अपनी भाषा मे स्थान दिया है। साथ ही उसमे फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती तथा बुन्देलखंडी भाषाओ के शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, पर इसके कारण भाषा के प्रवाह मे बाधा नही पडी है। संस्कृत, फारसी आदि भाषाओ के शब्दो को उन्होने उनके तद्भव रूप मे प्रयुक्त किया है। कही-कही तुकान्त के लिए अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल रखने की आवश्यकता से प्रेरित होकर उन्होने शब्दो को तोड-मरोड भी दिया है। कही-कही व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती है, पर अपनी भाषा पर उन्हे इतना अधिकार है कि उन्हे अपने भावो के अनुकूल शब्द खोजने की आवश्यकता नहीं पडती। वे अपने आप आते है और परिणामत. वर्णन मे वेग और प्रवाह भर देते है। अपनी भाषा को सजीव बनाने के लिए उन्होने उसमे मुहावरो और लोकोक्तियो का भी प्रयोग अत्यन्त कौशल से किया है।

४ : नरोत्तमदास

जन्म-स० १५५० मृत्यु-स० १६१०

जीवन-परिचय

हिन्दी के अन्य सुप्रसिद्ध प्राचीन कवियो की भाँति कवि नरोत्तमदास के सबध मे भी हमे बहुत कम ज्ञात है। उनके विषय मे 'शिवसिह सरोज' के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि वह स० १६०२ मे जीवित थे और सीतापुर जिले के बाडी गाँव के रहनेवाले कान्याकुब्ज ब्राह्मण थे। हिन्दी मे उनका 'सुदामा-चरित' ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध है। प० रामनरेश त्रिपाठी ने इसका रचना-काल स० १५८२ बताया है। इससे किसी-किसी ने यह अनुमान लगाया है कि उनका जन्म स० १५५० के लगभग हुआ होगा। उन्होने 'ध्रुव-चरित' भी लिखा था, पर अभी तक वह अप्राप्य है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज मे 'विचार-माला' नाम की उनकी एक पुस्तक का उल्लेख मिलता है, पर उसका भी पता नही है। इस प्रकार हम उनके जीवन के सम्बन्ध मे बहुत ही कम बातें जानते है। उनका 'सुदामा-चरित' अवश्य हमे उपलब्ध है और उसके आधार पर हम यह कह सकते है कि वह हिन्दी के एक भावुक कवि और कृष्ण के भक्त थे।

नरोत्तमदास की काव्य-साधना

नरोत्तमदास हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल के प्रथम यथार्थवादी कवि थे। 'सुदामा-चरित' मे उन्होने जिस विषय को स्पर्श किया है उसे उन्होने अपनी भक्ति-भावना और कथन-सौष्ठव से इतना सजीव और मगलमय बना दिया है कि केवल उसी के आधार पर हम उनके मानव-जीवन के व्यापक अनुभवो की परिधि की कल्पना कर सकते है। यहाँ हम सक्षेप मे इसी काव्य-ग्रथ पर विचार करेंगे —

(१) सुदामा-चरित का विषय—सुदामा-चरित एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसमे सुदामा के सम्पूर्ण जीवन की घटनाओ का वर्णन न कर केवल कृष्ण और सुदामा की मित्रता का वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि जब श्रीकृष्ण अवन्तिकापुरी उज्जैन में कुलपति सादीपन मुनि के पास विद्याभ्यास करते थे तब

सुदामा भी उनके सहपाठियो मे से थे । एक दिन गुरु-पत्नी ने उन दोनो को जंगल मे लकडी लाने के लिए भेजा । जाते समय गुरु-पत्नी ने सुदामा को थोड़े-से चने भी दे दिये । यह बात श्रीकृष्ण को ज्ञात नही थी । जगल मे पहुँचकर दोनो ने लकड़ियाँ बटोरी, पर जब उन्हे बाँधकर वे चलने लगे तब रात होने और आँधी-पानी के आजाने के कारण उन्हे सारी रात एक वृक्ष के नीचे रहना पड़ा । सुदामा को भूख लगी थी । चने पानी से भीगकर मुलायम हो गए थे । इसलिए वह चुपके-चुपके उन्हे चबा गये । कृष्ण भी भूखे थे, पर वह भूखे ही रह गये । दूसरे दिन सुदामा का यह क्षुद्र व्यवहार जब कृष्ण को ज्ञात हुआ तब उन्हें बहुत दु ख हुआ । अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् कृष्ण तो द्वारिकाधीश हो गये, पर सुदामा को एक दरिद्र ब्राह्मण का जीवन व्यतीत करना पडा । एक दिन सुदामा की स्त्री ने आग्रह करके अपने पति को कृष्ण के पास भेजा । सुदामा कृष्ण के पास बडे सकोच से गये । कृष्ण ने अपने सहपाठी का यथोचित सम्मान किया । चलते समय प्रत्यक्ष रूप से तो कृष्ण ने उन्हे कुछ भी नही दिया, पर अप्रत्यक्ष रूप से उन्हे सब कुछ दे दिया । इस प्रकार सुदामा ने यह समझा कि उन्हे कुछ भी नही मिला, पर जब वह घर आये तब उन्हे अपना वैभव देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पडा । सुदामा और उनकी पत्नी से सबधित यह कथा सक्षेप मे 'सुदामा-चरित' का विषय है । यह कथा 'श्रीमद्‌भागवत' के दशम स्कध के ८० वें अध्याय मे वर्णित है ।

(२) **सुदामा-चरित की विशेषताएँ**—बगला, गुजराती तथा हिन्दी मे 'सुदामा-चरित' सम्बन्धी कई रचनाएँ मिलती है, पर उन सब से नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' ही उत्कृष्ट है । इसका कारण उसकी अपनी विशेषताएँ हैं । उसकी पहली विशेषता तो यह है कि उसके सभी पात्र सजीव है और वे हमारे पारिवारिक जीवन की समस्याओ पर विचार करते है । सुदामा, सुदामा की स्त्री सुशीला और श्रीकृष्ण तीनो की समस्याएँ पृथक-पृथक है, पर तीनो मे नैतिक सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध के निर्वाह तथा व्यक्तिगत समस्याओ के वर्णन मे नरोत्तमदास को पूरी सफलता मिली है । उसकी दूसरी विशेषता है, दीनता और समृद्धि के सजीव वर्णन-द्वारा मित्रता का उच्चादर्श स्थापित करना । सुदामा दीन थे और कृष्ण द्वारिकाधीश । इन्ही दोनो के चित्रण मे उनकी काव्य-शक्ति का विकास हुआ है ।

उनका दरिद्रता का चित्र जितना सम्पूर्ण है उतना ही समृद्धि का भी। एक के प्रतीक सुदामा है तो दूसरे के प्रतीक कृष्ण, पर दोनो मे मैत्री के उचित निर्वाह के लिए नरोत्तम दास ने जिन परिस्थितियो और वातावरण का निर्माण किया है उनसे 'सुदामा-चरित' की तीसरी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव मे उनकी यही विशेषता उसे लोक-प्रिय बनाने मे सफल हुई है। नरोत्तमदास ने अपना ध्येय स्पष्ट करने के लिए दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जिन मार्मिक परिस्थितियो का निर्माण, चयन एव सकलन किया है उनसे कथा को प्रवाह और भावो को उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। उसकी चौथी विशेषता कथोपकथन से सम्बन्ध रखती है। साहित्य मे अच्छे कथोपकथन के जितने लक्षण होते है उन सबका समावेश 'सुदामा चरित' मे बहुत सफलतापूर्वक हुआ है। उसमे स्वाभाविकता, सजीवता, यथार्थता और शिष्टता इतनी उचित मात्रा मे है कि पाठक उसमे तन्मय हो जाता है। उसकी पाँचवी विशेषता मानव-हृदय के चित्रण से स्पष्ट हो जाती है। नरोत्तमदास ने मानव को दैनिक जीवन की परिस्थितियो के बीच रखकर उसकी मनोवृत्तियो का चित्रण किया है। सुदामा की स्त्री के हृदय से निकली हुई भावनाओ पर नारी-हृदय की छाप इतनी स्पष्ट है कि उसका पुरुष-हृदय पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सुदामा और कृष्ण भी अपने अपने हृदयगत भावो को बिना किसी सकोच के व्यक्त करते है। इससे सारा खड-काव्य रोचक और हृदयग्राही हो गया है। इनके अतिरिक्त उसकी छठी विशेषता यह है कि उसमे तत्कालीन समाज का चित्र भी बडे सुन्दर शब्दो मे अकित किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था का महत्व, भाग्यवाद मे आस्था, असम मित्रता मे मित्रता का चरमोत्कर्ष, प्राचीन सामाजिक वृत्तियो का अकन आदि 'सुदामा-चरित' मे बहुत सुन्दरता से हुआ है।

(३) सुदामा-चरित का भाव-पक्ष—नरोत्तमदास मे अपने मनोभावो को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। उन्होने अपने इस छोटे-से काव्य मे जिस भाव को स्पर्श किया है उसका चित्र आँखो के सामने उपस्थित कर दिया है। दरिद्रता दूर करने का विषय लेकर सुदामा और उनकी स्त्री के बीच जो विवाद-सा छिड़ जाता है उसमे नारी-हृदय की दुर्बलताएँ और आकाक्षाएँ बहुत सुन्दर शब्दो मे व्यक्त हुई हैं। 'या घर ते कबहुँ न गए पिय, टूटो तवा अरु फूटी कठौती'

मे दरिद्रता का जो चित्र खीचा गया है वह नरोत्तमदास की काव्य-प्रतिभा का व्यजक है। उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, उत्कृष्ट और रोचक हुआ है। सुदामा की स्त्री मे धन की लिप्सा के लिए जितना आग्रह और अपने वर्तमान जीवन के प्रति जितना असतोष है उतना ही सुदामा मे अपनी दरिद्रतावस्था के प्रति सतोष और प्रेम है। सुदामा भाग्यवादी है। पर उनकी स्त्री भाग्यवाद को भगवान् की करुणा के आगे कोई महत्व नही देती। 'कृपानिधि की मिताई' मे उनकी अटल आस्था है। उनका विश्वास है कि 'नाम लेत चौगुनी, गए ते द्वार सौ गुनी सो देखत सहस्र गुनी प्रीति प्रभु मानिहै।' सुदामा भी भगवान की करुणा मे विश्वास करते है, पर वह नीतिज्ञ भी तो है। 'विपति परे पैं द्वार मित्र के न जाइये', का भी तो उन्हे ध्यान है। इसलिए उनका स्वाभिमान उन्हे द्वारिका जाने से रोकता है, पर स्त्री के आग्रह के आगे उनका सब तर्क निष्फल हो जाता है। उन्हे द्वारिका जाना ही पडता है। इस प्रकार नारी-हृदय की पुरुष-हृदय पर विजय होती है। यह विजय वस्तुत नारी-हृदय के विलास की, नारी-हृदय की समस्याओ की विजय है। कवि ने इस विजय को घोषित करने के लिए जिन परिस्थितियो का निर्माण किया है उनमे भी वास्तविकता और सत्यता है। नरोत्तमदास परिस्थिति-निर्माण की कला मे पटु है। अपने भावो के अनुकूल वह परिस्थिति-निर्माण करना खूब जानते है। द्वारिका मे जिन परिस्थितियो के बीच सुदामा ने कृष्ण से भेंट की है उनसे कथावस्तु को पर्याप्त बल और भावो को पर्याप्त उत्कर्ष मिलता है।

'सुदामा-चरित' मे नरोत्तमदास की प्रतिभा के परिचायक तीन मर्मस्पर्शी स्थल है। पहला स्थल तो वह है जब श्री कृष्ण पहले पहल सुदामा से मिलते है। उस समय कवि ने थोडे से शब्दो मे जिन उदात्त भावो का चित्रण किया है उनसे उनकी प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है, कृष्ण की वर्णाश्रम-धर्म-भावना और उनके सखा-भाव पर भी उज्ज्वल प्रकाश पड जाता है। 'पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सो पग धोये,' मे कवि की कल्पना-शक्ति का चमत्कार जितना अधिक है उससे कही अधिक कृष्ण के चरित्र और उनके मित्रता के आदर्श को उज्ज्वलतम रूप देने का सफल प्रयास भी है। प्रतिभा दिखाने का दूसरा स्थल

वह है जब कृष्ण सुदामा की कॉख से चावल की पोटली निकालते है और उनको पुरानी बातो की याद दिलाकर हास-परिहास करते है। इस अवसर पर वह अपने सखा की पोटली ही नही, उनके मन की गाँठ भी खोल देते हैं। 'पाछिली बान अजौ न तजी तुम, तैसेई भाभी के तन्दुल कीने' मे जहाँ हास-परिहास और किंचित व्यग है वहाँ सुदामा का सकोच मिटाने का प्रयास भी है। प्रतिभा की प्रखरता दिखाने का तीसरा अवसर वह है जब श्रीकृष्ण सुदामा को प्रत्यक्ष रूप से कुछ न देकर विदा कर देते है। मार्ग मे सुदामा की कृष्ण पर, अपनी पत्नी पर तथा अपने पर जो झुँझलाहट और खीज है उसका वर्णन भी बडा ही स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है।

(४) सुदामा-चरित में चरित्र-चित्रण—सुदामा-चरित मे तीन चरित्रो की प्रधानता है। पहले सुदामा को लीजिए। सुदामा ज्ञानी भक्त, नीतिज्ञ, सकोची, भाग्यवादी, वर्णाश्रम-धर्म के पोषक, स्वाभिमानी, सतोषी, शीलवान और दरिद्र-नारायण से प्रीति करनेवाले ब्राह्मण है। इन गुणो के होते हुए भी वह अपनी स्त्री के आग्रह के सामने निरुत्तर हो जाते है। उन्हे कृष्ण के पास विवश होकर जाना ही पडता है। वह व्यवहार-कुशल भी नही है। वह सीधे-साधे सरल ब्राह्मण है। उनमे बनावट नही है। ज्ञानी होते हुए भी मानव-हृदय की दुर्बलताएँ उनमे है। द्वारिका से खाली हाथ लौटते समय उनके हृदय की दुर्बलता निम्नलिखित पक्तियो में देखिए —

'हौ कब आवत हुतो, वाही पठ्यो ठेलि।
कहिहौ धनि सों जाइ कै, अब धनि धरौ सकेलि ॥'

सुदामा के इन शब्दो मे स्वाभाविक खीज है, चिडचिडापन है, विवशता है, टीस है, जीवन के प्रति निराशा का भाव है और भाग्यवाद के प्रति आस्था है। वह अपनी दृष्टि मे ही गिरे हुए-से जान पडते हैं, पर घर पहुँचते ही उनकी सारी निराशा, मन की सारी खीज आश्चर्य और हर्ष मे परिणत हो जाती है और अन्त मे अपने भाग्यवाद के स्थान पर वह 'प्रभु के परताप' को स्वीकार करते है।

सुदामा-चरित मे दूसरा आकर्षक चरित्र है सुदामा की स्त्री सुशीला का। सुदामा को अपनी परिस्थितियो के प्रति जितना ही सन्तोष है उतना ही उनकी स्त्री को असन्तोष है। इसलिए वह बराबर अपने पति को कृष्ण के पास जाने के लिए प्रेरित किया करती है। इसका कारण है, उनकी भक्ति-भावना। सुदामा जहाँ भाग्यवादी है वहा उनकी पत्नी भगवान की दानशीलता एवं करुणा मे विश्वास करनेवाली है। उन्हे अच्छी तरह विश्वास है कि सुदामा के उनके पास पहुँचते ही उनकी दरिद्रता का अन्त हो जायगा। सुदामा की अपेक्षा वह व्यवहार-कुशला भी है। सुदामा को मित्रता के आदर्श तथा सम्मान की भावना का विचार है, पर उनकी पत्नी इन आदर्शो को नही मानती। वह कृष्ण को अपने पति के मित्र के रूप मे ही नही, अपितु भक्तवत्सल भगवान के रूप मे भी देखती है। सुदामा मे जो सकोच और हिचकिचाहट है वह उनके आदर्शो के कारण और सुदामा की पत्नी मे जो व्यवहारिकता है वह श्रीकृष्ण की अनुकंपा मे विश्वास रखने के कारण। सुदामा जितने ज्ञानी है, उनकी पत्नी उतनी ही भावुक हे। इसलिए सुदामा का सारा तर्क, सारी आदर्शवादिता उनकी पत्नी की भावुकता और भक्ति के सामने टिक नही पाती। सुदामा की पत्नी के आग्रह मे बल है, नारी-हृदय की कोमल कामना है, समृद्धिशालिनी बनने की उत्कट अभिलाषा है और इसका स्वप्न वह देखती है कृष्ण की अनुकम्पा मे विश्वास करके। इसलिए आदि की भाति अन्त मे भी उन्ही की विजय होती है।

सुदामा-चरित मे तीसरा चरित्र है श्रीकृष्ण का। नरोत्तमदास के कृष्ण वह कृष्ण नही है जो सूर के है। वह द्वारिकाधीश है, वर्णाश्रम-धर्म मे आस्था रखनेवाले है, नीतिज्ञ है, दरिद्रनारायण के सेवक है, सच्चे मित्र और भक्तो की मर्य्यादा का ध्यान रखनेवाले है। सुदामा से मिलने पर वह अपने पद का गर्व न कर वर्णाश्रम-धर्म की मर्य्यादा के अनुकूल उनके पैर धोते है, उन्हे उच्चासन देते है और उनका मनोरजन करते है। चलते समय वह उन्हे पहुँचाने भी जाते है। प्रत्यक्ष रूप से दान-दक्षिणा न देकर अप्रत्यक्ष रूप से वह उन्हे सब कुछ दे देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से कुछ न देने के दो कारण जान पड़ते है एक तो यह कि यदि वह प्रत्यक्ष रूप से देते भी तो उतना नही दे सकते थे जितना कि उन्होने अप्रत्यक्ष रूप

से उन्हे दिया और दूसरा यह कि वह अपनी प्रेरणा से श्रीकृष्ण के पास नही गए थे। वह ब्रह्मज्ञानी थे। इसलिए कृष्ण को वह द्वारिकाधीश के रूप मे ही देखते थे। पर उनकी पत्नी कृष्ण के विष्णुत्व मे विश्वास करनेवाली थी। इसीलिए सुदामा की अपेक्षा उनकी पत्नी ही श्रीकृष्ण की कृपा की सर्वप्रथम पात्री हो सकती थी। भगवान तो अपने भक्त। के ही बस मे रहते है। ऐसी दशा मे पहले सुदामा की पत्नी की ही मनोकामना पूर्ण करना उचित था। इस प्रकार कृष्ण ने भक्तो की मर्य्यादा और उनके विश्वास की रक्षा की। 'सुदामा-चरित' मे कृष्ण के दोनो रूप बहुत ही सुन्दरता से अकित हुए है।

(५) **सुदामा-चरित में मित्रता का आदर्श**—'सुदामा-चरित' मे प्रधानत मित्रता का आदर्श ही स्थापित किया गया है। सुदामा नीतिज्ञ है, अत वह विचारक भी है। कृष्ण के पास जाने से पहले वह मनमे तर्क-वितर्क करते है। वह सोचते है कि मित्र को मित्र से याचना नही करनी चाहिए और सकट पडने पर उसके पास नही जाना चाहिए। यही सोचकर वह जाने से हिचकिचाते है, पर जब पत्नी के आग्रह के कारण उन्हे कृष्ण के पास जाना ही पडता है तब कृष्ण उनका जिस प्रकार सम्मान करते है उससे मित्रता का आदर्श स्थापित हो जाता है। इससे हमे यह शिक्षा मिलती है कि मित्र के यहाँ जाने पर उसको कुछ भेंट स्वरूप भी देना चाहिए, एक मित्र को दूसरे मित्र से याचना नही करनी चाहिए, एक मित्र को दूसरे मित्र के प्रति पूरी सहानुभूति रखनी चाहिए, भेद-भाव भूलकर अपने मित्र का यथोचित सम्मान करना चाहिए, सकट मे पडे हुए मित्र के साथ किए गए उपकार का प्रदर्शन न करना चाहिए और मित्रो के बीच समान भाव की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। मित्रता के इन आदर्शो की रक्षा 'सुदामा-चरित' मे भली भाति हुई है। सुदामा कृष्ण से किसी प्रकार की याचना नही करते। कृष्ण समस्त भेद-भाव भूलकर अपने निर्धन मित्र सुदामा का यथोचित सम्मान करते है, उन्हे सब कुछ देते है, पर उन्हे कृतज्ञता प्रकाश का अवसर तक नही देते। वस्तुत. ऐसी ही मित्रता जीवन के लिए कल्याणकारी होती है।

नरोत्तमदास की भाषा और शैली

'सुदामा-चरित' की भाषा ब्रजभाषा है, पर उस पर बैसवाड़े की बोली की

स्पष्ट छाप दिखाई देती है । शब्दो को तोड-मरोडकर कुछ नये शब्द भी बनाए गए है । 'मित्रता' से 'मित्रई' शब्द तोड-मरोड़कर ही बनाया गया है । पर इस प्रकार की स्वतन्त्रता से काम लेने पर भी उनकी भाषा प्रवाहमय है और उस पर उनका पूरा अधिकार है । उनका शब्द-चयन स्वाभाविक, सरल और प्रसाद-गुणयुक्त है । स्थान-स्थान पर उन्होने प्रचलित मुहावरो का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है । इससे उनकी भाषा मे सरसता और रोचकता आ गई है । कही-कही भाषा शिथिल भी हो गई है, पर वहाँ भी भावो का प्रवाह इतना अधिक है कि भाषा की शिथिलता का आभास नही होता ।

'सुदामा-चरित' वर्णनात्मक काव्य है जिसमे नाट्य-शैली का अनुसरण किया गया है । इससे भावो की अभिव्यक्ति मे स्वाभाविकता और सरसता आ गई है । उसे पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि सुदामा आदि के भावो को कविता के साँचे मे ढालनेवाला कोई मध्यस्थ कवि नही है, प्रत्युत वे स्वय ही साक्षात् रूप से परस्पर कथोपकथन कर रहे है । यही कविता की विशेषता भी है । इसलिए उनकी शैली मे भावुकता, मौलिकता, स्वाभाविकता, सरलता और रसात्मकता का एक ही साथ सन्निवेश हो गया है । ऐसी दशा मे हमे उसमे अलकारो का विशेष रूप से विधान नही मिलता । पर यत्र-तत्र उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि पाए जाते हैं । छन्द-विधान भी विषयानुकूल है । दोहा, कवित्त, सवैया और कुँडलियाँ—ये चार छन्द ही उसमे प्रयुक्त किए गए है । रसो मे श्रृगार, करुण और शात रसो की प्रधानता है ।

इस प्रकार 'सुदामा-चरित' एक छोटा-सा खडकाव्य होते हुए भी नरोत्तम-दास की प्रतिभा का चिरस्थाई प्रतीक है और हिन्दी-साहित्य मे उसका एक विशिष्ट स्थान है ।

---

५ : मीराँबाई

जन्म-स० १५५५ मृत्यु-स० १६०३

जीवन-परिचय

प्रेम की अनन्य पुजारिन मीराँबाई का जन्म सम्वत् १५५५ के आसपास हुआ था। वह जोधपुर राज्य के सस्थापक राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी की पौत्री और उनके चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह (मृ० स० १५८४) की एकलौती पुत्री थी। राव दूदाजी को अपने पिता की ओर से मेडवा नाम का प्रान्त जागीर के रूप मे मिला था। इसलिए उन्होने यही अपनी राजधानी बनाई। कालान्तर मे उनके वशज मेडवा मे रहने के कारण मेडतिया-राठौर कहलाने लगे। रत्नसिंह को अपने पिता से निर्वाह के लिए बारह गाँव मिले थे। कुडकी उन्ही मे से एक गाँव था। यही गाँव मीराँ की जन्म-भूमि थी। मीराँ की बाल्यावस्था मे ही उनकी माता का देहान्त हो गया था, इसलिए उनका पालन-पोषण मेड़ते मे उनके पितामह राव दूदाजी ने किया। राव दूदाजी परम वैष्णव तथा चतुर्भुज के अनन्य भक्त थे। उनके सम्पर्क मे रहने के कारण मीराँ के बाल-हृदय पर उनकी भक्ति-भावना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव की ओर उन्होने अपने पदो मे 'बाल सनेही' और 'बालपने की प्रीति' का उल्लेख कर सकेत किया है।

स० १५७२ मे मीराँ के पितामह राव दूदाजी का देहान्त हो गया और उनके स्थान पर रत्नसिह के बड़े भाई वीरमदेव (ज० स० १५३४) गद्दी पर बैठे। उन्होने लगभग स० १५७३ मे मीराँ का विवाह राणा सागा (स० १५३६-८४) के पुत्र भोजराज के साथ कर दिया। पर एक वर्ष बाद ही भोजराज का देहान्त (स० १७७५) हो गया। इस वज्रपात के बाद स० १५८४ के कनवाह के रण-क्षेत्र मे बाबर से युद्ध करते हुए रत्नसिह भी मारे गये और राणा सागा भी स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार मीराँ थोडे ही समय मे आश्रयहीन हो गयी। ऐसी दयनीय परिस्थिति मे उनमे वैराग्य की प्रबल भावना उत्पन्न हो गयी। वह अपना सारा समय साधु-सत्सग तथा भगवद्भजन मे व्यतीत करने लगी। गिरिधरलाल का इष्ट

उन्हे बाल्यावस्था से ही था, इसलिए लोक-लज्जा त्यागकर वह उन्ही के प्रेम मे उन्मत्त हो गयी। प्रेमावेश मे आकर कभी-कभी वह अपने पैरो मे घुँघरू बाँधकर तथा हाथो मे करताल लेकर अपने प्रभु के आगे नाचा करती थी। राजवश की मर्यादा के विरुद्ध उनका ऐसा आचरण देखकर उनके देवर महाराणा रत्नसिंह (स० १५८४-८८) ने उन्हे बहुत समझाया-बुझाया, पर उन पर इन बातो का कोई प्रभाव नही पड़ा। धीरे-धीरे उनकी हरि-भक्ति के साथ-साथ उनकी ख्याति भी बढ़ती गई। यह देखकर राणा शान्त हो गए, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् जब उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य (स० १५८८-९२) राणा हुए तब उन्होने पहले तो मीराँ की ननद ऊदाबाई को भेजकर मीराँ को समझाया-बुझाया, इसके बाद कुपित होकर उन्होने उनके पास विष का प्याला भेजा। इस प्याले के विष को मीराँ ने चरणामृत समझकर पान कर लिया। इससे भी जब उनकी मृत्यु नही हुई तब राणा ने एक पिटारे मे एक विषैला सर्प बद करके भेजा। मीराँ ने इस सर्प को अपने गले मे डाल लिया। वह सर्प उनके गले मे पड़ते ही हार बन गया। इसके बाद राणा ने उनके लिए सूली की सेज भेजी। वह उस पर ऐसे सो गयी मानो वह फूलो की सेज हो। मीराँ ने अपने पदो मे इन घटनाओ की ओर सकेत किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह अपने स्वजनो के अत्याचारो को सहन करती रही, पर अपने पथ से विचलित नही हुई।

मीराँ के इन कष्टो की कथा सुनकर उनके पितृव्य काका वीरमदेव ने उन्हे मेड़ता बुला लिया। वह निर्विघ्न रूप से भजन-पूजन मे मग्न रहने लगी, पर वह अधिक समय तक वहाँ भी न रह सकी। सं० १५९५ मे जोधपुर के राव मालदेव ने जब वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया तब मीराँ ने तीर्थ-यात्रा करने का विचार किया। पहले वह वृन्दावन गयी। वहाँ उन्होने चैतन्य-सम्प्रदाय के श्रीजीवगोस्वामी से भेंट की। इसके बाद वहाँ से वह द्वारिका (स० १६०८) चली गयी। द्वारिका पहुँचने पर उन्हे मेवाड़ के तत्कालीन राणा का ब्राह्मणो-द्वारा लौट आने का निमन्त्रण मिला। ब्राह्मणो ने उनसे लौट चलने के लिए अधिक आग्रह किया। मीराँ ने उनका आग्रह देखकर राणा का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, पर कहते है कि जब वह रणछोड़जी से आज्ञा लेने के लिए मन्दिर मे गयी तब वह वही उनकी मूर्ति मे समा गयी। उस

समय के उनके दो पद 'हरि तुम हरो जन की पीर' और 'साजन सुध ज्यो जाने त्यो लीजे हो' प्रसिद्ध है । यह घटना लगभग सम्वत् १६०३ को बताई जाती है ।

मीरॉ की रचनाएँ

मीरॉ कृष्ण की अनन्य उपासिका थी। उन्होने उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना के आवेश मे जो स्वरचित पद गाए है उन्ही का सकलन पुस्तक-रूप मे हम पाते है । उनके पदो के जा प्राचीन प्रमाणिक सग्रह अब तक प्राप्त हुए है उनके आधार पर कई सग्रह इस समय मिलते है । उनके पद गुजराती तथा राजस्थानी मे भी मिलते है । महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने मीराँ की एक कविता-पुस्तक 'राम गोविन्द' और मिश्र-बन्धुओ ने 'राग-सोरठ पद-सग्रह' का उल्लेख किया है, पर इनकी प्रमाणिकता के सम्बन्ध मे अभी निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता । इस समय तक प्राप्त पद ही उनकी रचनाएँ समझी जाती है ।

मीरॉ की भक्ति का स्वरूप

कृष्ण-भक्ता मे मीरॉ का प्रमुख स्थान है । उनकी रचनाओ के आधार पर उनकी भक्ति-भावना के दो स्पष्ट रूप हमारे सामने आते है । इनमे से एक का रूप है **विषादमय** और दूसरे का रूप है **अनुरागमय** । विषादमय रूप का कारण है उनके जीवन की कठोर परिस्थितियाँ और अनुरागमय रूप का कारण है बाल्या-वास्था से ही गिरधारीलाल मे उनकी आस्था । इसी आस्था के बल पर उन्होने अपने जीवन की कटु परिस्थितियो का साहसपूर्वक सामना करते हुए अपनी भक्ति-भावना का विकास किया है । अपने पदो मे उन्होने बार-बार इस बात की ओर सकेत किया है कि गिरधरगोपाल के प्रति उनका प्रम आज का नही, पूर्व जन्म का है —

'पूर्व जनम की प्रीत पुराणी, सो क्यूँ छोड़ी जाय ।'

*　　　　*　　　　*

पूर्व जन्म की प्रीत हमारी, अब नहि जात निवारी ।'

यह पूर्व-जन्म की प्रीति ही मीरॉ की भक्ति का आधार है । मीरॉ ने सास-ससुर की झिड़कियाँ सही, राणा विक्रमादित्य के अत्याचारो का सामना किया, लोक-लाज खोई, ऊदाबाई के सिखावन की उपेक्षा की, अपने लौकिक पति का विस्मरण कर दिया और राजवश की मर्यादाओ का उल्लघन किया, पर 'प्रीत

पुरबली' का परित्याग वह किसी भी हालत मे न कर सकी और अन्त मे वह अपने परमपति मे ऐसी रमी कि उसी मे समा गई । परमपति के प्रति उनका यह अनुराग, गिरधरगोपाल के प्रति उनकी यह तन्मयता कृष्ण-भक्तों मे उन्हे सबसे ऊँचा उठा देती है और उनकी भक्ति-भावना के आगे बडे-बडे भक्त पीछे छूट जाते है ।

मीराँ की भक्ति कान्ता-भाव की भक्ति है । लौकिक दृष्टि से भोजराज उनके पति है, पर आध्यात्मिक दृष्टि से गिरधरगोपाल उनके 'परमपति' है । अपने इस क्षेत्र मे उन्होने अपने 'परमपति' को कही सगुण-रूप मे और कही निर्गुण-रूप मे चित्रित कर अपनी भक्ति-भावना का प्रसार किया है। जहाँ उन्होने अपने 'परमपति' को निर्गुण-निराकार' रूप मे याद किया है वहाँ कबीर आदि ज्ञानी-भक्तो के प्रभाव से उनकी भक्ति-भावना रहस्यात्मक हो गई है —

'मेरो को नहि रोकणहार, मगन होइ मीराँ चली ।
लाज, सरम, कुल की मरजादा, सिर सैं दूरि करी ।
मान-अपमान छोड़ घर पटके, निकसी हूँ ज्ञान-गली ।
ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निगुंण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली ।
बाजूबद कडूला सोहै, सिन्दुर माग भरी ।
सुमिरन थाल साथ मे लीन्हा, सोभा अधिक खरी ।
सेज सुखमणा मीराँ सोहै, सुभ है आज घरी ।
तुम जावो राजा घर अपणे, मेरी तेरी नाहिं सरी '

पर मीराँ की भक्ति का यह वास्तविक रग नही है । साधु-सतो के सत्सग मे उनके मुख से जो कुछ निकला होगा, वह सभवत इसी रग मे रहा होगा और उन्होने इसे अपनी साधना का अग बना लिया होगा । मीराँ की भक्ति सगुण-भक्ति ही है और वह है भावना-प्रधान । उनके गिरधरगोपाल वस्तुत वही गिरधरगोपाल है जो वृन्दावन-बिहारी है और गोपियो के साथ रासलीला मे मग्न रहते है । वह उन्ही गोपाल को अपना 'परमपति' मानती है, उन्ही मे रमती है और अनन्त उन्ही मे लीन हो जाती है । उन्होने कभी इन्ही गोपाल को 'शून्य महल' मे देखकर सेज सुखमणा' का ध्यान किया है और कभी ब्रज की गलियो मे गोपियो के साथ

प्रेम-लीलाएँ करते हुए देखा है । उन्ही गलियो, उन्ही गोपियो और उन्ही प्रेम-लीलाओ के बीच अपने आपको रखकर मीराँ ने गोपी-भाव से अपने व्यक्तित्व का विकास और अपनी भक्ति-भावन क प्रसार किया है —

'जब से मोहिं नंद-नदन, द्दष्टि पड़्यो माई ।
तब से परलोक-लोक कछू ना सुहाई ।'

* * *

'मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ ।
जहा बैठाये तितही बैठू, बेचै तो बिकजाऊँ ॥'

* * *

'मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चेरी भई बिन मोलै ।
कृष्णरूप छकी है ग्वालनि, औरहि-औरहि बोलै ॥'

इसी 'कछू ना सुहाई' 'बेचै तो बिकजाऊँ' और 'औरहि-औरहि बोलै' में मीराँ की भक्ति का वास्तविक रूप निहित है ।

भक्ति दो प्रकार की होती है (१) साधन-रूपा और (२) साध्य रूपा । साधन-रूपा भक्ति को नौधा भक्ति भी कहते है । इसके अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, पूजन, पाद-सेवन आदि का विधान होता है । साध्य-रूपा भक्ति प्रेममयी होती है । इसके सामने भक्त मुक्ति की भी चिन्ता नही करता । मीराँ की भक्ति साधन-रूपा भी है और साध्य-रूपा भी । उनकी साधन-रूपा भक्ति पर एक ओर बल्लभ-सप्रदाय का प्रभाव मालूम होता है तो दूसरी ओर चैतन्य-सप्रदाय का । बल्लभ-सप्रदाय का प्रभाव उनकी पूजा-विधि पर पडा है और चैतन्य-सप्रदाय का प्रभाव उनकी कीर्तन-प्रणाली पर । उनकी इहि-लीला की समाप्ति भी इसी के अनुकूल हुई । उनके पदो से यह कही स्पष्ट नही होता कि उन्होने किसी सप्रदाय मे दीक्षाली थी । उन्होंने अपनी भक्ति-भावना का किसी सप्रदाय विशेष से गठबधन नही किया है । उन्होने अपने लौकिक जीवन मे जिस प्रकार अपनी स्वतत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है, उसी प्रकार उन्होने अपने समय के विभिन्न सप्रदायो की साधना-पद्धति से प्रभावित होते हुए भी उनसे अपने आपको अलग रखा है और स्वतत्र रूप से अपने आध्यात्मिक जीवन का पथ निर्माण किया है । यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना का विकास एव

प्रसार सकुचित वातावरण मे नही हुआ है । उनकी भावना सर्वथा उदार थी और उनकी साधना कई दिशाओ मे फैली हुई थी ।

मीराँ की काव्य-साधना

मीराँ का आविर्भाव ऐसे समय मे हुआ था जब दिल्ली मे लोदी-बश के अनन्तर अकबर ने अपने राज्य की स्थापना की थी । उस समय तक राजस्थान पर मुसलमानो का कोई स्थाई प्रभाव नही पड़ा था, पर उनके आगमन से भारत की विचार-धारा अवश्य प्रभावित हो गई थी । पंजाब मे गुरु नानक देव, बङ्गाल मे श्री चैतन्य देव, ब्रजमण्डल मे महाप्रभु बल्लभाचार्य तथा सूफी-परम्पराओं के हिन्दी-कवियो ने अपनी वाणी और रचनाओ से हिन्दी-साहित्य पर अधिक प्रभाव डाला था । अत उस समय ज्ञान, प्रेम और भक्ति सम्बन्धी तीन मुख्य धाराएँ हिन्दी-साहित्य मे चल रही थी । इन तीनो विचार-धाराओ का मीराँबाई पर भी न्यूनाधिक प्रभाव पडा, किन्तु उनके लिए उनके जीवन की घटनाएँ भी कम महत्व-पूर्ण सिद्ध नही हुई । एक ओर लौकिक जीवन की यातनाएँ, दूसरी ओर गिरधरगोपाल के प्रति उनका जन्म-जन्मान्तर का अनन्य प्रेम, इन दोनो के संघर्ष के बीच ही मीराँ के हृदय की वाणी का विकास हुआ है ।

(मीराँ का सम्पूर्ण काव्य प्राय आत्म-कथात्मक काव्य है । इस प्रकार के काव्य मे कवि जो कुछ कहता है उसका उसी के जीवन से सीधा सम्बन्ध होता है । जीवन के उतार-चढाव, सुख-दुख, सब उसमे एक क्रम से चित्रित रहते है । मीराँ का काव्य इससे कुछ भिन्न है । मीराँ ने जो कुछ कहा है एक सिलसिले से न कहकर समय-समय पर गेय पदो मे कहा है । इसलिए उनका तारतम्य मिलाने मे विशेष कठिनाई होती है । इस कठिनाई के होते हुए भी अध्ययन के आधार पर हम उनके काव्य-विषय को निम्न भागो मे विभाजित कर सकते है ।

(१) **जीवन-सम्बन्धी पद**—मीराँ ने अपने कई पदो मे अपने जीवन की मार्मिक घटनाओ की ओर सकेत किया है । जीवन के प्रभात मे गिरधरगोपाल के प्रति प्रेम का अकुर उनके हृदय मे कैसे फूटा, साधु-सतो के सत्सग मे वह अकुर कैसे पल्लवित हुआ, परिवार के लोगो ने उस अकुर के मूल पर कैसे कुठाराघात किया और उस कुठाराघात को सहते हुए मीराँ ने कैसे अपनी भक्ति-

भावना का प्रसार किया इन सब प्रश्नो का उत्तर सहज ही हमे उनके पदो से मिल जाता है। विशेषता यह है कि मीराँ स्वजीवन सम्बन्धी घटनाओं के चित्रण के साथ-साथ अपने हृदय की विवशता और उसके द्वन्द्व का भी आभास देती रहती है।

✓ **(२) रूप और लीला-वर्णन सम्बन्धी पद**—मीराँ ने अपने गिरधर-गोपाल के रूप-वर्णन मे सूर तथा अन्य भक्त-कवियो की ही शैली अपनाई है। इस सम्बन्ध मे हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि मीराँ के गिरधरगोपाल सूर के बाल-कृष्ण नही है। सूर ने कृष्ण के बाल-रूप का चित्रण किया है और मीराँ ने अपने परमपति गिरधरगोपाल के प्रौढ रूप का, फिर भी वह उनके रूप-वर्णन मे 'छुद्र घट किंकिनी' की उपेक्षा नही कर सकी है। वास्तव मे गिरधर-गोपाल का रूप-वर्णन उनका मुख्य विषय नही है। इसलिए उन्होने उसे यो ही चलता कर दिया है। यही बात उनके लीला-वर्णन के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। उनका मन कृष्ण-लीला मे उतना नही रमा है जितना गिरधरगोपाल के व्यक्तित्व मे। पत्नीत्व का चरमोत्कर्ष केवल इसी प्रकार की भावना के सफल निर्वाह से होता है। मीराँ ने सकटापन्न अपनी जीवन-परिस्थितियो के बीच अपने 'परमपति' को केवल गिरधरगोपाल के रूप मे देखा है, उस गिरधरगोपाल के रूप मे देखा है जो गोप-गोपिकाओ का रक्षक और उनकी विपत्तियो का भक्षक है। मीराँ अपने लिए भी उनसे यही आशा करती है और इसी के लिए उनसे बार-बार याचना करती है। इसलिए मीराँ के काव्य मे न तो रूप-वर्णन की विशेषता है और न लीला-वर्णन की। यदि उनको कुछ विशेषता है तो केवल उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से।

✓ **(३) प्रकृति और पर्व-वर्णन-सम्बन्धी पद**—मीराँ ने अपने कुछ पदो मे उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही प्रकृति और पर्व का चित्रण किया है। उनका वर्षा-वर्णन अत्यन्त सजीव और आकर्षक है —

> 'झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
> सावन मे उमंग्यो मेरो मनवा, भनक पड़ी हरि-आवन की॥
> उमड-घुमड़ चहुँ दिशि से आयो, दामण दमक झर लावन की।

नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सुहावन की ॥
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, आनन्द-मङ्गल गावन की ।'

मीराँ ने प्रकृति को किस दृष्टि से देखा है और वह उसके विभिन्न रूपों से कैसे और किस रूप मे प्रभावित हुई है—इसके लिए उनका 'बारह मासा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमे प्रमुख पर्वो के उल्लेख के साथ-साथ उन्होने अपने हृदय की सारी आकुलता-व्याकुलता उँडेल दी है। पर्वो मे उन्होने 'होली' का वर्णन रहस्यात्मक ढङ्ग से किया है —

'फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे ॥'

वृन्दावन कृष्ण की लीला-भूमि रही है, इसलिए मीराँ ने अपने कुछ पदो मे उसकी भी झाकियाँ उतारी है और उनमे कृष्ण की नित्य-लीला का दर्शन किया है।

(४) रहस्य-भावना-सम्बन्धी पद—मीराँ के कुछ पदो पर निर्गुण-भक्तो की विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव पडा है ओर उनमे उनकी रहस्य भावना व्यक्त हुई है। सतगुरु, निरजण, कीगरी, ग्यान-गली, सत-रग, निरगुण सेज, पचरगी झालर, सेज सुखमणा, सुरत की डोरी, ज्ञान की ढोल, निरत आदि सत-साधना के प्रभाव से ही उनके पदो मे स्थान पा सके है। परन्तु लगता है, जैसे-जैसे गिरधर-गोपाल के प्रेम का रग उन पर चढता गया है वैसे-वैसे उन पर पड़ा हुआ यह प्रभाव घटता गया है। इसलिए ऐसे पदो का उनकी भक्ति-भावना के विकास मे उन पर पडे हुए प्रभावो का मूल्य आकने के अतिरिक्त कोई महत्व नही है।

(५) दर्शन-सम्बन्धी पद—मीराँ ने कुछ पद ऐसे भी रचे है जिनसे उनके दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तो का आभास मिलता है। इस सम्बन्ध मे हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि वह दार्शनिक नही थी। इसलिए ईश्वर, जीव, माया आदि के चक्र-व्यूह मे वह नही पड़ी। अपनी भक्ति-भावना की पुष्टि मे उन्होने केवल यही कहा है :—

'भज मन चरण कंवल अविनासी।
जेताइ दीसे धरण गगन बिच, तेताइ सब उठ जासी ॥'

संसार की क्षणभंगुरता, उसके स्वार्थ और उसमे फैले हुए पाखड के प्रति

उनकी जागरूकता ने उनकी भक्ति-भावना के विकास के लिए एक सबल आधार प्रदान किया है। साथ ही जीवन और ईश्वर के सम्बन्ध मे उनके इस विचार—'तुम बिच हम बिच अन्तर नाही, जैसे सूरज-घामा'—ने उन्हे अपने गिरिधर के साथ तादात्म-सम्बन्ध स्थापित करने की प्ररणा दी है।

(६) **वियोग-वर्णन-सम्बन्धी पद**—हम अन्यत्र बता चुके है कि मीराँ की भक्ति काता-भाव की भक्ति है। दूसरे शब्दो मे इसी को माधुर्य-भाव की भक्ति कहते है। इस क्षेत्र मे मीराँ अनन्य है। कहने के लिए कबीर ने भी अपने आप को 'राम की बहुरिया' माना है और नारी-हृदय की वियोग-जन्य विभिन्न दशाओ एव अनुभूतियो का चित्रण किया है, पर उनका वह चित्रण उनकी दार्शनिकता के आग्रह के कारण इतना अस्वभाविक हो गया है कि हमारे हृदय को स्पर्श करने मे असमर्थ हो जाता है। मीराँ के सबन्ध मे प्रकार की शका के लिए कोई स्थान नही है। उनका हृदय एक सच्चा नारी-हृदय है और वह अपने गिरधरगोपाल की इस जन्म की ही पत्नी नही है, उनसे उनकी 'प्रीत पुराणी' है। यही 'प्रीत पुराणी' मीराँ के लौकिक एव आध्यात्मिक जीवन का सर्वस्व है। मीराँ ने इस 'प्रीत पुराणी' को अपने लौकिक जीवन से एक क्षण के लिए भी अलग नही किया है। 'और न कोई नातो' ही वह बराबर कहती रही है। इस 'नाते' का सूत्रपात कैसे हुआ ? यह भी मीराँ के शब्दो मे जान लीजिए —

> 'माई म्हॉने सुपने मे परण गया जगदीश।
> सोती को सुपना अविआजी, सुपना विस्वाबीस ॥'

इसी स्वप्न के फलस्वरूप उनके माता-पिता ने उन्हे गिरधरगोपाल को सौप दिया :—

> 'माता-पिता तुमको दियो, तुम ही भलजानी हो।
> तुम तजि और भतार को, मन मे नहिं आनी हो ॥'

मीराँ की इस पूत भावना मे उनके हृदय का सपूर्ण त्याग और समर्पण सजग और साकार हो उठा है, परन्तु उनके जीवन की विडबना यह है कि जिसे उन्होने पति रूप मे स्वीकार कर अपनी 'लाज सरम कुल की मरजादा' को तिलाजलि दे

दी, वह उनके 'तलफल प्राणि' का रहस्य ही नही समझता। दशा तो कुछ इस प्रकार की है —

'पानी पीर न जाणई, मीन तलफि मरिजाइ।
रसिक मधुप के मरम को, नहिं समझत कँवल सुभाइ।
दीपक को जु दया नहीं, उड़ि-उड़ि मरत पतग।'

यही है मीराँ की वेदना की तीव्रता का मुख्य कारण। वह ज्यो-ज्यो 'स्याम रग' मे डूबी है त्यो-त्यो उनकी वेदना का रग प्रगाढ होता गया है और वह यह कहती हुई सुनाई पडती है —

'रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवे, बिरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावे।
बिन पिय जोत मदिर अँधियारो, दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावै॥'

विरह-वेदना की इस स्थिति मे जब उन्हे अपने प्रिय के आने का किंचित आभास मिलता है तब उनकी उत्कठा इस पक्ति मे देखिए —

'ऊँची चढ़-चढ पथ निहारूँ, रोय-रोय अँखियाँ राती।'

परन्तु जब उनके प्रिय नही आते और उन्हे पपीहा की 'पीव-पीव' रट सुनाई देती है तब उनका नारी-हृदय उसके प्रति ईर्ष्या से भर जाता है और वह उस पर बरस पडती है —

'पपइया रे पिव की बोली न बोल।
सुणि पविली विरहणी रे, थोरा रालैली पाँख मरोड़॥
चोच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि काला लूण।
पिय मेरा, मै पीव की रे, तू पिव कहै सु कूण॥'

और फिर वह इसी पद मे एक कौवे से कहती है —

'प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतमजू सूँ यूँ कहे रे, थारी विरहिणी धान न खाइ॥
मीराँदासी व्याकुल रे, पिव-पिव करत बिहाइ।
बेगि, मिलो प्रभु अंतरजामी, तुम बिन रह्यो न जाइ॥'

परन्तु मीराँ की वेदना इतनी तीव्र है कि पत्र लिखना तो दूर, उनमे कुछ कहने की भी शक्ति नही है —

'पतियाँ मै कैसे लिखूँ, लिखि ही न जाइ ।
कलम धरत मेरो कर कपत, हिरदै रह्यो धर्राइ ।
बात कहूँ, मोहि बात न आवै, नैन रहे झर्राइ ।'

इस स्थिति मे पहुँचने पर भी जब मीराँ को अपने प्रिय का दीदार नसीब नही होता तब उनका नारी-हृदय यह कहने से नही चूकता —

'कौण सखी सूँ तुम रंग राते, हम सूँ अधिक पियारी ।'

इस खीज और उपालभ के बावजूद भी उनकी एक मात्र यही अभिलाषा है :—

'मै तो गिरधर के घर जाऊँ ।'

या फिर :—

'पिया अब घर आज्यो मेरे ।'

इस प्रकार हम देखते है कि मीराँ का वियोग-वर्णन अपनी विशेषताओ के कारण हिन्दी के काव्य-साहित्य मे अद्वितीय है। उसमे मीराँ के नारी-हृदय की सपूर्ण अनुभूतियाँ एक साथ चीत्कार कर उठी हैं। शास्त्रीय दृष्टि से खोजने पर उसमे वियोग की अनेक अन्तर्दशाएँ मिल जायँगी, परन्तु फिर भी वह शास्त्रीय नही है। पति का वियोग होने पर एक हिन्दू-नारी जिस वेदना और टीस का अनुभव करती है, मीराँ ने उसी का स्वाभाविक चित्रण किया है और यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

मीराँ के काव्य की इस सक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि वह उच्चकोटि की साधिका थी। वस्तुत कविता करना उनका उद्देश्य नही था। पर प्रेमावेश मे आकर उन्होने पत्नी-रूप मे अपने प्रियतम गिरधरगोपाल के समक्ष अपने अन्तस्तल के स्फीत उद्‌गारो को जिस माध्यम-द्वारा व्यक्त किया है उसे हम कविता ही कह सकते है। जायसी, सूर और तुलसी भी ऐसी ही परिस्थितियो के कवि थे। इसलिए मीराँ की कविता, काव्य-कला की कसौटी पर खरी न उतरने पर भी कविता ही है। उसमे जो तन्मयता है वही उसका आभूषण है। वस्तुत इसी

तन्मयता के कारण उत्तर भारत के घर-घर मे मीराँ के पद गाकर लोग अपने जन्म को सफल बनाते है। सर्वसाधारण मे उनका नाम सूर और तुलसी के बाद ही लिया जाता है। साधु-सन्त उन्ही का गीत गाकर अपनी भक्ति-भावना का परिचय देते है। उनकी प्रेम-वाणी मे अलौकिक बल और पुरुषार्थ का सन्देश है और वह हमारे हृदय की सम्वेदना जागृत करने मे समर्थ है। इसलिए आज वह प्रेम की कवयित्रियो मे सर्वश्रेष्ठ और सर्वात्मसमर्पण की सीमा का शृ गार करने मे सर्वाधिक सफल मानी जाती है।

मीराँ की शैली

मीराँ ने जो कुछ भी कहा है वह कबीर और सूर की भाँति विभिन्न राग-रागिनियो के अन्तर्गत गेय पदो मे ही कहा है। इसलिए हम उनकी शैली को गीत-काव्य की शैली कह सकते है। शास्त्रीय दृष्टि से यह शैली मुक्तक के अन्तर्गत आती है। मुक्तक दो प्रकार का होता है (१) भाव-प्रधान और (२) प्रबन्ध-प्रधान। मीराँ ने दोनो प्रकार के मुक्तको की रचना की है। उनके भाव-प्रधान-मुक्तको मे वे पद आते है जिनमे उन्होने अपनी अनुभूतियो का चित्रण किया है और उनके प्रबन्ध-प्रधान-मुक्तको मे उनकी गणना की जा सकती है जिनमे उन्होने या तो अपनी जीवनपरक घटनाओ का समावेश किया है, या अपने परमपति की लीलाओ आदि का वर्णन। इन दोनो प्रकार की शैलियो के आयोजन मे वह सफल है।

शैली के आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध रस से होता है। मीराँ की रचनाएँ शृ ंगार रस से ओत-प्रोत है। वियोग शृ ंगार के वर्णन मे उनकी कला अद्वितीय है। इस क्षेत्र मे उनके आलम्बन हैं गिरिधर गोपाल जिन्हे उन्होने राम, रमैया, हरि, गोविन्द, नन्दनन्दन, कान्हा, साहब, सइयाँ आदि कई नामो से सम्बोधित किया है। उनके पदो मे उनका रति-भाव विविध विभावानुभाव से पुष्ट होकर व्यक्त हुआ है। उनमे व्यभिचारी भावो का चित्रण ही अधिक है। शृ गार के अतिरिक्त शात रस सम्बन्धी पद भी उनकी रचनाओ मे मिलते है।

शैली के बाह्य पक्ष मे भाषा, अलकार और छन्द को स्थान दिया जाता है। मीराँ की भाषा मे कृत्रिमता नही है। भावावेश मे उनकी भाषा ने जो रूप

धारण किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। अलंकारो का विधान उनमे आप ही आप हो गया है। मीरॉ के कई पद रूपक पर आधारित है और उन पर सतो की शैली का प्रभाव है। रूपक के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, उदाहरण आदि भी उनकी रचनाओ मे मिलते है।

मीराँ की छन्द-योजना पिंगल के नियम आदि का अनुसरण नही करती। लगता है, मीरॉ को पिंगल का अच्छा ज्ञान नही है। उन्होने अपने पदो को गेय बनाने के लिए केवल स्वर, ताल और लय का ही ध्यान रखा है। इसीलिए किसी पद मे मात्राएँ बढ जाती है और किसी मे कम हो जाती है। कही-कही शब्दो की वृद्धि अथवा कमी भी खटकती है। इन दोषो के होते हुये भी गेय पदो में अनेकरूपता अवश्य है और ये मीरॉ की अनुभूतियो को व्यक्त करने मे सफल है।

मीरॉ की भाषा !—

भाषा की दृष्टि से मीराँ के पदो को हम तीन वर्गो मे विभाजित कर सकते है (१) राजस्थानी भाषा के पद, (२) राजस्थानी से प्रभावित ब्रजभाषा के पद और (३) ब्रजभाषा के पद। मीरॉ का जन्म राजस्थान मे हुआ था और वही उनका सम्पूर्ण जीवन बीता। इसलिए राजस्थानी अथवा पिंगल उनकी मातृ-भाषा है। इस भाषा मे उनके गेय पद बड़े सुन्दर, भावपूर्ण और सरस है, पर अपने जिन पदो मे उन्होने डिंगल से प्रभावित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है उनमे अधिक सरसता नही पाई जाती। 'बसो मोरे नैनन मे नन्दलाल' आदि पदो मे उनकी ब्रजभाषा का रूप अपने सम्पूर्ण माधुर्य के साथ वर्तमान है। उनके ऐसे पदो मे सूर के पदो की सी सरसता और प्रवाह है। कुछ पद ऐसे है जिनमें गुजराती, फारसी तथा पजाबी भाषाओ के शब्दा का मेल हो गया है। फारसी के शब्दो का मीरॉ ने तद्भव रूप मे ही प्रयोग किया है। दस्त, हरामी, अरज, सदकै, सिलाम, महरि, खानाजाद आदि शब्द उनकी रचनाओ मे स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। कही-कही खड़ीबोली की विभक्तियो का भी प्रयोग पाया जाता है। व्याकरण के नियम साधारणत भाषा के अनुसार ही प्रयोग मे लाये गये है। इस प्रकार हम देखते है कि भाषा की दृष्टि से मीरॉ के पद भिन्न-भिन्न भाषाओ से उसी प्रकार प्रभावित है जिस प्रकार कबीर के पद। कबीर की भाँति ही मीराँ का जीवन

थी। साधु सन्तो के बीच बीता था और उन्होने मेवाड़ से वृन्दावन तथा द्वारिकापुरी की यात्रा की थी। अत उनकी रचनाओ मे उन स्थानो की भाषाओ के भिन्न-भिन्न शब्दो का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। ऐसी दशा मे हम यह कह सकते है कि मीराँ की भाषा साहित्यिक भाषा नही है। उसमे प्रवाह नही, माधुर्य अवश्य है। उसकी शैली सीधी-सादी, सरल आकर्षक है।

मीराँ और कबीर : तुलनात्मक अध्ययन

अब मीराँ और कबीर पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। साधना के क्षेत्र मे कबीर ज्ञानी सन्त और एक विशिष्ट दृष्टिकोण के समर्थक है। इसलिए वह विभिन्न प्रचलित मतो का खण्डन-मण्डन भी करते है। कर्म-काड, भजन कीर्तन के वह विरोधी है। रहस्यानुभूति के क्षेत्र मे यद्यपि वह अपने आपको 'राम की बहुरिया' मानते है तथापि वह अपने राम' के सगुण रूप के उपासक नही है। इसके विपरीत मीराँ ने माधुर्य-भाव से अपने इष्टदेव गिरिधरगोपाल की उपासना की है। यद्यपि उनकी उपासना प्रारम्भ मे ज्ञानी-सतो की वाणी से प्रभावित जान पड़ती तथापि वह भगवान् के सगुण रूप की ही उपासिका है। वास्तव मे दोनो के समन्वय मे ही उनकी उपासना का विकास हुआ है। उन्होने न तो किसी विशेष मत का प्रणयन किया और न विभिन्न मतो का खण्डन-मण्डन ही किया है। अतः उनकी वाणी मे मिठास, माधुर्य और आकर्षण है। कबीर अपनी वाणी में अधिकाश शुष्क और नीरस है। मीराँ मे तन्मयता है, प्रेम का उफान है, हृदय को अद्वेलित और अनुप्राणित करने की शक्ति है। कबीर इस शक्ति से वचित है। उनमे सब कुछ है, प्रेम की तन्मयता नही है। म रॉ मे प्रेम की तन्मयता के अतिरिक्त कुछ भी नही है। कबीर मस्तिष्क के कवि हैं और मीराँ हृदय की कवयित्री। साधना के क्षेत्र मे दोनो ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है। अपनी साधना का निर्माण करने के लिये न तो कबीर किसी के ऋणी है और न मीराँ। दोनो बचपन से ही अपनी साधना मे लगे है। कबीर ने ज्ञान मार्ग अपनाया है, मीराँ ने भक्ति-मार्ग। भाषा के क्षेत्र मे दोनो का स्थान समान है। दोनो ने कई भाषाओ तथा बोलियो से प्रभावित खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार

दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे महान है—कबीर अपने ज्ञान के कारण और मीराँ अपनी प्रेम-भावना के कारण। हिन्दू-जनता मे दोनो की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

मीराँ और सूर : तुलनात्मक अध्ययन

सगुण भक्ति के आधार पर हम मीराँ की तुलना सूर से भी कर सकते है। मीराँ और सूर दोनो कृष्ण-भक्त थे, दोनो समकालीन भी थे, दोनो ने गेय पदो की रचना की थी। पर दोनो की उपासना मे अन्तर है। सूर की उपासना मुख्यत. सख्य-भाव की है और मीराँ की माधुर्य-भाव की। सूर ने कृष्ण की बाल-लीलाओ का ही चित्रण विशेष रूप से किया है और इस क्षेत्र मे वह वेजोड़ है। मीराँ ने दाम्पत्य जीवन के विरह और प्रेम का चित्रण किया है। सूर ने ब्रज-सुन्दरियो के विरह और प्रेम की ब्रज-वाणी मे माधुर्य-भावपूर्ण रचना की है। इसलिये मीराँ की-सी तन्मयता सूर मे नही आ पाई है। सूर की गोपियाँ तन्मयता मे, आत्म-समर्पण मे, त्याग मे मीराँ के समक्ष नही बैठ सकती। सूर की गोपिकाएँ कृष्ण की परकीया-प्रेमिकाएँ है और मीराँ अपने आपको कृष्ण की पत्नी मानती है। एक पत्नी अपने पति के लिये जितना आत्म-समर्पण कर सकती है, मीराँ उसकी आदर्श है। इसीलिए उन्होने अपने कृष्ण को दोनो रूपो मे अपनाया है। गोपियो की भाँति तर्क की तुला पर उन्होने एक रूप को अत्यधिक महत्व देना और दूसरे रूप का तिरस्कार करना उचित नही समझा। मीराँ की यह विशेषता उन्हे गोपियो से आगे बढा देती है। इस प्रकार यदि सूर बालकृष्ण की लीलाओ के चित्रण मे वेजोड़ है तो मीराँ अपने माधुर्य-भाव के चित्रण मे। सूर जिस माधुर्य भाव का गोपियो के माध्यम-द्वारा चित्रण करने मे सफल हुए है, मीराँ उसकी स्वय माध्यम है। इसलिए सूर इस क्षेत्र मे मीराँ की समता नही कर सकते। मीराँ का रूप-वर्णन भी सूर के रूप वर्णन से उत्कृष्ट, आकर्षण और मोहक है। बात यह है कि रूपासक्ति से ही मीरा का प्रेम आरम्भ हुआ था। इसलिए वह कृष्ण के रूप पर ही दीवानी हो गईं और अन्त तक उसी छबि की पुजारिन बनी रही। यही कारण है कि हम उनके पदो मे रूप-वर्णन के अतिरिक्त शक्ति और शील की चर्चा नही पाते। सूर ने अपने पदो मे रूप, शक्ति और शील तीनो की चर्चा की है।

मीरा ने शृंगार के विरह-पक्ष का ही चित्रण अत्यन्त सफलतापूर्वक

किया है, पर सूर ने दोनो पक्षो मे अपने काव्य-कौशल का चमत्कार दिखाया है। कृष्ण के प्रति सूर की विरह-वेदना गोपियो द्वारा व्यजित हुई है। इसलिए उसमे सूर सामने न आकर गोपियाँ ही सामने आती है। काव्य की दृष्टि से सूर में कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनो की समान रूप से प्रधानता है, मीराँ मे केवल भाव-पक्ष है। इस प्रकार सूर और मीराँ दोनो एक ही पथ के पथिक होने पर भी एक नही है।

---

६ : गोस्वामी तुलसीदास

जन्म-स० १५५४ मृत्यु-सं० १६८०

जीवन-परिचय

गोस्वामी तुलसीदास कब और कहाँ उत्पन्न हुए, इस सबध मे हिन्दी के विद्वान एक मत नही है। कुछ लोग 'घट रामायण' के अनुसार तुलसीदास की जन्म-तिथि भाद्रपद शुक्ला ११, मगलवार, स० १५८९ मानते है, परन्तु लोग गोस्वामीजी के समकालीन बाबा बेनीमाधव दास-कृत 'मूल गोसाई चरित' के एक दोहे के आधार पर श्रावण शुक्ला सप्तमी, सं० १५५४ को ही उनकी जन्म-तिथि स्वीकार करते है। वह दोहा इस प्रकार है :—

'पंदरह सै चउवन विषै, कालिन्दी. के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर ॥'

गोस्वामीजी की शिष्य-परपरा मे होनेवाले काशी-निवासी प० शिवलाल पाठक ने भी उक्त जन्म-तिथि को ही प्रमाणिक माना है। उन्होने अपनी रचना 'मानस-मयक' मे जो दोहा कहा है वह इस प्रकार है .—

'मन (४) ऊपर सर (५) जानियै, सर (५) पर दीन्हें एक।
तुलसी प्रगटे राम वत, राम जनम की टेक ॥
सुने गुरु से बीच सर (५) संत बीच मन (४०) गान।
प्रगटे सत्तहत्तर परे, ताते कहे चिरान ॥'

पाठकजी के अनुसार गोस्वामी ने ५ वर्ष की आवस्था में अपने गुरु से राम-कथा सुनी और फिर वही कथा ४० वर्ष की अवस्था मे सुनी । इस दोबारा सुनी हुई राम-कथा के आधार पर ७७ वर्ष की अवस्था मे उन्होने 'रामचरित मानस' की रचना आरभ की । गोस्वामीजी ने 'रामचरित मानस' मे लिखा है —

'संवत सोलह सै एकतीसा । करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा ।'

इस चौपाई के अनुसार 'रामचरित मानस' का प्रणयन सं० १६३१ से आरभ हुआ । यदि हम १५५४ मे ७७ जोड़ दे तो स० १६३१ निकल आता है । सभवत इन्ही प्रमाणो के आधार पर प्रति वर्ष श्रावण शुक्ला सप्तमी को तुलसी-जयन्ती मनाने की परपरा चल पड़ी है । इसके आगे अभी 'घट रामायण' का प्रमाण संदिग्ध ही है । 'घट रामयण' के अनुसार गोस्वामीजी की आयु ९१ वर्ष और 'मूल गोसाई' चरित' के अनुसार १२६ वर्ष ठहरती है । उनकी इस प्रकार आयु गणना के दो आधार है । एक तो यह —

'संवत सोरह से असी, असी गङ्ग के तीर ।
श्रावण सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥'

और दूसरा बाबा बेनीमाधव दास-कृत 'मूल गोसाई चरित' के आधार पर यह है :—

'सवत सोरह सौ असी, असी गङ्ग के तीर ।
श्रावण कृष्णा, तीज, शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥

उक्त दोनो दोहो मे तिथियो का ही अन्तर है, सवत और स्थान एक ही हैं । इसलिए गोस्वामीजी के मृत्यु सं० के सबध मे दो मत नही है ।

गोस्वामीजी के जन्म-स्थान के सबध मे भी दो मत है । एक मत के अनुसार उनका जन्म-स्थान सोरो जिला एटा माना जाता है, परन्तु 'घट रामायण' और 'मूल गोसाई-चरित' के अनुसार उनका जन्म-स्थान यमुना-तट पर बसा राजापुर–जिला बाँदा है । आजकल यही मत प्रमाणिक माना जाता है ।

गोस्वामीजी सरयूपारी ब्राह्मण थे । उनका बचपन का नाम रामबोला, उनके पिता का नाम आत्माराम और उनकी माता का नाम हुलसी था । बचपन मे ही अपने माता-पिता की छत्र-छाया से वचित होने के कारण उन्हे अनेक

कठिनाइयो का सामना करना पडा । उस समय साधु-संत इधर-उधर घुमा-फिरा करते थे । ५ वर्ष की अवस्था मे गोस्वामीजी उनके सपर्क मे आ गये । उनमे बाबा नरहरिदास मुख्य थे । गोस्वामीजी उन्ही के शिष्य हो गये । उन्ही के मुख से गोस्वामीजी ने पहली बार शूकरक्षेत्र वर्तमान सोरो मे राम-कथा सुनी । इस राम-कथा ने उनके बाल-हृदय मे राम-भक्ति का बीज बो दिया और उन्हे धार्मिक ग्रथो के अध्ययन की प्रेरणा दी । काशी मे रहकर उन्होने कई वर्षो तक वेद, पुराण, दर्शन-शास्त्र आदि का गभीर अध्ययन किया । कहते है, काशी से वह कुछ दिनो के लिए राजापुर चले गये और वही दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्ना के साथ उनका विवाह हुआ । तरुण तुलसी रत्ना के रूप-गुण पर मुग्ध होकर अपना सब कुछ भूल गये । उनकी इस प्रकार की आसक्ति देख कर एक दिन रत्ना ने उनसे कहा —

'अस्थि चर्ममय देह मम, तामै जैसी प्रीति ।
तैसी जौ श्रीराम मँह, होति न तो भव-भीति ।।'

अपनी स्त्री का यह व्यग तुलसी सहन न कर सके । वह तुरन्त घर से निकल पडे । इस समय तक वह सभवतः ४० वर्ष के हो चुके थे । गुरु नरहरिदास से उन्होने पुन राम-कथा सुनी और उसका रहस्य जानने के लिए वह काशी आकर बडी तत्परता से धार्मिक ग्रथो का अध्यन करने लगे । उन्होने जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारिका, बद्रिरिकाश्रम, कैलाश, मानसरोवर, चित्रकूट आदि तीर्थो की यात्रा की और अन्त मे अयोध्या जाकर 'रामचरित-मानस' लिखना आरंभ किया । काशी मे इस महाकाव्य की समाप्वि हुई ।

काशी मे रहकर गोस्वामीजी ने कई रचनाएँ की । अपनी वृद्धावस्था मे वह अस्सी घाट पर रहा करते थे । अकबर के शासन काल (स० १६१३-६२) के अन्तिम दिनो मे वहाँ उत्पात आरंभ हुआ और वह सं० १६७६ तक बना रहा । इसकी समाप्ति के पश्चात् महामारी फैली । महामारी के शान्त होते-होते गोस्वामीजी की दाहिनी भुजा मे शूल आरभ हुआ । यह शूल धीरे-धीरे बढकर इतना घातक हो गया कि इसने उनकी इहि-लीला ही समाप्त कर दी और राम का वह अनन्य भक्त हमारे बीच से हमेशा के लिए उठ गया ।

गोस्वामीजी की रचनाएँ

गोस्वामीजी ने छोटे-बड़े कई काव्यो की रचना की है। रामलला-नहछू (स० १६४३) उन्होने सोहर छद मे लिखा है। 'रामाज्ञा प्रश्न' (स० १६५६) शकुन विचारने की काव्य-पुस्तक है। यह दोहो मे लिखी गई है। वैराग्य सदीपिनी (स० १६६६) दोहा, चौपाई तथा सोरठा मे ६२ छदो का छोटा-सा काव्य-ग्रथ है। इसमे ज्ञान, भक्ति और वैराग्य आदि का निरूपण किया गया है। रामचरित मानस (स० १६३१-३४) एक महाकाव्य है। इसमे भगवान राम का सपूर्ण चरित्र अकित है। पार्वती-मगल (स० १६४३) एक खड-काव्य है जिसमे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। यह हरिगीतिका छद मे लिखा गया है। जानकी-मगल (स० १६४३) भी एक खड-काव्य है जिसमे राम-जानकी के विवाह का वर्णन अरुण और हरिगीतिका छन्दो मे किया गया है। गीतावली (स० १६२८) मे राम-कथा राग-रागिनियो के अन्तर्गत गेय पदो मे कही गई है। इसमे राम-कथा के वही अश लिये गये है जो प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी है। कृष्ण-गीतावली (स० १६२८) मे कृष्ण-कथा का वर्णन स्फुट पदो मे किया गया है। बरवै-रामायण (स० १६६६) मे राम-कथा बरवै छदो मे कही गई है। इसमे कुल सात काड और ६९ छद है। रस और अलकार का सुन्दर समन्वय इसकी विशेषता है। विनय-पत्रिका (सं० १६४२) मे विभिन्न राग-रागिनियो के अन्तर्गत देवी-देवताओ से कष्ट-निवारण के लिए प्रार्थना की गई है। साथ ही ज्ञान, भक्ति, मोह-माया, ससार की नश्वरता आदि सबंधी पद भी इसमे मिलते है। कवितावली (स० १६६९) मे राम-कथा कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदो मे कही गई है। दोहावली (स० १६४०) मे ५७६ दोहे है। इनमे से कुछ नवीन और शेष अन्य रचनाओ से लिए गये है। दर्शन, उपदेश, भक्ति आदि इनका मूल विषय है। इस प्रकार गोस्वामीजी के कुल १२ काव्य-ग्रथ बताए जाते है। काव्य-शैली की दृष्टि से इनका वर्गीकरण इस प्रकार होगा —

(१) **महाकाव्य**—रामचरित-मानस।

(२) **खड-काव्य**—रामलला-नहछू, जानकी-मगल और पार्वती-मंगल।

(३) **मुक्तक**—गीतावली, कृष्ण-गीतावली, दोहावली, वैराग्य-सदीपिनी, कवितावलो, वरवै-रामायण, रामज्ञाप्रश्न और विनय-प्रत्रिका।

भाषा की दृष्टि से गोस्वासीजी की रचनाओ का वर्गीकरण इस प्रकार होगा—

(१) **अवधी**—रामचरित-मानस, दोहावली, रामलला-नहछू, वैराग्य संदीपिनी, वरवै-रामायण, पार्वती-मगल, जानकी-मगल और रामाज्ञा-प्रश्न।

(२) **ब्रजभाषा**—विनय-पत्रिका, कवितावली और कृष्ण-गीतावली।

गोस्वामीजी की भक्ति का स्वरूप

गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने राम को तीन रूपों मे देखा (१) परमब्रह्म के रूप मे, (२) विष्णु के अवतार के रूप में और (३) दशरथ सुत के रूप मे। दशरथ-सुत राम के रूप मे उन्होने तीन गुणो की प्रतिष्ठा की · (१) सौन्दर्य, (२) शक्ति और (३) शील। सौदर्य, शक्ति और शील से समान्वित राम को उन्होने विष्णु का अवतार मानकर यह घोषणा की —

'जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर, अधम, अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र, धेनु, सुर, धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपा-निधि सज्जन-पीरा॥'

इस प्रकार हरि—विष्णु—ने गोस्वामीजी के राम के रूप मे अवतरित होकर सौंदर्य से जड़-जगम को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, अपनी शक्ति से असुरो को मारकर विप्र, धेनु, सुर और धरनी की रक्षा की और अपने शील से छोटे-बड़े, छूत-अछूत तथा पापी-पुण्यात्मा को गले लगाया। गोस्वामीजी ने राम के इन तीनों गुणो मे से उनके शील को ही विशेष महत्त्व दिया और उसीके आधार पर उन्होंने शील-साधना-समन्वित-भक्ति का आदर्श प्रस्तुत कर लोक-धर्म की व्यवस्था की। भक्ति के आधार पर लोक-धर्म की व्यवस्था करनेवाले वह पहले भक्त थे। उन्होने अपने लोक-धर्म मे प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग, दोनो का सुन्दर समन्वय किया। तात्पर्य यह कि उन्होने दशरथ-सुत राम के व्यक्तित्व मे विष्णुत्व की प्रतिष्ठा कर उसके आधार पर अपनी भक्ति का ऐसा स्वरूप स्थिर किया जिसमे एक ओर तो ससार-त्याग का निषेध था और दूसरी ओर ससार के कल्याण के लिए बड़े-से-बड़े त्याग की उच्च भावना निहित थी। अपनी इस शील-साधना से

प्रभावित प्रवृत्ति-निवृत्ति-समन्वित भक्ति मे तेजस्विता, प्रखरता, दृढता और गहनता लाने के लिए उन्होने पार्वती की शका का समाधान कराते हुए शिवजी के मुख से कहलाया :—

'मुनि धीर, जोगी, सिद्धि सतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम, पुरान, आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय-पति माया-धनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज तंत्र नित रघु-कुल-मनी ॥'

इस प्रकार गोस्वामीजी ने राम के मानव-रूप मे विष्णुत्व और ब्रह्मत्व की एक साथ प्रतिष्ठा कर अपनी भक्ति-भावना का प्रसाद खडा किया। उनकी इस भक्ति-भावना मे ब्रह्म के दोनो रूपो—सगुण और निर्गुण—का समन्वय हो गया। साधना के क्षेत्र मे उन्होने ब्रह्म के उक्त दोनो रूपो को अलग-अलग माना, पर भावना के क्षेत्र मे उन्होने दोनो रूपो को अलग-अलग न मानकर सगुण मे ही निर्गुण को झलका दिया। इससे यह न समझना चाहिए कि वह निर्गुण-विरोधी थे। ब्रह्म के निर्गुण रूप का चिन्तन ज्ञान-द्वारा ही सभव है और वह ज्ञान सर्व-साधारण की शक्ति के बाहर की बात है। कबीर आदि सतो का ज्ञान-मार्ग गोस्वामीजी के सामने था। वह उसकी विफलता देख चुके थे। इसलिए उन्होने यह कहा —

'ज्ञान-पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहि बारा ॥
जो निरविघन पथ निरुबहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सत, पुरान, निगम, आगम बद ॥
राम-भजन सोई मुकुति गोसाई। अन-इच्छित आवइ बरिआई ॥'

परन्तु 'राम-भजन' किया कैसे जाय? इस प्रश्न के उत्तर मे उनका यह दोहा लीजिए। इसमे कागभुशुडि गरुड़जी से कहते है —

'सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पकज, अस सिद्धान्त विचारि ॥'

इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उन्होने राम से कहलाया —

'पुनि पुनि सत्य कहऊँ तहि पाहीं। मोहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाही ॥'

गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति-भावना मे अपने युग की जन-रुचि को ही

ध्यान मे रखकर सेवक-सेव्य भाव को स्थान दिया है। उनका युग सम्राट अकबर का शासन-काल था और प्रत्येक भारतीय उनका कृपाकाक्षी हो रहा था। बडे-बडे राजे-महाराजे उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए अपने कुल और वश की मर्यादा नष्ट कर रहे थे। ऐसे दूषित वातावरण मे गोस्वामीजी ने सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति का आदर्श प्रस्तुत कर एक ओर तो मुगल सम्राटो की ओर से तत्कालीन जनता को विमुख और दूसरी ओर उसे राजा राम की सेवा की ओर उन्मुख करने की सफल चेष्टा की। उन्होने उसे बताया कि राजा राम की सेवा ही असली सेवा है और इस सेवा से उसे भौतिक और आध्यात्मिक, दोनो प्रकार के सुख प्राप्त हो सकते है। राजा राम क्षमाशील है, शरणागत से प्रेम करनवाले है और करुणायतन है। मुगल-सम्राटो म ये गुण कहाँ! उनका सेवक तो हमेशा सेवक ही बना रहेगा, पर राम का सेवक तो राम से भी आगे हो जायेगा --

'मेरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'

इस प्रकार गोस्वामीजी ने राम से भी अधिक राम-भक्त का महत्व स्थापित कर अपनी भक्ति-भावना का जो स्वरूप स्थापित किया वह हिन्दी के भक्ति-साहित्य मे अद्वितीय और साथ ही अमर है।

गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार

गोस्वामीजी अपने इष्ट देव राम के अनन्य सेवक थे। सेवक को दार्शनिक विचारो मे क्या मतलब! स्वामी की दिन-रात सेवा करना ही सेवक का परम धर्म है। यदि वह दार्शनिक बन जायगा तो उसकी सेवा मे बाधा पडेगी और वह दार्शनिक सिद्धान्तो के चक्र-व्यूह मे पडकर अपने आदर्श से भ्रष्ट हो जायगा। इसलिए गोस्वामीजी ने राम-भक्तो को दार्शनिक विचारो मे न पड़ने की ही सलाह दी। परन्तु वह स्वय साधारण राम-सेवक ही नही, युग-निर्माता भी थे। उन्होने वेद, पुराण, उपनिषद् और तत्कालीन सभी दार्शनिकवादो का गभीर अध्ययन किया था और इस अध्ययन के बल पर उन्होने अपने दार्शनिक विचार भी बना लिए थे। अपने इन्ही दार्शनिक विचारो के अनुरूप राम-रूप की प्रतिष्ठा कर उन्हे अपने समय की लोक-रुचि का सस्कार और एक नवीन युग का निर्माण करना था। इसलिए वह अपनी रचनाओ मे दार्शनिक सिद्धातो की उपेक्षा न कर सके।

गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार यो तो सर्वत्र उनकी रचनाओ मे फैले हुए हैं, पर 'विनय-पत्रिका' और 'रामचरित मानस' के उत्तर काड मे उनका विधिवत् समावेश हुआ है। उनके अध्ययन से गोस्वामीजी पर पडे हुए मुख्यत तीन प्रभावों का पता चलता है (१) शकराचार्य के मायावाद का प्रभाव, (२) रामानुजाचार्य के विशिष्टा द्वैत का प्रभाव और (३) वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का प्रभाव। इन तीनों प्रभावो के अन्तर्गत ही गोस्वामीजी के दार्शनिक विचारो का मूल्याकन किया जा सकता है।

अन्यत्र बताया जा चुका है कि गोस्वामीजी ने दशरथ सुत राम के व्यक्तित्व मे विष्णुत्व और ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा कर सेवक-सेव्य भाव से उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप स्थिर किया है। इससे स्पष्ट है कि वह शकराचार्य के अद्वैतवाद के समर्थक नही थे। अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं, ब्रह्म ही सत्य है और इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब असत्य है। व्यवहार मे ब्रह्म, जीव और जगत के बीच जा भेद दिखाई पड़ता है वह भ्रम है—अविद्या माया का प्रपच है। परमार्थ मे केवल ब्रह्म ही सत्य है। गोस्वामीजी ने इन सिद्धान्तों मे से केवल माया वाले सिद्धान्त का लिया और कहा भी— 'गोगोचर जहँ लग मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥' परन्तु उन्होने इसे इसी रूप मे स्वीकार नही किया। ब्रह्म, जीव और जगत मे जो भेद स्पष्टत दिखाई पड़ता है उसकी उन्होने उपेक्षा नही की। उन्होने बताया कि जीव ब्रह्म नही, ब्रह्म का अश-मात्र है और यह जगत उसकी लीला-भूमि है। वह अपनी लीला अथवा अपने आचरण द्वारा ही अपने अस्तित्व का परिचय देता है और वह जैसा आचरण करता है उसी के अनुरूप उसे फल भोगना पडता है। ब्रह्म का अश होने के कारण वह अविनाशी है, चेतन है, अमल है और सुख का अनन्त भाण्डार है, परन्तु माया के प्रभाव से अपने अशी ब्रह्म को भूलकर माया का ही सब कुछ समझने लगता है। इससे माया और जीव के बीच इतना गहरा गठबन्धन हो जाता है कि जीव की उससे सहज ही मुक्ति नही होती। सहज ही उसकी मुक्ति तब होती है जब राम की उस पर कृपा होती है। इसलिए जीव का परम कर्तव्य है, राम की कृपा प्राप्त करना। यहाँ गोस्वामीजी पुष्टि-मार्ग से प्रभावित

कहे जा सकते है, परन्तु पुष्टि मार्ग के अनसार कृष्ण की कृपा प्राप्त करने की जो विधि बताई गई है वह गोस्वामीजी की बताई हुई विधि से भिन्न है। गोस्वामीजी कहते है —

'कै तोहिं लागहि राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुई मँह रुचै जो सुगम सो, कीबे तुलसी तोहि ॥'

जीव को राम प्रिय लगे, इसके लिए जीव को राम-भजन करना चाहिए और यदि जीव की यह इच्छा है कि राम स्वय उससे प्रेम करने लगे तो जीव को राम का गुण ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार गोस्वामीजी ने दोनो को अपनी भक्ति-भावना के विकास मे स्थान दिया है। इन्ही दोनों उपायो मे से किसी एक को अपनाकर जीव (अश) ब्रह्म (अशी) से मिलकर पूर्ण हो सकता है। इस प्रकार गोस्वामीजी बहुत कुछ विशिष्टाद्वैत के ही निकट है और उन्हे विशिष्टाद्वैतवादी ही समझना चाहिए।

गोस्वामीजी की काव्य-साधना

गोस्वामीजी हिन्दी के भक्त-कवि हैं। राम का पवित्र जीवन उनके काव्य का विषय है। उन्होने अपनी समस्त रचनाओ मे राम के जीवन की ही सुन्दर और आकर्षक झाँकियाँ प्रस्तुत की है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की है (१) प्रबन्ध-काव्य और (२) मुक्तक। 'रामचरित मानस' उनका प्रबन्ध-काव्य है। प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से उसका स्थान सर्वोच्च है। उसमे दो प्रकार की कथाओ का समन्वय हुआ है (१) प्रमुख और (२) गौण। राम के जीवन की प्रमुख घटनाओ का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसमे पौराणिक कथाओ का सन्निवेश बड़ी कुशलता से किया गया है। इस सबध मे उनकी प्रबन्धप-टुता प्रशसनीय है। उनके कथोपकथन और चरित्र-चित्रण भी ठोस और सजीव है।

गोस्वामीजी का 'मानस' वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य है। वर्णनात्मक काव्य में जीवन के मार्मिक स्थलो का चित्रण अत्यन्त अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से 'मानस' में गोस्वामीजी ने राम के जीवन के अनेक मार्मिक स्थलो का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप मे वन-गमन, चित्रकूट मे राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को

शक्ति लगने पर राम का विलाप और भरत की प्रतीक्षा आदि राम-कथा के मार्मिक स्थलो के चित्रण गोस्वामीजी की गहन अन्तर्दृष्टि के प्रमाण हैं जीवन के मार्मिक स्थलो के चित्रण के साथ उनका मानव-प्रकृति चित्रण भी बेजोड़ है। विश्व के मानव-प्रकृति के जितने रूप हो सकते है उन सब का लेखा-जोखा एक साथ एक कथा-सूत्र मे प्रस्तुत करना उनकी व्यापक दृष्टि और उनके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है। राम की भक्ति के निरूपण मे उन्होने सब धर्मों, सब सम्प्रदायो, सब वर्णो, सब के देवी-देवताओ, पारिवारिक जीवन की समस्त परिस्थितियो, सब प्रकार के दुष्टो और सज्जनो, समाज और देश की समस्त उच्च भावनाओ, ज्ञान और भक्ति के समस्त दार्शनिक विचारो आदि का अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि पर सुन्दरता से समन्वय कर जिस लोक-धर्म की उद्भावना की है वही वस्तुत मानव-धर्म है।

किसी कवि की प्रतिभा की पहचान उसकी काव्यगत-विशेषताओ से होती है। प्रतिभा की मुख्य विशेषताएँ है—'उसकी तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढता, सूक्ष्मता और व्यापकता।' इन विशेषताओ मे अतिम विशेषता 'व्यापकता' का सम्बन्ध पात्रो के बाह्य जगत से और शेष पाचो विशेषताओ का सम्बन्ध उनके अन्तर्जगत से होता है। गोस्वामीजी ने अपने काव्य मे दोनो को उचित स्थान दिया है। उन्होने अपनी रचनाओ मे जहाँ जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ उठाई है वहा उन्होने जीवन की गहनतम समस्याओ को भी उभार दिया है। योगी-भोगी, सुर-असुर, रक्षक-भक्षक, मानव-दानव, छूत-अछूत, मित्र-शत्रु, सास-बहू, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, पत्नी-सपत्नी आदि बाह्य जगत के द्वन्द्वो के विस्तृत और व्यापक वर्णन के साथ-साथ यथार्थ और आदर्श, स्वार्थ और त्याग, क्रोध और सहनशीलता, लज्जा और ग्लानि, राग और विराग, प्रेम और ध्यान, विवेक और प्रवृत्ति, श्रेय और प्रेय, कर्तव्य और लालसा आदि अन्तर्जगत के तीव्र द्वन्द्वो के सजीव चित्रण उनकी असाधारण काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं।

गोस्वामीजी के बाह्य जगत के चित्रण को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है · (१) मानव-सम्बन्धी और (२) वस्तु-सम्बन्धी। मानव-सम्बन्धी चित्रण मे पात्र की वेश-भूषा, उसके कार्य-कलाप, उसकी परिस्थिति, उसकी मुद्रा'

उसकी प्रवृत्ति आदि को स्थान मिला है। राम की बाल-छबि का वर्णन इन पक्तियो में देखिए .—

'सुन्दर श्रवण, सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच, कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥'

आखेट के समय मृग को लक्ष्य कर वाण खीचते हुए उनकी मुद्रा का चित्र देखिए —

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस नयननि, गौहे तकत सुभौह सकोरे।'

ऐसे चित्रो मे गोस्वामीजी की व्यापक निरीक्षण-शक्ति का चमत्कार देखने योग्य है। काव्य मे उसी बाह्य जगत का वर्णन प्रयोजनीय होता है जिसका काव्य विषय से सम्बन्ध हो और वह भो प्रसंग के सकोच अथवा विस्तार के अनुकूल। गोस्वामीजी ने अपने बाह्य जगत के वर्णन मे इस का पूरा ध्यान रखा है। यही कारण है उनका वस्तु-वर्णन भी मानवीय व्यापारो आदि के वर्णन की भाति सजग और प्रभावोत्पादक है। अपने वस्तु-वर्णन मे उहोने नगर, हाट, बन, नदी, पर्वत आदि को स्थान दिया है और प्रसगानुकूल ही उनका वर्णन किया है। इस दिशा में उन्होने सस्कृत-कवियो की ही शैली अपनाई है। उनका बन-छवि-वर्णन देखिए :—

'झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिविध ताप हर त्रिविध बयारी ॥
विटप बेलि तृन अगनित भाँती। फल, प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥
सुन्दर सिला, सुखद तरु छाही। जाइ बरनि बन-छवि केहि पाहीं ॥'

गोस्वामीजी के इस प्रकार के प्रकृति-चित्रो मे स्थूल निरोक्षण-शक्ति के अतिरिक्त कोई विशेषता नही है। इनसे अधिक उत्कृष्ट उनके वे प्रकृति-चित्र हैं जिनमे उन्होने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के आधार उनका सश्लिष्ट चित्रण किया है। चित्रकूट का यह चित्र देखिए .—

'सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रगमंगे सृङ्गनि।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि ॥'

सिखर परस घन घरहिं मिलति बग पाति सो छबि कवि बरनी ।
आदि बराह बिहरि वारिद मनो उठ्यो है दशन धरि घरनी ।।'

परन्तु प्रकृति के ऐसे सश्लिष्ट चित्र गोस्वामीजी की रचनाओ में कम है । नगर, युद्ध, यात्रा, हाट आदि के वर्णन मे उन्होने अपनी कला का अच्छा परिचय दिया है ।

गोस्वामीजी अन्वर्जगत के चित्रण मे बहुत गहराई तक उतरे हैं । इसलिए उसमे तेजस्विता, प्रखरता, सुक्ष्मता, और गहनता सर्वत्र पाई जाती है । राम बन जा रहे है । कौशल्या उनसे कहती है :—

"जौ केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ माता ।।
जौ पितु-मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ।।'

इन चौपाइयो मे एक ओर कशौल्या की ममता का आवेग हैं तो दूसरी ओर मर्यादा-पालन का आग्रह, एक ओर यथार्थ है तो दूसरी ओर आदर्श, एक ओर प्रेय है तो दूसरी ओर श्रेय है । 'रामचरित मानस' ऐसे अन्वर्द्वन्द्वो के चित्रण से भरा पड़ा है । राम, सीता, दशरथ, भरत, लक्ष्मण, कैकेयी—सब को ऐसी मर्म-स्पर्शी परिस्थितियो मे रखकर उनके उन द्वन्द्व को उभारा है जो जीवन की चिरतन समस्याएँ है । यही कारण है कि उनके पात्र पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन मे प्रखर चेतना उद्बुद्ध करने मे समर्थ है । अन्वर्द्वन्द्व के चित्रण की यह विशेषता गोस्वामीजी के साहित्य की मूल प्रेरणा है । विनय, दैन्य, त्याग, समर्पण, आत्मग्लानि, लज्जा, शोक, हर्ष, प्रमाद, घृणा, प्रेम आदि मानव हृदय से सबध रखनेवाले जितने भी भाव सभव हो सकते है उन सबको गोस्वामीजी ने अपने साहित्य मे स्थान दिया है और इन भावो की तीव्र रगड़ मे ही उन्होने अपने पात्रो के व्यक्तित्व को तेजस्विता प्रदान की है ।

गोस्वामीजी की शैली

काव्य के कला-पक्ष का मुख्य अग शैली है । शैली ही साहित्यकार के व्यक्तित्व की द्योतक है । गोस्वामीजी की शैली इस विशेषता का अपवाद नही है । महाकाव्य, खडकाव्य, मुक्तक, गीत — सब मे उनका व्यक्तित्व झलक उठा है । पिंगल के वह पंडित है । उन्होने अपने समय की सभी काव्य-शैलियो को अपनाकर अपनी

बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। चद के छप्पय, कबीर के दोहे, सूर के पद, जायसी की दोहा-चौपाइया, रीतिकारा के सवैया कवित्त, रहीम का बरवै, गाववालों के सोहर आदि जितने प्रकार की छन्द-पद्धतियाँ उन दिनो लोक मे प्रसिद्ध थी उन सब को उन्होने अपनी रचनाओ मे स्थान दिया और उन पर अपने व्यक्तित्व और अपनी विद्वत्ता की प्रतिभा की छाप लगा दी है। इसीलिए तुलसी अपने प्रत्येक छद मे बोलते हुए-से ज्ञात होते है। उनका कोई भी छन्द शिथिल नही है। विषय और भाव के अनुकूल छन्दो का विधान करने मे वह बेजोड़ हैं। 'मानस' मे दोहा-चौपाई का अनुकरण किया गया है। यह शैली महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। 'विनयपत्रिका' मे फुटकर पद गीत की शैली मे रचे गए है। मुक्तक काव्य तथा भजन के पदो मे इस शैली के महत्व से कोई इन्कार नही कर सकता। 'कविता-वली' सवैया छन्दो मे है। नीति तथा उपदेश के लिए 'दोहावली' मे दोहो की शैली को स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने राम के पुनीत जीवन का लोक-प्रिय बनाने के लिए प्रत्येक शैली का अनुकरण किया है और इसमे उन्हे अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन छन्दो मे उनके विचार और सिद्धान्त भरे पड़े है। भाषा, भाव और छन्दो का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओ मे सभी रसो का विधान बड़ी सफलता-पूवक किया है। वह रस-सिद्ध कवीश्वर थे। उनकी प्रत्येक पक्ति मे कोई-न-कोई रस-चमत्कार विद्यमान है। सामान्यत नीरस प्रतीत होनेवाली पक्तियो मे भी कथा-प्रसग का वह प्रवाह मिलेगा जिसमे रस-तरगें आप-ही-आप उछल रही होगी। उनके 'मानस' मे शृङ्गार, हास्य, करुण वीर, वीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक और अद्भुत रसो के पर्याप्त उदाहरण मिलते है। रसो की भाति उनको अलकार-विधान भी परम मनोहर बन पड़ा है। उनकी उपमाएँ बडी सुन्दर होती है। रूपको मे भी उन्होने अपनी उपमाओ की विशेषता का ध्यान रखा है। उनका उपमा अलकार ही कही रूपक, कही उत्प्रेक्षा और कही दृष्टान्त बनकर बैठा है। उनके सागोपाग रूपक एकदम बेजोड होते है। वर्ण्य विषय इन स्वाभाविक रीतियों से आए हुए अलकारो से एकदम खिल उठता है। उनकी रचनाओ मे अलकार हाथ बाँधे चले आते है। केशव की भाँति उनकी अलंकार-योजना मे प्रयास नही है।

गोस्वामीजी की भाषा

तुलसीदास मुख्यत अवधी भाषा के कवि है। यह प्राय वही भाषा है जिसमे गोस्वामीजी के पूर्व जायसी ने 'पदमावत' लिखा था, पर दोनो मे अन्तर है। यह अन्तर व्याकरण का नही, शैली का है। जायसी की अवधी जहाँ शुद्ध तद्भव-मय है, वहाँ तुलसी की अवधी तत्समो और अर्द्धतत्समो से भरी पड़ी है। तुलसी अपनी भाषा को 'गँवारू' बताते है, पर वास्तव मे वह अत्यधिक परिमार्जित एवं साहित्यिक भाषा है। उसमे पूर्वी और पश्चिमी दोनो का मेल है। अवधी पर उनका पूरा-अधिकार है।

अवधी की भाँति तुलसी ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनकी रचनाओ मे इस भाषा का सहज सौंदर्य और माधुर्य देखने योग्य है। 'कवितावली' ब्रज की चलती भाषा का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसमे शब्दो की तोड़ मड़ोर और खीचातानी नही है। 'विनय पत्रिका' की ब्रजभाषा तत्सम-प्रधान होने के कारण अधिक क्लिष्ट है।

गोस्वामीजी ने कही-कही वीरगाथा-काल की राजस्थानी-मिश्रित भाषा और भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी-प्रभावित भाषाओ का भी प्रयोग किया है। आवश्यकता-नुसार उनकी भाषा मे मुगलकालीन जन-साधारण मे व्यवहृत अरबी तथा फारसी भाषाओं के भी शब्दो का प्रयोग हुआ है, परन्तु उन्होने उन शब्दो को हिन्दी के साँचे मे ढाल लिया है। इस प्रकार के शब्द अदेसा, खाना, गरीब-निवाज, गर्दन, जहाज, जहान, निसान, प्यादा, फौज इत्यादि है।

गोस्वामीजी की भाषा का सर्वप्रधान गुण साहित्यकता है। उन्होने अपनी भाषा को लोक-व्यवहार की भाषा का रूप दिया है। उसमे सरलता, बोधगम्यता, सौन्दर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज इत्यादि सभी गुणो का समावेश है। उनका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर नगीने की भाँति जमा बैठा है और अर्थ-गौरव की वृद्धि मे सहायक है। उनका वाक्य-विन्यास प्रौढ और सुव्यवस्थित है। जिस स्थान पर जैसी भाषा होनी चाहिए वैसी ही भाषा का उन्होने प्रयोग किया है। उनकी भाषा भावानुरूपिणी है। इसीलिए उसमे कही भी शिथिलता नही है। वह सदैव शिष्ट, संयत और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करते है। अवसरानुकूल भाषा को कोमल

या ओजपूर्ण बना देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। उनका शब्द-कोश इतना विशाल है जितना हिन्दी के किसी भी कवि का नही है। उन्होने सस्कृत, प्राकृत तथा विभिन्न भाषाओ के हजारो शब्दो का अधिकारपूर्ण प्रयोग किया है। थोड़े से शब्दो मे गभीर भाव भर देना उनके भाषा-पाडित्य की एक विशेषता है। प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने मे वह दक्ष है। लोकोक्तियो और मुहाविरो का भी प्रयोग उन्होने बड़े कौशल से किया है।

तुलसी और सूर : तुलनात्मक अध्ययन

गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध मे इतना जान लेने के पश्चात् हम उनकी और सूर की प्रतिभा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करगे। सामान्य दृष्टि से तुलसी और सूर दोनो एक ही पथ के पथिक थे। दोनो का अनन्य ब्रह्म के विष्णुत्व मे विश्वास था। भागवत-धर्म मे दोनो की आस्था थी। पर दोनो उपासना के क्षेत्र मे एक दूसरे से भिन्न थे। तुलसी स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा मे थे, सूर वल्लभाचार्य की शिष्य-परम्परा मे। इसलिए तुलसी के इष्टदेव थे राम और सूर के इष्टदेव थे कृष्ण। तुलसी के राम पुत्र, भाई, पति, भक्त-वत्सल, योद्धा, लोक-नायक और मर्यादा-रक्षक थे, सूर के कृष्ण नवनीत-प्रिय बालक, चचल किशोर, तरुण प्रेमी, प्रौढ मित्र, कुशल योद्धा, कर्मयोगी और राजनीतिज्ञ हैं। इस प्रकार इष्टदेवो के चरित्रो मे अन्तर होने के कारण सूर और तुलसी की उपासना-पद्धति मे भी अन्तर पड गया है। तुलसी ने अपने राम की सेव्य-सेवक भाव से भक्ति की है और सूर ने अपने कृष्ण की सखा-भाव से। तुलसी अपने इष्टदेव के सामने इसीलिए विनम्र, दीन, मर्यादाशील और नत-मस्तक है। सूर अपने इष्टदेव के सामने उच्छृखल, चपल, हास्य-विनोद प्रिय और आलोचक हैं। आवश्यकता पडने पर उन्हे फटकारते है और पुचकारते भी है। इस दृष्टि से तुलसी और सूर अपने-अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति-भावना मे सच्चे, उदार और सयत हैं।

साहित्य के क्षेत्र मे भी तुलसी और सूर एक नही थे। तुलसी का क्षेत्र राम का लोकपावन सम्पूर्ण जीवन था। इस जीवन मे परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन का समन्वय हो सकता था। सूर के आलम्बन थे कृष्ण। कृष्ण का जीवन राम के जीवन से भिन्न था। उनके द्वारा लोक-धर्म की स्थापना नही

हो सकती थी । लोक-धर्म की स्थापना के लिए ऐसे आदर्श जीवन की आवश्यकता थी जो परिवार से लेकर समूचे राष्ट्र तक विस्तृत हो । कृष्ण का जीवन ऐसा जीवन नही था । इसके अतिरिक्त सूर अपनी भक्ति-भावना के दृष्टिकोण से भी बधे हुए थे । सखा-भाव से कृष्ण की भक्ति करने के कारण उनकी दृष्टि कृष्ण के जीवन के केवल उन्ही अगो तक सीमित रही जिनसे उनका प्रयाजन सिद्ध हो सकता था । इसलिए वह उनकी बाल-लीलाओ और प्रेम-लीलाओ से आगे न बढ सके । तुलसी अपने राम के सेवक थे । इसलिए वह उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनके साथ रहे । क्या बाहर, क्या भीतर, कही भी उन्होने राम का साथ नही छोड़ा ।

तुलसी की रचनाओ मे उनका व्यक्तित्व कई रूपो मे हमारे सामने आता है । वह एक ही साथ भक्त, कवि, दार्शनिक, व्यवस्थापक, सुधारक, उपदेशक और धार्मिक नेता है । उन्हाने इन सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे बड़ा सफलतापूर्वक काम किया है । सूर अपने व्यक्तित्व मे केवल भक्त, कवि और कुछ अशो मे दार्शनिक है । उनकी दार्शनिकता उनकी भक्ति के भार से दब-सी गई है, वह उभरने नही पाई है । तुलसी मे भी भक्ति का आवेग है, पर उनकी दार्शनिकता उससे दबी नही है ।

तुलसी ने अपनी रचनाओ मे प्राय सभी रसो को स्थान दिया है । वात्सल्य, शृङ्गार, वीर, करुण, वीभत्स, रौद्र, हास्य, शान्त, भयानक और अद्भुत रसो का परिपाक करने मे वह समर्थ हुए है । यदि ऐसा न करते तो उनके महा-काव्य मे महाकवित्व न आता, पर इन रसो का विधान एक निश्चित सीमा के भीतर ही हुआ है । सूर ने भी शान्त, वीर, हास्य, करुण, भयानक, अद्भुत, शृङ्गार और वात्सल्य रस के अच्छे चित्र उतारे है, पर उनका काव्य गीति काव्य है । गीति-काव्यो मे समस्त रसो के निरूपण की पर्याप्त स्वतन्त्रता नही रहती । इसीलिए उनकी रचनाओ मे अन्य रसो की अपेक्षा शृङ्गार और वात्सल्य की ही बड़ी सुन्दर योजना बन पड़ी है । बाल-स्वभाव का जैसा अनुभव उन्हे है वैसा तुलसी को नही है ।

सूर का काव्य गीतात्मक है । इसलिए उसमे वर्णनो को विशेष स्थान नहीं मिला, फिर भी वह उनसे एकदम अछूता नही है । उन्होने उत्सव, लीला, रूप और

प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन मे उन्होने चित्रोपमता, अलकार-विधान और रस-सृष्टि पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उत्सव तथा लीलाओ के वर्णन मे उनकी आत्माभिव्यक्ति और गीतात्मकता देखने योग्य है। तुलसी का काव्य मुख्यत प्रबन्ध-काव्य है। इसलिए उसमे वर्णनो को विशेष रूप से स्थान मिल सका है। उन्होने रूप, उत्सव, नगर, प्रकृति, युद्ध आदि का वर्णन राम के देवत्व की प्रतिष्ठा, शीलमयता, नीति-स्थापन एव अलकार-योजना के लिए ही किया है।

चरित्र-चित्रण के विचार से सूर और तुलसी दोनो अपनी-अपनी पृथक सत्ता रखते है। सूर की रचनाओ मे चरित्र-चित्रण को बहुत कम स्थान मिला है। इसका कारण काव्य-विषय का सकाच है। तुलसी की रचनाओ मे चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। इसका कारण उनके काव्य-विषय का विस्तार है। यही कारण है कि तुलसी की पात्र-योजना और भाव-प्रसार-योजना विस्तृत है। भाषा के क्षेत्र मे सूर की अपेक्षा तुलसी का अधिकार अधिक विस्तृत है। तुलसी का ब्रज और अवधी दोनो काव्य-भाषाओ पर समान अधिकार है और उन्होने जितनी शैलियो की काव्य रचनाएँ प्रचलित की है उन सबमे उन्हे बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यह बात सूर मे नही है। सूर की अपेक्षा तुलसी मे पाण्डित्य की मात्रा भी अधिक है और वह छन्द-शास्त्र से भली-भाँति परिचित है।

इस प्रकार हम देखते है कि सूर और तुलसी अपने-अपने क्षेत्र मे महान् है। कविता दोनो की साधन-मात्र है, साध्य नही। साध्य है दोनो की भक्ति, पर तुलसी हमारे सामने भक्त होते हुए भी एक समाज-व्यवस्थापक के रूप मे आये और सूर आरभ से अन्त तक भक्त ही बने रहे।

---

७ : नन्ददास

जन्म-सं० १५९० . मृत्यु-सं० १६३९

जीवन-परिचय

नन्ददास का जन्म कब और कहाँ हुआ, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। डा० श्यामसुन्दर दास ने उनका जन्म सवत् १५५० माना है। सोरो की सामग्री के अनुसार यह कहा जाता है कि शूकर क्षेत्र वर्तमान सोरो, जिला एटा के निकटवर्ती रामपुर ग्राम मे उनका जन्म हुआ था। वह सभवत सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम जीवाराम था।

नन्ददास के माता-पिता का देहान्त उनके बचपन मे ही हो गया था। इसलिए वह अपनी दादी के पास सोरो मे ही रहते थे। वही उन्होने रामानन्दी सम्प्रदाय के एक विद्वान शिक्षक, नरहरि पडित से सस्कृत-साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इसके साथ ही काव्य-रचना और सगीत-कला की ओर भी उनकी बचपन से रुचि थी और वह अल्प काल मे ही इन विषयो मे पारङ्गत हो गये थे।

आरम्भ मे रामानन्दी सम्प्रदाय के सम्पर्क मे आने के कारण नन्ददास राम-भक्त थे। उनकी रचना मे रामचन्द्र और हनुमान-विषयक जो पद मिलते है। वे सम्भवत उसी समय लिखे गये थे। लेकिन फिर वह स्वामी विट्ठलनाथ के प्रभाव से कृष्ण-भक्त हो गये। पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के बाद नन्ददास का जीवन-क्रम बिलकुल बदल गया। वह सासारिक माया मोह त्यागकर कृष्ण के प्रेम में लीन हो गये।

कहा जाता है कि वह कुछ दिनो तक गोवर्धन मे सूरदास के सत्सग में भी रहे। सूरदास के सात्विक जीवन के प्रभाव से नन्ददास के हृदय मे दैन्य-भाव का विकास तथा मर्यादा-भक्ति के स्थान पर शृङ्गार-भक्ति का उदय हुआ। इससे उनकी काव्य-प्रतिभा को बहुत बल मिला। साप्रदायिक जनश्रुति के आधार पर यह भी कहा जाता है कि सूरदास के आदेश से उन्होने अपने ग्राम रामपुर जाकर कमला नामक एक कन्या के साथ विवाह किया जिससे कृष्णदास का जन्म हुआ।

इसके पश्चात् उन्होने अपने ग्राम रामपुर का नाम बदल कर 'श्यामसुन्दर' रखा और वहाँ 'श्यामसर' नाम का एक तालाब भी बनवाया । इस प्रकार कुछ समय तक वह गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करके पुन गोवर्धन चले गये और वही स० १६३९ के लगभग एक पीपल के वृक्ष के नीचे उन्होने परमधाम की यात्रा की ।

नन्ददास की रचनाएं

नन्ददास के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध है । उनके प्रमाणिक ग्रन्थो के नाम है (१) अनेकार्थमंजरी, (२) मानमजरी, (३) रसमजरी, (४) रूपमजरी, (५) विरह-मजरी, (६) श्याम-सगाई, (७) सुदामाचरित, (८) रुक्मिणी मगल, (९) भँवर गीत, (१०) रासपचाध्यायी, (११) सिद्धान्त पचाध्यायी और (१२) दशम-स्कध भाषा । इन ग्रन्थो मे 'सुदामाचरित' के नन्ददास-कृत होने मे सदेह किया जाता है ।

नन्ददास की काव्य साधना

नन्ददास बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे । सस्कृति और सगीत का उन्हे अच्छा ज्ञान था और ब्रजभाषा पर उनका पूरा अधिकार था । अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे उन्होने जो रचना की उसने हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे अपना अमर स्थान बना लिया । इन्ही रचनाओ के कारण उनकी गणना अष्टछाप के कवियो मे होने लगी और सूर के पश्चात् उन्हे द्वितीय स्थान मिला । यहाँ हम सक्षेप मे उनकी काव्य-साधना पर विचार करेगे ।

(१) नन्ददास की भक्ति का स्वरूप—नन्ददास उच्च कोटि के भक्त थे । अत उनकी समस्त रचनाएँ भक्ति-काव्य के अन्तर्गत आती है । वह स्वामी वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे । उनकी रचनाओ को देखने से पता चलता है कि पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर उनमे भक्ति के तीन रूप (१) वात्सल्य, (२) सख्य और (३) मधुर या रति प्रविष्ठित थे । उनके जीवन-वृत्तात से यह ज्ञात होता है कि उनमे रसिकता की मात्रा विशेष थी । बाल-स्वभाव के प्रति उनका विशेष आकर्षण नही था । इसलिए वात्सल्य की ओर वह अधिक नही झुके । उनके काव्य मे वात्सल्य भाव की जो रचनाएँ मिलती है उनमे उनका हृदय नही है । ऐसा जान पड़ता है कि उन्होने सूर से प्रभावित होकर अथवा

सम्प्रदाय के आग्रह से उनकी रचना की है। गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव मे आने पर वह पहले राम-भक्त थे। उस समय वह दास्य-भाव के भक्त थे। पर इस प्रकार की भक्ति पर उनका मन नही टिका। वह टिक भी नही सकता था। मधुर भक्ति के प्रति उनका विशेष अनुराग था। अत वह इसको ही अपनी साधना बनाकर काव्य-क्षेत्र मे उतरे। उनकी रचनाओ मे कही-कही सख्य-भक्ति भी मिलती है, पर उसमे उनके काव्य का स्रोत नही है। उनके काव्य का पूर्ण विकास तो कृष्ण और गोपियो के सयोग-वियोग के प्रसगो के चित्रण मे ही हुआ है। अत हम उनकी भक्ति को मधुर-भक्ति का ही रूप दे सकते है।

(२) नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि—नन्ददास ने श्रीमद्भागवत के विभिन्न प्रकरणो के आधार पर अपने समस्त ग्रन्थो की रचना की है और उसे कलात्मक ढग से सजाकर काव्य का रूप दिया है। इसके साथ ही वल्लभ-सप्रदाय के सिद्धातो के कट्टर उपासक होने के नाते उन्होने उक्त सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार धारा का भी यथेष्ट मात्रा मे निरूपण किया है। इस प्रकार नन्ददास का सम्पूर्ण काव्य भागवत और स्वामी वल्भाचार्य (स० १५३५-८७) के सिद्धान्तो के आधार पर खडा है और इन्ही दोनो स्रोतो से उन्हे काव्य-प्रेरणा मिली है।

(३) नन्ददास का कथात्मक काव्य—नन्ददास का अधिकाश काव्य कथा-सबधी है। पुष्टि-मार्गीय कृष्ण-कवियो मे केवल वही ऐसे कवि है जिन्होने फुटकर पदो के अतिरिक्त सम्बद्ध कथा लिखने का प्रयास किया है। उनके कथात्मक ग्रन्थ है रास-पचाध्यायी, श्यामसगाई, रुक्मिणी-मगल आदि। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी कथात्मक कहे जा सकते है। 'भँवरगीत' भी एक कथात्मक काव्य ही जैसा जान पडता है। उसे देखने से ऐसा लगता है कि उन्हे कथा लिखने का व्यसन-सा था। उनमे कथा कहने की क्षमता भी थी। उनका युग ही कथा-वार्ताओ का युग था। इसलिए उन्होने अपने काव्य को कथात्मक रूप देने की चेष्टा की, पर उन्होने कथा के कहानी-तत्व पर विशेष ध्यान नही दिया। वास्तव मे उनके काव्य का यह लक्ष्य नही था। वह कथाकार नही, कवि थे और उस धारा के कवि थे जिसमे प्रेम और शृगार को प्रथम स्थान प्राप्त था। इस सम्बन्ध मे हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कथात्मक काव्य प्राय चरित्र-प्रधान होते

है, पर नन्ददास का कथात्मक काव्य चरित्र-प्रधान नही है। वह है भावना प्रधान सैद्धान्तिक काव्य। नन्ददास ने अपनी कथाओ मे पात्रो का समावेश अपने सिद्धांतो को स्पष्ट रूप देने के लिए किया है। इसलिए उनकी रचनाओ मे हमे पात्रो के वातावरण एक से मिलते है। उनके काव्य मे वर्णन अवश्य मिलते है जो अधिकाश मौलिक है। इस सबध मे कही-कही उन्होने अन्य कवियो की रचनाओ से भी सहायता ली है। उनके नगर, बाग, बन आदि के वर्णन बड़े सजीव और आकर्षक है। इनके अतिरिक्त ऋतु और बारहमासे के रूप मे भी हमे उनके काव्य मे प्रकृति-वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन के तो अनेक चित्र मिलते है। रासलीला-वर्णन मे तो सूर भी उनसे होड़ नही ले सकते।

(४) **नन्ददास का गीत-काव्य**—नन्ददास का गीत-काव्य अपेक्षाकृत कम है। इस क्षेत्र मे उनकी प्रतिभा को अधिक प्रेरणा नही मिली। अत वह अपने पदो के लिए हिन्दी-साहित्य मे लोक-प्रिय कवि नही बन सके। साहित्यिक एव साम्प्रदायिक दृष्टि से भी उनके पदो का विशेष महत्व नही है। पर एक दृष्टि से उनका महत्व अवश्य है। नन्ददास अच्छे गायक थे। इसलिए उनके पद सगीत के स्वर और ताल पर पूरे उतरते है। उनमे भाव है, भावो की तन्मयता नही है। उनके पद कई प्रकार के है। उन्होने कुछ पद अपने सम्प्रदाय के अनुसार गुरु-भक्ति के सम्बन्ध मे लिखे है, कुछ उत्सवो के पद है, कुछ कृष्ण के जन्म और बाल-विकास से सम्बन्ध रखते है, कुछ मे लीलाओ का वर्णन है, कुछ मे राधा-कृष्ण के दाम्पत्य-प्रेम की चर्चा है और कुछ शृङ्गार-लीला के पद है। इन पदो पर सूर का स्पष्ट प्रभाव है।

(५) **नन्ददास का भँवर-गीत**—सूर की भाँति नन्ददास ने भी भँवर-गीत लिखे है। परन्तु इस दिशा मे दोनो एक नही है। सूर ने अपने भँवर गीत मे जहाँ उद्धव के भेजने के उद्देश्य पर प्रकाश डाला है, वहाँ नन्ददास मौन है। नन्ददास के काव्य मे श्रीकृष्ण का सन्देश न तो नन्द एव यशोदा के लिए है और न गोपियो के लिए ही। इसके साथ ही उसमे राधा का भी वर्णन नही है। 'ऊधौ कौ उपदेश, सुनौ ब्रज नागरी' कहकर वह कविता आरम्भ करते है। उनके उद्धव मे हठ और अहमन्यता की मात्रा भी अधिक है। गोपियो और उद्धव के संवाद में

कथोपकथन का शैली अपनाई गई है। यह हिन्दी-भँवर-गीत-परम्परा का उनकी मौलिक देन है। अपने काव्य मे उन्होने भ्रमर का प्रवेश अत्यन्त कलात्मक ढङ्ग से किया है। भागवत मे आए हुए भ्रमर के गोपिया के चरण-स्पर्श मे जा निषेध पाया जाता है, नन्ददास का वर्णन उससे भिन्न है। नन्ददास की गोपियाँ ताकिक अधिक हैं। वे भागवत की गोपियो की भाँति न तो ग्रामीण है और न सूर की गोपियो की भाँति नागरिका। वे भक्ति की प्रतीक है। उनकी बातो मे ज्ञान एव प्रेम भावना का सामजस्य स्थापित कर उनके विलाप को सार्वजनीन बनाने का सफल प्रयास हम नन्ददास के भँवर-गीत मे पाते है।

(६) नन्ददास की रस-योजना—हम पहले बता चुके है कि नन्ददास मधुर-भावना के कवि है। इसलिए उनकी रचनाओ मे हमे शृङ्गार रस की ही प्रधानता मिलती है। उन्होने शृङ्गार के दोनो रूपो के चित्र उतारे है और इसमे उन्हे सफलता मिली है। अन्य रसो का उनके काव्य मे प्राय अभाव है। वात्सल्य, रति शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य आदि भावो का थोडा-बहुत वर्णन उन्होने किया है, पर इन रचनाओ से ऐसा जान पडता है कि परिस्थितियो के अनुरोध से ही वह इन रसो की ओर आकृष्ट हुए है। इनमे मुख्यत कवि की पुकार की वह गूज सुनाई नही देती जिसे हम गोपी कृष्ण के प्रेम के वर्णनो मे महत्व दे सकें। अत रसो की दृष्टि से हम उनके काव्य को शृङ्गार-रस-प्रधान ही मानते है। उनका शृङ्गार-भक्ति-काव्य दो प्रकार का है एक तो वह जिसमे राधाकृष्ण का केलि-विलास है। इसमे उन्होने विरह का स्थान नही दिया है। इसमे आदि से अन्त तक लीलाभाव की ही प्रधानता है और हमे स्थूल शृङ्गार के दर्शन होते है। दूसरे प्रकार का काव्य विरह-प्रधान है। इस क्षेत्र मे वह अधिक प्रभावशाली है। रूपमजरी, विरहमजरी, भँवर-गीत, रुक्मिणी-मङ्गल, रासपञ्चाध्यायी तथा अन्य फुटकर पदो मे शृङ्गार के इस पक्ष का अत्यन्त मार्मिक चित्रण और विश्लेषण हमे उनकी रचनाओ मे देखने को मिलता है। उन्होने विरह के सिद्धातो का ही निरूपण नही किया है, वियोगियो की सभी प्रवृत्तियो एव चेष्टाओ का भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभावशाली चित्र उतारा है। उनकी विरह- सम्बन्धी रचनाएँ अधिकाश गीतात्मक है।

मे कोमलकात पदावली का व्यवहार किया है और ब्रज के सुमधुर ठेठ शब्दो तथा कहावतो एव मुहावरो के सुन्दर प्रयोगो से अपनी भाषा को सुसम्पन्न बना दिया है। उनका शब्द-चयन अत्यन्व उत्कृष्ट होता है। ऐसा जान पडता है कि उनके इसी गुण के कारण उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है—'और सब गढिया, नन्ददास जड़िया'। इसमे सन्देह नही कि उनकी रचनाओ मे उनका प्रत्येक शब्द अँगूठी मे नगीने की भाँति जड़ा हुआ जान पडता है। इसीलिए हमे उनकी रचनाओ मे कही भी भाषा और भाव की शिथिलता नही मिलती। उनकी पक्तियो मे न तो सयुक्ताक्षर होते है और न लम्वे-चौड़े समास ही। उनके शब्द-चित्र भी बडे आकर्षक और मधुर होते है। थाेड़े से शब्दो मे बहुत कुछ कह जाने की उनकी कला अत्यन्व प्रशसनीय है। उनकी भाषा मे शब्दो की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। ह्रस्व वर्णो का कलापूर्ण प्रयोग भी उनकी भाषा की एक विशेषता है। अरबी और फारसी भाषाओ के शब्द उनकी रचनाओ मे नही के बराबर है।

सूरदास और नन्ददास : तुलनात्मक अध्ययन

सूरदास और नन्ददास दोनो एक ही सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। दोनो कृष्ण के भक्त और सगुण भक्ति मे विश्वास करनेवाले थे। काव्य-रचना के लिए दोनो को भागवत से प्रेरणा मिली थी और दोनो ने स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपयोग किया था, पर इतनी समता होने पर भी काव्य-क्षेत्र मे दोनो ने दो मार्गों का अनुसरण किया है। सूर कृष्ण के बाल-स्वाभाव पर रीझे और नन्ददास गोपी-कृष्ण के प्रेम-भाव पर। इस प्रकार यदि सूर कृष्ण के बाल-स्वाभव के चित्रण मे बेजोड है तो नन्ददास गोपियो के प्रेम-वर्णन मे। कथात्मक प्रवृत्ति सूर मे नही है, इसीलिए उनका काव्य गीतात्मक है। नन्ददास मे कथात्मक प्रवृत्ति है, इसीलिए गीतो की रचना उन्होने कम की है। उनके गीतो मे न तो उतना चमत्कार है और न उतना लीला-रस जितना सूर के पदो मे हमे मिलता है। भक्ति-भावना के क्षेत्र में भी दोनो एक-से नही है। सूर सखा-भाव के भक्त है और नन्दनदास मधुर-भाव के। भक्ति-भावना के इस प्रकार के दृष्टिकोणो के अन्तर से उनके काव्य-क्षेत्रो की सीमा मे भी अन्तर आ गया है। सूर का काव्य-क्षेत्र अधिक विकासोन्मुख है और इसीलिए उनकी रचनाएँ अधिक है। नन्ददास की काव्य-प्रतिभा एक सीमा के अन्तर्गत विहार

करती है । इसीलिए ग्रन्थो की प्रचुर सख्या होने पर भी उनका काव्य-साहित्य सीमित ही कहा जाता है । एक बात और है और वह यह कि नन्ददास अपने काव्य मे अधिक सिद्धान्तवादी है । इसीलिए उनका दर्शन-भाग काव्य और भक्ति के अगो से अलग जा पडा हैं । फलस्वरूप हम उनके काव्य मे भाव की गभीरता तो पाते है, हृदय की तन्मयता नही पाते । इसके विपरीत सूरदास के काव्य मे काव्यत्व गौण है, मुख्य है भक्ति और धर्म । अत वह पहले हमे भक्ति-भाव द्वारा छूते है और फिर काव्य-छटा द्वारा । अपनी इसी मौलिक कला के बल पर उन्होने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का अपने काव्य मे इतनी सुन्दरता से निरूपण किया है कि हमे उनके दार्शनिक रूप का आभास भी नही होता ।

पात्रो की दृष्टि से जब हम सूर और नन्ददास की रचनाओ पर विचार करते है तब हमे ज्ञात होता है कि दोनो ने भ्रमर-गीत मे उद्धव और गोपियो की अपने-अपने ढग से कल्पना की है । नन्ददास के उद्धव बहुत कुछ भागवत के उद्धव से मिलते-जुलते है । उन्हे भी ज्ञान का गर्व है जो अन्त मे स्खलित हो जाता है । वह तार्किक पडित भी है । सूर के उद्धव इनसे कुछ भिन्न है । ज्ञान का गर्व तो उन्हे भी है, पर वह अधिक तार्किक नही है । गोपियाँ उन्हे बहुत बनाती है और उनका उपहास करती है । गोपियो का चरित्र-चित्रण दोनो कवियो ने अपने काव्यो मे एक ही दृष्टिकोण से किया है, पर जहा सूर की गोपिया तार्किक और उछृखल है वहाँ नन्ददास की गोपियाँ भोली-भाली और सौम्य है । उनमे तार्किक बुद्धि भी अपेक्षाकृत अधिक है ।

रसो के क्षेत्र मे सूर नन्ददास से आगे है । सूर ने प्राय सभी रसो को स्थान दिया है । नन्ददास शृङ्गार भक्त होने के कारण अन्य रसो की ओर आकृष्ट नही हो सके है । सूर की अलकार-योजना भी विस्तृत है । छदो के प्रयोग मे नन्ददास सूर से आगे है । सूर ने अधिकाश गीतात्मक पदो को ही अपने काव्य मे स्थान दिया है, नन्ददास ने रोला, दोहा चौपाई आदि छदो मे भी अधिकारपूर्वक लिखा है । भाषा की दृष्टि से तो नन्ददास 'जडिया' प्रसिद्ध ही है । इस प्रकार हम देखते है कि अष्टछाप के कवियो मे सूर के पश्चात् नन्ददास को जो स्थान मिला है वह उपयुक्त ही है ।

---

८ : अब्दुल रहीम खानखाना

जन्म-स० १६१३ मृत्यु-स० १६८३

जीवन-परिचय

कविवर अब्दुल रहीमखॉ खानखाना का जन्म गुरुवार, माघ कृष्ण १० स० १६१३ अर्थात् १४ सफर ९६४ हिजरी को लाहौर मे हुआ था। उनके पिता का नाम बैरमखॉ खानखाना था। बैरमखाँ अकबर के दरबार मे रहते थे। उन्होने ही बाल्यावस्था मे अकबर का पालन-पोषण किया था, इसलिए अकबर उन्हे अपने पिता-तुल्य मानते थे। अकबर के सम्राट होने (स० १६१३-१९) पर वह उनके अभिभावक हो गये, पर अधिक दिनो तक यह सम्बन्ध स्थिर न रह सका। वह अकबर के विद्रोहियो मे सम्मिलित हो गये। जब अकबर को उनकी काली करतूतो का पता चला, तब उन्होने बदला न लेकर, उन्हे हज करने के लिए मक्का भेज दिया। पर गुजरात के अन्तर्गत पाटन मे उनके शत्रु मुबारकखॉ ने उनका बध कर दिया। उस समय रहीम की अवस्था केवल ५-६ वर्ष की थी। रहीम अपनी मा और अपने सेवको, मुहम्मद अमी तथा बाबा जम्बुर, के साथ बचकर दिल्ली आये और स० १६१९ मे अकबर के सामने पेश किए गये। ऐसी दशा मे उनके पालन-पोषण का भार अकबर को ही उठाना पडा।

रहीम प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। उन्होने पहले फारसी और अरबी साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होने सस्कृत और हिन्दी साहित्य का भी अध्ययन किया। इस प्रकार थोड़े ही दिनो मे वह अरबी, फारसी, सस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान हो गये। अकबर पर उनकी प्रतिभा और कुशाग्र बुद्धि का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अत. उन्होने उन्हे 'मिरजाखाँ' की उपाधि से सम्मानित किया और अपनी धाई-माँ की पुत्री से उनका विवाह करा दिया। इस सम्बन्ध के कारण राजघराने से उनकी घनिष्टता बढ गई। अकबर उन्हे बहुत मानते थे। इसलिए वह शीघ्र ही उन्नति करके अकबर के प्रधान सेनापति, मन्त्री और दरबार के नव-रत्न हो गये। इन पदो पर उन्होने बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया। अकबर उनको

कार्यपटुता, बुद्धिमत्ता और कार्य-तत्परता से इतने प्रभावित थे कि उन्हें बड़े-से-बड़े पद पर प्रतिष्ठित करने मे वह कभी हिचकिचाते नही थे। स० १६३९ मे राजकुमार सलीम की शिक्षा का भार भी उन्ही को सौंपा गया था और वह उनके शिक्षक तथा अभिभावक बनाये गये थे।

रहीम का स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा उदार था। ऊँचे पदो पर रहते हुये भी उनमे लेशमात्र गर्व नही था। उनकी सभा विद्वानो और पडितो से भरी रहती थी। वह बड़े दानी, परोपकारी, सज्जन और सहृदय थे। मुसलमान होते हुए भी वह कृष्ण के भक्त थे। हिन्दी काव्य के प्रति उनके मोह का कारण उनकी कृष्ण-भक्ति ही थी। श्रीकृष्ण के प्रति उनके काव्य मे उनके विशुद्ध प्रेम की बड़ी ही मनोहर झलक दिखाई देती है। उदारता तो उनमे इतनी थी कि वर्ष मे एक बार एक निश्चित तिथि पर वह अपने घर की सारी सम्पत्ति दान कर दिया करते थे। उन्हे ससार का बड़ा गहरा अनुभव था और उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। महाराणा प्रताप पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। एक बार जब अकबर और महाराणा प्रतापसिह की सेनाओ मे घोर युद्ध हो रहा था तब रहीम के घर की बेगमे महाराणा के सैनिको के हाथो पड़ गयी। महाराणा ने यह जानकर उन्हे बड़े सम्मानपूर्वक खानखाना के पास भिजवा दिया। कहा जाता है कि इस प्रत्युपकार के फलस्वरूप खानखाना ने एक बार उनकी बड़ी सहायता की थी।

खानखाना के सम्बन्ध मे कुछ किवदतियाँ भी प्रसिद्ध है। इनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है —

(१) अकबर के दरबार मे गग बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। एक दिन उन्होने रहीम की प्रशसा मे यह छप्पय सुनाया :—

'चाकित भँवर रहि गयो गमन नहिं करत कमल-बन।
अहि-फनि मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हस मानसर तज्यो, चक्क चक्का न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खल भलति सेस कवि गङ्ग भनि, अमित तेज रवि-रथ खस्यो।
खानखानाँ बैरम-सुवन जा दिन क्रोध करि तङ्ग कस्यो॥"

इस छप्पय को सुनकर रहीम इतने प्रसन्न हुये कि उसी समय उन्होने ३६ लाख की एक हुँडी, जो खजाने मे जमा होने के लिए आई थी, गङ्ग को दे दी।

(२) एक बार गोस्वामीजी ने एक ब्राह्मण को, जिसे अपनी कन्या का विवाह करने के लिए धन की विशेष आवश्यकता थी, रहीम के पास भेजा और उसे उन्हे देने के लिए एक दोहे का अर्द्धभाग दे दिया। वह अर्द्धभाग यह था —

'सुर-तिय, नर तिय, नाग-तिय सब चाहत अस होय।'

रहीम ने उस ब्राह्मण की बडी आवभगत की और उसे बहुत धन देकर उपर्युक्त दोहे की इस प्रकार पूर्ति कर गोस्वामीजी के पास भेज दिया —

'गोद लिए 'हुलसी' फिरै, तुलसी सो सुत होय॥'

(३) एकबार रहीम का एक नौकर छुट्टी लेकर घर गया। घर मे उसकी नवबधू का पहले-पहल आगमन हुआ था। छुट्टी समाप्त होने पर नवबधू ने अपने पति से घर मे कुछ दिन और रहने का तीव्र आग्रह किया, किन्तु नौकरी छूट जाने के भय से उसने उसके आग्रह को स्वीकार नही किया। वह स्त्री विदुषी थी। अत उसने एक बरवै लिखकर और उसे लिफाफे मे बन्द करके अपने पति को दिया और कहा कि इसे अपने स्वामी को दे देना। रहीम ने जब लिफाफा खोला तब उन्हे उस पत्र मे यह लिखा हुआ मिला —

'प्रेम प्रीति को विरवा, चल्यौ लगाय।
सीचन की सुधि लीज्यो, मुरझि न जाय॥'

रहीम दूरदर्शी थे। उन्होने यह बरवै पढकर नारी-हृदय की भावना का रहस्य समझ लिया। अत उन्होने अपनी उदार प्रकृति के अनुसार अपने उक्त नौकर को एक लम्बी छुट्टी दे दी और उसकी स्त्री को आभूषण और वस्त्र देकर सम्मानित किया। यह छन्द उन्हे इतना पसन्द आया कि उन्होंने इसी छन्द मे बरवै नायिकाभेद की रचना की। यह नायिकाभेद शृङ्गार रस की अमूल्य निधि है।

(४) एक बार मुगल-सम्राट जहाँगीर के प्रति विरोध भावना प्रगट करने के कारण रहीम बन्दी हो गये। बन्दी-गृह से मुक्त होने के पश्चात् उन्हे बड़े-बड़े आर्थिक संकटो का सामना करना पड़ा। अन्त मे दुखी होकर वह चित्रकूट चले

गये। पर इस दीनावस्था मे भी याचक उन्हे घेरे रहते थे। उन्हे बडा कष्ट होता था। अत उन्होने याचको से कहा .—

'ए रहीम दर-दर फिरै, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़ दो, वे रहीम अब नाहिं॥'

इतना कहने पर भी याचको ने उनका पीछा नही छोडा। एक दिन एक याचक ने उनका यह दोहा पढकर उन्हे सुनाया .—

'रहिमन दानि दरिद्रतर, तऊ जाचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुआँ खनावत लोग॥'

यह दोहा सुनकर उन्होने रीवाँ-नरेश के पास यह दोहा लिखकर भेजा :—

'चित्रकूट मे रमि रहे, रहिमन अवध-नरेश।
जापर विपदा परत है, सो आवत यहि देश॥'

कहते है, इस दोहे पर मुग्ध होकर रीवाँ-नरेश ने उनके पास एक लाख रुपया भेज दिया। रहीम ने यह सारा धन याचको मे बाँट दिया।

(५) दरिद्रावस्था से दुखी होकर एक बार रहीम ने एक भुजवे के यहाँ भाड़ झोकने की नौकरी कर ली। एक दिन जब वह भाड झोक रहे थे तब अकस्मात रीवाँ नरेश उधर से आ निकले! उन्होने रहीम को पहचान कर कहा —

'जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस।'

रहीम ने रीवाँ-नरेश को पहचान कर यह उत्तर दिया .—

'रहिमन उतरे पार, भार झोकि सब भार में॥'

जहाँगीर के शासन-काल मे अपनी विद्रोही भावना के कारण रहीम को बड़ी-बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ा, पर अपनी इस हीनावस्था मे भी उन्होने किसी की दासता स्वीकार नही की। वह अपने जीवन के अन्त तक उदार सरस और कोमल बने रहे। सवत् १६८३ (१०३६ हिजरी) के फागुन मास मे उनकी जीवन-यात्रा का अन्त हुआ।

रहीम की रचनाएँ

रहीम साहित्य-प्रेमी थे। अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दी के वह अपने समय के बड़े विद्वान थे। अरबी के अतिरिक्त फारसी, सस्कृति और हिन्दी—

इन तीन भाषाओ मे सफलतापूर्वक वह कविता करते थे। उनकी कुछ रचनाएँ अप्राप्य है, पर जो भी रचनाएँ हमे अब तक उपलब्ध हो सकी है वे उनको एक प्रतिभाशाली कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। उन्होने निम्नलिखित पुस्तको की रचना की है :—

(१) **बाकआत बाबरी का फारसी अनुवाद**—मूल पुस्तक तुर्की भाषा में है। रहीम ने इस भाषा से बाबर के जीवन-चरित्र का अनुवाद फारसी भाषा मे बड़ी सुन्दरता से किया है।

(२) **दीवाने फारसी**—इसमे रहीम की फारसी भाषा मे लिखी हुई कविताओ का सग्रह है।

(३) **खेट कौतुक जातकम्**—यह ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमे सस्कृत तथा फारसी शब्दो का मेल बड़े अनोखे ढग से किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत भाषा पर उनका पूरा अधिकार था और वह ज्योतिष के पडित थे।

(४) **बरवै नायिकाभेद**—इसमे ११४ छन्द है। इन छन्दो मे रहीम ने लक्षण देकर केवल नायिका का उदाहरण दिया है। इनकी भाषा पूर्वी अवधी है।

(५) **मदनाष्टक**—यह खड़ीबोली का काव्य है।

(६) **रासपंचाध्यायी**—यह ग्रन्थ अप्राप्य है। भक्तमाल की टीका मे जो दो पद पाए जाते हैं वे रासपंचाध्यायी के ही कहे जाते है।

(७) **शृंगार सोरठा**—श्री शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक मे इस ग्रंथ का उल्लेख किया है, पर यह ग्रथ अभी तक अप्राप्य है।

(८) **रहीम-सतसई**—लोगो का कहना है कि रहीम ने एक सतई भी लिखी थी, पर अबतक उसका पता नही चला। उनके जो दोहे अबतक मिले है वे उसी सतसई के बताए जाते है।

इन ग्रथो के अतिरिक्त रहीम की स्फुट कवितायें भी मिलती हैं। इन कविताओ का सग्रह भी अन्य पुस्तको की भाति अप्राप्य है। उनकी अबतक जो कविताएँ मिली है उन्ही के संग्रह यत्रतत्र देखने मे आते है।

रहीम की काव्य-साधना

रहीम हिन्दी-साहित्य की दिव्य विभूति थे। हिन्दी मे उनकी कविता को इसलिए महत्व नही प्राप्त हुआ कि वह मुसलमान थे, वरन् इसलिए कि साहित्यिक दृष्टि से वह हमारे गौरव की वस्तु है। उनकी वाणी मे जो माधुर्य और मार्दव है वह हिन्दी के बहुत थोड़े ही कवियो की रचनाओ मे पाया जाता है। उन्होने हिंदी मे ही नही, फारसी भाषा मे भी बड़ी सरस और भावपूर्ण कविताएँ की है। हिन्दी मे वह अपने दोहो के लिए प्रसिद्ध है। उनके दोहे बेजोड़ होते है। उनमे नीति, ज्ञान, शृङ्गार और प्रेम का इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि मानव-हृदय पर उनका बहुत गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ता है। दोहो मे भाव व्यक्त करना कितना कठिन है, इसे उन्ही की उक्तियो मे देखिए :—

'दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोड़े आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमिट, कूदि, कढ़ि जाहिं॥'

रहीम के इस दोहे से स्पष्ट है कि उन्होने अपने जिन दोहो में भाव भरे हैं उनमे ही उनकी काव्य-कला का विकास हुआ है। उनके दोहो के विषय भिन्न-भिन्न है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, नीति, सत्सग, शृङ्गार, प्रेम, परिहास, स्वाभिमान आदि सभी विषयो पर उन्होने सफलतापूर्वक अपने भावो को दोहा-बद्ध किया है। उन्होने अपने दोहो मे दार्शनिक विचारो को बहुत कम स्थान दिया है, पर थोडे मे उन्होने जो कुछ कहा है उससे उनके पाडित्य और गम्भीर दार्शनिक चिन्तन का यथेष्ट आभास मिल जाता है —

'बिन्दु में सिन्धु समान, को कासो अचरज कहे।
हेरनहार हिरान, रहिमन आपुहि आप मे॥'

रहीम के भक्ति-सम्बन्धी दोहे अधिक हैं। यद्यपि वह मुसलमान थे और इस्लामी सभ्यता मे पले थे तथापि वह कृष्ण के भक्त थे। उदाहरण के लिए उनके निम्न दोहे लीजिए :—

'रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी, चोर, लबार।
जो पत-राखनहार है, माखन-चाखनहार॥

'नित रहीम चित आपनो, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि-बासर लाग्यो रहे, कृष्ण-चन्द्र की ओर।।'

कृष्ण के प्रति उनकी जैसी भक्ति-भावना है वैसी ही भक्ति-भावना राम के प्रति उनके इन दोहो मे देखिए —

'रहिमन धोखे भाव से, मुख ते निकसत राम।
पावत पूरन परम गति, कामादिक के धाम।।'
'गह सरनागत राम कै, भवसागर कै नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव।।'

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि रहीम राम और कृष्ण दोनो के भक्त थे, पर कृष्ण के प्रति उनका मोह अधिक था। कृष्ण उनके उपास्य देव थे। वह भक्ति-मार्ग के पोषक थे। मुसलमान होते हुए भी वह सगुणोपासना के समर्थक थे। भक्ति के सम्बन्ध मे उनका कहना था :—

'रहिमन मनहिं लगाइ कै देखि लेहु किन कोय।
नर को बस करिबो कहा, नारायण बस होय।।'

सगुणोपासना मे उनका विश्वास इस दोहे से स्पष्ट होता है —

'अजन देहु तो किरकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिन में हरि बसो, रहिमन बलि-बलि जाय।।'

इस दोहे मे 'अजन' से रहीम का तात्पर्य योगादि क्रियाओ से और 'सुरमा' से मुसलमानी रीति के अनुसार ईश्वरोपासना से है। 'हरि' से उनका आशय हरियाली और श्रीकृष्ण से है। इस प्रकार उनके इस दोहे से उनकी सगुणोपासना सम्बन्धी रुचि का आभास मिल जाता है। और यदि ईश्वर की करुणा मे उनका विश्वास देखना हो तो निम्न दोहे लीजिए :—

'काम कछू आवै नहीं, मोल न काऊ लेइ।
बाजू टूटे बाज को, साहब चारा देइ।।'

* * *

'अमर बेलि बिन मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि।।'

रहीम अपने नीति के दोहो के लिए हिन्दी-जगत मे अत्यधिक लोकप्रिय है। अपने ऐसे दोहो मे वह एक उपदेशक तथा शिक्षक के रूप मे हमारे सामने आते है। जीवन की वास्तविक परिस्थितियो मे पड़कर उन्होने ससार का जितना अनुभव प्राप्त किया उसी के आधार पर उन्होने अपनी नीति का प्रासाद खड़ा किया। इस प्रासाद मे जीवन की सफलता एव उपयोगिता के लिए उन्होंने, सरल और सुबोध शब्दो मे, जितनी सामग्री का सकलन किया है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके नीति के दोहे इतने सरस, जीवनोपयोगी और पथ-निर्देशक है कि लोग अवसर पड़ने पर उन्हे लोकोक्तियो की भाति प्रयोग करते हैं। कुछ और उदाहरण लीजिए :—

'कहि 'रहीम' संगति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत ॥'

*   *   *

'रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ॥'

*   *   *

'रहिमन अति न कीजिये, गहि रहिये निज कानि।
सहिजन अति फूलै तऊ, डारि-पाति की हानि ॥'

रहीम को पौराणिक कथाओ का भी अच्छा ज्ञान था। अपने दोहो में उन्होने, सदर्भ के रूप मे, ऐसी कथाओ को स्थान देकर उनका महत्व बढा दिया है। कुछ उदाहरण लीजिए —

'छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उत्पात।
का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥'

*   *   *

'माँगे घटत रहीम पद, कितो करो बढ़ि काम।
तीन पैग बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥'

*   *   *

'जो पुरुषारथ ते कहूँ, सम्पति मिलति रहीम ।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥'

रहीम ने सयोग-शृङ्गार के वर्णन मे अपनी सरसता का बहुत अच्छा परिचय दिया है । एक दोहा लीजिए —

'मनसिज माली कै उपज, रहिमन कही न जाय ।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम उर माँय ॥'

शृङ्गार की दृष्टि से उनका 'बरवै-नायिकाभेद' हिन्दी की अमूल्य निधि है । इसके प्राय सभी पद्य मनोहर और चित्ताकर्षक है । उनके शब्दो मे उनके बरवै का महत्व देखिए —

'बेधक अनियारे बड़े, यह बरवै के बान ।
सुनत जाहि चित्त चाव पै, समुझै चतुर सजान ॥

रहीम ने अपने बरवै के सम्बन्ध मे अपने शब्दो मे जो कुछ कहा है उसमे तिलमात्र भी अत्युक्ति नही है । सरल और चलती हुई भाषा मे उन्होने भिन्न-भिन्न नायिकाओ के सुन्दर, सरस और प्रभावपूर्ण उदाहरण दिये है । निम्न बरवै से उनकी शृङ्गार-प्रियता का आभास मिलता है —

'औचक आय जोबनवाँ, मोहि दुख दीन ।
छुटिगो सङ्ग गोइयवाँ, नहिं भल कीन ॥'

* * *

'मोहिं बर जोग कन्हैया, लागउँ पाय ।
तुहूँ कुल पूज देवतवा, होहु सहाय ॥'

* * *

'बाहर लैके दियवा, बारन जाय ।
सासु-ननद ढिग पहुंचत, देति बुझाय ॥'

* * *

'पीतम इक सुमिरिनियाँ, मोहि देइ जाहु ।
जेहि जप तोर बिरहवा, करब निबाहु ॥'

देखिए, शृङ्गार-सोरठ के निम्न सोरठे भी कितने सुन्दर है :—

'गई आगि उर लाय, आगि लेन आई जो तिय।
लागी नहीं बुझाय, भभकि-भभकि बर-बर उठै ॥'

*   *   *

'पलटि चली मुसुकाय, दुति रहीम उजियाय अति।
बाती सी उसकाय, मानो दीनी दीप की ॥'

रहीम की उक्त पक्तियो से शृङ्गार छलका पड़ता है। इनमे तन्मयता है, सरसता है, वेदना है और नारी-हृदय के मनोभावो का मनोहर चित्र है। इन चित्रो का अकन एक कुशल कवि का ही काम है। रहीम मे हृदय को टटोलने की अद्भुत क्षमता है। प्रत्यक्ष जीवन के कवि होने के कारण उनकी रचनाओ मे जीवन का माधुर्य ओतप्रोत है। इसका एक कारण है और वह यह कि उनकी दृष्टि ससार के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल से-स्थूल वस्तु मे प्रवेश कर गई थी। सभी प्रकार के मनुष्यो से उनका परिचय था और मानव-जीवन के प्रति उनकी उदार एव व्यापक दृष्टि थी। वह वस्तुत जीवन और जगत के कवि थे। इसीलिए हमे उनकी रचनाओ मे न तो कल्पना की उड़ान मिलती है और न भावो का अन्त-र्द्वन्द्व। सीधे-सादे शब्दो मे उनके जीवनोपयोगी विचार ही उनकी रचनाओ मे व्यक्त हुये हैं और वे विचार हमे प्रभावित करते है।

रहीम की शैली

रहीम की शैली अत्यन्त सरल और सुबोध है। वह अपनी बात को अपने ढंग से इतने सरल शब्दो मे कहते है कि पाठक पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। उनमे कथन की वक्रता नही है। हिन्दी के सरलतम छन्द दोहा, सोरठा और बरवै का उन्होने अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। 'बरवै नायिका-भेद' के आरम्भ मे उन्होने कहा है :—

'कवित कह्यो, दोहा कह्यो, तुल्यो न छप्पय छन्द।
बिरच्यो इहै विचारि कै, यह बरवै रस छन्द ॥'

इस दोहे से यह स्पष्ट होता है कि उन्होने कवित्त और छप्पै भी लिखे हैं। परन्तु उनके इन छन्दो का पता नही लगता। उनके दोहे, सोरठे और बरवै

ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं। इन छन्दो मे भाषा की प्रसादता के साथ-साथ अलकारो का विधान भी स्वाभाविक और काव्योचित है। उदाहरण, अन्योक्ति और दृष्टात के वह उस्ताद थे। इन अलकारो पर उनका पूर्ण अधिकार था। इनके अतिरिक्त श्लेष और यमक भी उनकी रचनाओ मे मिलते हैं। अन्योक्ति का एक उदाहरण लीजिए :—

'रहिमन अब वे बिरछ कहँ, जिनकी छाँह गंभीर।
बागन बिच-बिच देखियत, सेहुँड़, कंज, करीर ॥'

यमक का चमत्कार इस दोहे मे देखिए :—

'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मती, मानस, चून ॥'

उदाहरण का एक उदाहरण लीजिए :—

'यों रहीम सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, अँखियन को सुख होत ॥'

दृष्टात की भी बानगी लीजिए —

'रहिमन राम न उर धरै, रहत विषय लपिटाय।
पसु खर खात सवाद सो, गुर गुलियाये खाय ॥'

रहीम ने अपने काव्य मे उन्ही अलकारो को स्थान दिया है जो समझने मे सरल और सुबोध है। इसीलिए वह जटिल होने से बच गया है।

रहीम की रस-योजना में शृङ्गार और शान्त को मुख्यत स्थान मिला है। शृङ्गार की दृष्टि से उनका 'बरवै-नायिका-भेद' अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य है। दोहो मे शान्त और शृङ्गार दोनो को स्थान मिला है। कुछ दोहे, मुख्यत. नीति-प्रधान, ऐसे है जिनमे कोई रस नही है।

रहीम की भाषा

रहीम ने अवधी और ब्रज-भाषा, दोनो मे कविता की है। बरवै नायिकाभेद, लिखकर उन्होने पूर्वी अवधी पर अपने भाषा-सम्बन्धी अधिकार की मुद्रा लगाई है। अपने नीति के चुटीले दोहो मे भी उन्होने अवधी का प्रयोग अत्यंत

सफलतापूर्वक किया है। खड़ीबोली का प्राचीन रूप भी हमे उनकी रचनाओ में मिलता है। 'मदनाष्टक' से एक उदाहरण लीजिए :—

'कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी मे खड़ा था॥
कटि-तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला॥'

इन भाषाओ के अतिरिक्त रहीम तुर्की, फारसी तथा सस्कृत भाषाओ के भी पूर्ण ज्ञाता थे। सस्कृत और फारसी मे भी उन्होने रचना की थी। उनका शब्द ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत था। अत अपने दोहो के लिए वह उपयुक्त शब्द बडी आसानी से खोज लेते थे। किसी भी भाषा का शब्द हो, वह उसका प्रयोग तद्भव रूप मे ही करते थे। भाषा की मिठास का उन्हे बराबर ध्यान रहता था। इसलिए आवश्यकता पडने पर वह ग्रामीण शब्द भी अपना लेते थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे उनकी शब्द-योजना सरस, भावनानुकूल, स्वाभाविक, प्रसाद गुण-युक्त और मार्मिक है। उनके शब्द-विधान और वाक्य-विन्यास में कही भी शिथिलता और शुष्कता नही है। कल्पना की ऊँची उड़ान मे आकाश-पाताल दोनो को एक कर देनेवाले कवियो की भाँति उन्होने अपनी भाषा को असयत और दुर्बोध नही होने दिया। उन्होने अपने भावो तथा वर्ण्य-विषय को सरस ढंग से थोड़े शब्दो मे व्यक्त किया है।

रहीम और कबीर

अब रहीम और कबीर, दोनो पर एक साथ विचार कीजिए। दोनो दोहाकार है और दोनो अपने-अपने दोहो मे शिक्षक और उपदेशक के रूप मे हमारे सामने आते है। दोनो हिन्दी के मुसलमान कवि है और हिन्दू-धर्म की दार्शनिक चेतना से समान रूप से प्रभावित है। पर दोनो के दृष्टिकोण मे महान अन्तर है। कबीर ज्ञानी सन्त है, धर्म-गुरु है, सत-मत के उन्नायक है और जीवन के आलोचक है। वह न कोरे मुसलमान है, न कोरे हिन्दू। उन्होने दोनो धर्मो की विशेषताओ काअपने संत-जीवन में समन्वय किया है। इसलिए वह आडम्बरपूर्ण धार्मिक जीवन के कटु आलोचक

भी हो गए है। उनके दोहे उनकी आलोचना से परिपूर्ण है। उनमे उपदेश के साथ-साथ उपालभ, व्यग और फटकार भी मिलती है। निर्गुणोपासना मे विश्वास होने के कारण उनके विचारो मे शुष्कता और नीरसता भी है। इसके विपरीत रहीम न तो सन्त है और न पूर्ण भक्त। भक्त वह इसी अर्थ मे कहे जा सकते है कि सगुणोपासना मे उनकी आस्था है। वह पहले साहित्य प्रेमी और कवि है, इसके बाद और कुछ; परन्तु कबीर पहले सन्त है, तत्पश्चात् कवि। इसलिए रहीम के दोहो मे भावो और विचारो की जैसी सरसता और उठान है वैसी कबीर के दोहो मे नही है। कबीर अपने दोहो-द्वारा जनता मे अपने दार्शनिक विचारो का प्रचार करना चाहते थे। ललित साहित्य का भाडार भरने के लिए उन्होने दोहो की रचना नही की। रहीम ने अपने दोहो-द्वारा हिन्दी-साहित्य का गौरव बढाया। वह धर्म के नही, दैनिक जीवन के और उस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओ के कवि है। इसलिए कबीर और रहीम अपने-अपने दोहो मे हमे पृथक दिखाई पडते है। कबीर मे धार्मिक तत्वो का खडन-मडन जितनी मात्रा मे मिलता है उतनी मात्रा मे जीवन-निर्माण की कला नही मिलती। वह हमारा मस्तिष्क तो मथते है, पर हृदय को प्रभावित नही करते। रहीम मे जीवन-निर्माण की कला प्रचुर मात्रा मे है। इसलिए उनके कथन का हमारे हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव पडता है और वह हमारे निकट है।

रहीम और कबीर भाषा के क्षेत्र मे भी एक दूसरे से भिन्न है। रहीम की भाषा अवधी और कही ब्रज है, कबीर की भाषा मे कई भाषाओ तथा बोलियो का मेल है। इसलिए उनकी भाषा मे रहीम की भाषा-जैसो सरसता और सादगी नही है। उसमे अक्खड़पन और शुष्कता है। विभिन्न भाषाओं के शब्दो के मेल से उनकी भाषा का माधुर्य और प्रवाह नष्ट हो गया है। इतना होते हुए भी दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे महान् है और दोनो हिन्दी-साहित्य की अमर विभूति है।

रहीम और तुलसी

हिन्दी मे तुलसी ने भी दोहे लिखे है। रहीम और तुलसी दोनो समकालीन कवि थे। दोनो का सगुणोपासना मे विश्वास था और दोनो जीवन-निर्माण के कवि

थे। रहीम की अपेक्षा तुलसी का काव्य क्षेत्र अधिक विस्तृत था। इसलिए जीवन-निर्माण की कला का प्रदर्शन करने के लिए तुलसी को जितना अवसर मिला उतना रहीम को नही मिल सका। इसके अतिरिक्त तुलसी मे रहीम की अपेक्षा काव्य-प्रतिभा भी अधिक है। इसलिए भक्ति-भावना और दार्शनिक तथा नैतिक विचारो का जैसा सुन्दर चित्रण तुलसी के दोहो मे मिलता है वैसा न तो कबीर मे है और न रहीम मे। रहीम मे भावो की सादगी है और तुलसी मे भावो की गम्भीरता। इसी गभीरता के कारण तुलसी के दोहे जनता मे उतने लोकप्रिय नही हो सके जितने रहीम के दोहे। रहीम के प्राय सभी दोहे जीवन की परि-स्थितियो के व्यजक है और तुलसी के अधिकाश दोहे भक्ति-भावना के दार्शनिक तत्वो के चिंतन से ओत-प्रोत है। नीति और सत्सग आदि के दोहो मे दोनो को समान रूप से सफलता मिली है। पर इन विषयो मे भी तुलसी की गति रहीम की अपेक्षा अधिक है। तुलसी ने जीवन के सभी पहलुओ पर जैसा प्रकाश डाला है वैसा प्रकाश डालने का प्रयत्न यद्यपि रहीम ने भी किया है, तथापि वह अपने इस प्रयत्न मे भी तुलसी से बहुत पीछे रह गए है। पर इसका यह अर्थ नही कि तुलसी की रचनाओ की समता मे रहीम की रचनाएँ केवल तुकबन्दियाँ है। शिया-मुसलमान होते हुए भी उन्होने जिस उदारता से हिन्दी-भाषा, हिन्दी साहित्य और हिन्दुओ के धार्मिक विश्वासो को अपनाकर अपने जिन भावो तथा विचारो का अपनी रुचि के छन्दो मे व्यक्त किया है उनमे काव्यकला का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण हुआ है और हम उन्हे हिन्दी की अमूल्य धरोहर समझते है।

भाषा की दृष्टि से तुलसी और रहीम दोनो अपनी सरस और प्रवाहपूर्ण रचनाओ के लिए प्रसिद्ध है। दोनो का ब्रज और अवधी पर पूर्ण अधिकार है। दोनो की भाषा मे माधुर्य और प्रसाद गुण की अधिकता है। दोनो ने अपनी शब्द-शक्ति द्वारा अपने मनोभावो को अपने पाठको के सामने भलीभाँति रखने मे सफलता प्राप्त की है। पर इतनी समानता होते हुए भी तुलसी की भाषा रहीम की भाषा की अपेक्षा अधिक सस्कृतगर्भित और साहित्यिक है।

रहीम और बिहारी

अब रहीम के दोहो की बिहारी के दोहो से तुलना कीजिए। हिन्दी-

साहित्य के इतिहास मे दोनो के दोहो का महत्वपूर्ण स्थान है। नीति और भक्ति, शृङ्गार और प्रेम के दोहे दोनो ने लिखे है, पर दोनो की रचनाओ मे अन्तर है। बिहारी हिन्दू थे। हिन्दुओ के सम्पर्क मे रहकर उन्होने हिन्दी की जो सेवा की वह प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। रहीम मुसलमान थे। मुसलमानो के बीच रहकर उन्होने हिन्दी की जो सेवा की उसका मूल्य उस समय के साम्प्रदायिक वातावरण को ध्यान मे रखते हुए कम नही है। बिहारी के दोहो मे साहित्य-शास्त्र की प्रचुर सामग्री है, कल्पना की उड़ान है और भावो की उछल-कूद है। रहीम के काव्य में जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ है। प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे यदि कहे तो यह कह सकते है कि रहीम ने अपने उदार और ऊँचे हृदय को ससार के वास्तविक व्यवहारो के बीच रखकर जो सवेदना प्राप्त की है उसी की व्यजना उन्होने अपने दोहो मे की है। तुलसी के वचनो के समान ही रहीम के वचन भी सर्वसाधारण के मुख पर रहते है और अवसर पड़ने पर उनका पथ-प्रदर्शन करते है। बिहारी को अपने दोहो-द्वारा यह लोक-प्रियता नही मिली। इसमे सन्देह नही कि काव्य-प्रतिभा, भाषा पर अधिकार और कल्पना की सुन्दर समाहार-शक्ति मे रहीम उनकी समता नही कर सकते, पर प्रचार और जीवन-निर्माण की कला की दृष्टि से रहीम के दोहो का जो महत्व है वह बिहारी के दोहो को नसीब नही हो सका। आपत्ति की घडियो मे, किसी व्यक्ति को कुसगति मे पडा हुआ देखकर, दुख के दिनो मे, किसी मित्र की उदासीनता पर, किसी व्यक्ति के स्वार्थ-चिन्तन पर हमे रहीम ही याद आते है, बिहारी नही। बिहारी हमारे मनोभावो को गुदगुदा सकते है, हमारी कल्पनाओ को उत्तेजित कर सकते है, हमारी शृगारिक भावनाओ को तीव्रतर कर सकते है, पर रहीम की भाँति हमारी समस्याओ का सुझाव हमारे सामने उपस्थित नही कर सकते। बिहारी मे साहित्यिक कला है और रहीम मे लोक-जीवन-निर्माण की कला। उनके दृष्टिकोणो का यह अन्तर उनकी रचनाओ से स्पष्ट हो जाता है। अब भावसाम्य के उदाहरण लीजिए। रहीम कहते है —

'नित 'रहीम' चित आपुनों कीजै चारु चकोर।
निसि बासर लागो रहै, कृष्ण चन्द्र की ओर॥'

बिहारी ने इसी भाव को इस प्रकार कहा है —

हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त रसावान की रचनाओ से रसखान के वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने का कही भी सकेत नही मिलता। वल्लभ-सम्प्रदाय मे बालकृष्ण की लीलाओ का महत्व है। इसके विरुद्ध रसखान ने सर्वत्र कृष्ण की किशोरावस्था का बखान किया है। रसखान मुसलमान थे। मुसलमानो के प्रति उस समय के वैष्णव-भक्तो की जो भावना थी उसे ध्यान मे रखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हे किसी वैष्णव-सम्प्रदाय ने अपना शिष्य न बनाया होगा। रसखान ने अपनी रचनाओ मे कृष्ण और गोपियो के प्रेम को जिन शब्दो मे चित्रित किया है उनके अध्ययन से रसखान के किसी सम्प्रदाय विशेष मे दीक्षित होने का आभास नही मिलता, उनमे रसखान की सूफी-प्रेम-भावना अवश्य व्यक्त हुई है। इसलिए यदि हम उन्हे सूफी-प्रेम-भावना से प्रभावित गोपी कृष्ण का प्रेमी मानें तो अनुचित न होगा। इसकी उनके काव्य पर स्पष्ट छाप है।

रसखान फारसी और अरबी के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी-कवियो से भी उनका संपर्क था और उन्ही के सपर्क से उन्होने ब्रजभाषा और पिगल का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। गोकुल मे रहने के कारण उनकी ब्रजभाषा पर खराद सा चढ गया था। उनका भावुक हृदय प्रेम से परिपूर्ण था। मुसलमान होने पर भी उन्होने कृष्ण के प्रेम मे डूबकर जैसी डुबकिया लगाई वैसी बहुत कम कृष्ण-भक्त लगा सके। वह कुछ ही वर्षो जीवित रहे। अनुमानत स० १६४० मे उनका जन्म हुआ और स० १६८५ मे उनका निधन, पर इन कुछ ही वर्षो मे उन्होने हिन्दी को अपना जो प्रेम दिया है, वह अमर है।

रसखान की रचनाएँ

रसखान प्रेमानुभूति के कवि थे। उनका रचना-काल स० १६६४ के पश्चात् माना जाता है। उनके दो ही ग्रन्थ अब तक प्राप्य है। 'प्रेम वाटिका' उनकी सर्वप्रथम रचना है। इसका रचना-काल सम्वत् १६७१ है। इसमे केवल ५२ दोहे और सोरठे है। इन छन्दो मे प्रेम का बड़ा ही हृदयग्राही एव विशुद्ध अकित किया गया है। उनका दूसरा ग्रथ 'सुजान-रसखान' है। इसमे १२९ जिनमे १० दोहे-सोरठे आदि हैं और शेष कवित्त-सवैये है। इनमे भी प्रेम

का ही चित्रण हुआ है। इनके अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित स० १६६१ तथा सं० १६६२ के वार्षिक विवरणो से यह पता चलता है कि उनके दो और 'सग्रह' है। परन्तु अब तक उनका पता नही लग सका है।

रसखान की काव्य-साधना

हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे शृङ्गार-काल स० (१७००-१६००) के अन्तर्गत हिन्दी-काव्य की दो स्पष्ट धाराएँ मिलती हैं : (१) रीति-बद्ध-काव्य-धारा और (२) रीति-मुक्त-काव्य-धारा। रीति-बद्ध-काव्य-धारा मे कविता करनेवाले दो प्रकार के कवि दीख पड़ते है एक तो वे कवि है जिन्होने लक्षण और लक्ष्य-दोनो प्रकार की रचनाएँ की है। देव, भूषण आदि इसी प्रकार के कवि है। दूसरे प्रकार के वे कवि है जिन्होने कोई लक्षण-ग्रन्थ तो नही, पर लक्ष्य-ग्रन्थ अवश्य लिखा है। ऐसे कवियो मे बिहारी का नाम लिया जा सकता है। इन दोनो प्रकार के कवियो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कवि है जिन्होने रीति-बद्ध-परपरा से सर्वथा मुक्त होकर कविता की है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने रस के विभिन्न उपादानो, नायिकाभेद और नख-शिख आदि का शास्त्रीय वर्णन नही किया है। इसके अतिरिक्त रीतिबद्ध-कवियो ने जहाँ सभी रसो के लक्षण और उदाहरण दिये है, वहाँ रीति-मुक्त कविया ने शृङ्गार रस को ही अपनाया है। शृङ्गार के वर्णन मे रीति-मुक्त अथवा स्वच्छंद-प्रेमके कवियो का अपना दृष्टिकोण है। उनका शृङ्गार-काव्य विशुद्ध प्रेम-काव्य है जो लौकिक प्रेम पर आधारित होते हुए भी हमें अलौकिक प्रेम का आभास देता है। वह मर्यादित, सयत, सजीव, स्वाभाविक और हृदय-स्पर्शी है। उसमे कवि की अनुभूतियाँ सजग और साकार हो उठी है। रीति-बद्ध-कवियो की रचनाओ मे इन विशेषताओ का सर्वथा अभाव है। उनमे सरसता है अवश्य, पर वह सरसता अनुभूति की सरसता नही है। रीति-मुक्त कवियो ने प्रेम किया है और प्रेम की चोटें सही है। इसलिए उनका काव्य प्रेम के स्फीत उद्गारों से भरा हुआ है। रसखान की रचनाएँ भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

हिन्दी के रीति-मुक्त-कवियो मे रसखान प्रमुख है। अपने शृङ्गार-वर्णन में उन्होने गोपी-कृष्ण को ही आलबन के रूप मे चित्रित किया है। पर उनके गोपी-कृष्ण न तो रीति-बद्ध-कवियो के गोपी-कृष्ण हैं और न कृष्ण-

रीति-बद्ध कवियो के गोपी-कृष्ण वासना और विलासिता के प्रतीक हैं और कृष्ण-भक्तो के गोपी-कृष्ण विष्णु के अवतार। रसखान के गोपी-कृष्ण इन दोनो से भिन्न स्वच्छन्द प्रेम के प्रतीक है। वह तरुण है, सुन्दर है। उनके साथ प्रेम-लीलाएँ करनेवाली गोपिया भी तरुणी और सुन्दरी है। उनका गोपियो के प्रति और गोपियों का उनके प्रति अनन्य स्वच्छन्द प्रेम है। इसी अनन्य प्रेम से प्रभावित होकर रसखान ने अपने हृदय को वाणी प्रदान की है। कृष्ण और गोपियो के बीच उत्पन्न होनेवाले स्वच्छन्द प्रेम की जैसी मनोहर झाकिया उन्होने उतारी है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इन झाकियो मे कभी-कभी कृष्ण का अलौकिक रूप भी झाक उठता है, पर वह गोपियो के स्वच्छन्द प्रेम के कारण उभर नही पाता। देखिए —

'सेस, महेश, गनेश, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि, अनन्त, अखंड, अछेद, अभेद सवेद बतावैं॥
नारद लै सुक व्यास रटैं, पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावै॥'

यह सवैया भक्ति-भावना का नही, रसखान की प्रेम-भावना का आदर्श है। प्रेम मे छोटे-बड़े और जीव-ईश्वर की तमीज नही होती। पानी की सतह की तरह उसकी सतह सम होती है। इसलिए यह छन्द रसखान का प्रेमादर्श ही प्रस्तुत करता है। ऐसे कतिपय छन्दो के आधार पर कुछ लोगो ने रसखान को कृष्ण का भक्त माना है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह वैष्णव-भक्त भी है। वैष्णव-भक्तो का अपना दर्शन है, उनकी अपनी साधना-पद्धति है, उनकी अपनी उपासना और भावना है। उनमे जो दैन्य और विवशता है, माया-मोह के जजाल से छूटकर अपने इष्टदेव के व्यक्तित्व मे समा जाने की जो छटपटाहट है, वह रसखान मे देखने को नही मिलती। कृष्ण और गोपियो के प्रेम तक ही उनकी दृष्टि सीमित है, कृष्ण का जो करुणायतन, भक्त-वत्सल और लोक-पावन रूप है वह उनकी दृष्टि से ओझल है। इसलिए वह प्रेमोपासक की दृष्टि से कृष्ण-भक्त हो सकते है, पर वैष्णव-भक्तो की श्रेणी मे वह स्थान पाने के अधिकारी नही है।

रसखान प्रेम के कवि है। अपनी 'प्रेम-वाटिका' मे उन्होने अपने प्रेम-आदर्श को भलीभाँति स्पष्ट किया है। प्रेम के दो रूप होते है. (१)

कामना सहित प्रेम और (२) कामना-रहित प्रेम। इन्ही दोनो प्रकार के प्रेम से आनन्द की उपलब्धि होती है। कामना-सहित प्रेम विषयानन्द है और कामना-रहित प्रेम ब्रह्मानन्द। रसखान कहते है :—

'आनन्द अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान ॥'

रसखान ने सकाम की अपेक्षा निष्काम प्रेम को ही प्रधानता दी है, क्योंकि वह शुद्ध और स्थायी होता है :—

'दम्पति सुख अरु विषय रस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।
इनते परे बखानिये, शुद्ध प्रेम रसखान ॥'

इस शुद्ध प्रेम का उदय कब होता है? इसे भी सुन लीजिए :—

'दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ॥'

साथ ही शुद्ध प्रेम का लक्षण भी समझ लीजिए :—

'जेहि पाये बैकुंठ अरु, हरिहू की नाहिं चाहि।
सोइ अलौकिक शुद्ध, सम सरस सुप्रेम कहाहि।'

* * *

'इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान।
गिनै प्रियहि सर्वस्वजो, सोई प्रेम प्रमान ॥'

* * *

'डरै सदा, चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय ॥'

और यह भी जान लीजिए कि शुद्ध प्रेम की साधना सब साधनाओ से कठिन है :—

'अति सूछम, कोमल अतिहि, अति पतरो, अति दूर।
प्रेम कठिन सबते सदा, नित इक रस भरपूर ॥'

'कमल-तनु से छीन अरु, कठिन खड़ग की धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि, प्रेम-पन्थ अनिवार ॥'

रसखान ने 'प्रेम-वाटिका' मे प्रेम की जो व्याख्या की है वह सूफी-प्रेम साधना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। सूफी प्रेम-साधना का आधार है, रूपासक्ति। सूफी-साधक लौकिक छवि मे ही अलौकिक छवि का दर्शन पाते हैं। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के दर्शन से अपना होश-हवास खोकर एक गोपी दूसरी से यही बात कहती सुनाई देती है :—

'सोहत है चँदवा सिर मोर के, तैसिये सुन्दर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजत, तैसी हिये बनमाल लसी है॥
'रसखान' बिलोकत बौरी भई, दृग मूँद के ग्वालि पुकार हँसी है।
खोल री घूँघट, खोलौ कहा, वह मूरति नैनन माँझ बसी है॥'

इस रूपासक्ति से ही रसखान की प्रेम-साधना का श्रीगणेश होता है। राधा और कृष्ण के बीच जो प्रेम उत्पन्न होता है उसका यही आधार है '—

रसखान न आवत मोपै कह्यो कछु दोऊ फँसे छबि प्रेम के फन्दन।'

कृष्ण की छवि पर राधा मस्त है और राधा की छबि पर कृष्ण मुग्ध हैं। दोनो एक दूसरे के 'छवि-प्रेम-फदन' मे फँसे हुये है, फिर भी रसखान ने श्रीमदभागवत के प्रभाव से 'सुजान-रसखान' मे नारी-हृदय का हो विशेष रूप से चित्रण किया है। नारी-हृदय मे दो भावनाएँ प्रमुख होती है : (१) वात्सल्य-भावना और (२) रति भावना। रसखान ने अपने काव्य मे वात्सल्य की भावना को विशेष महत्व नही दिया है; इसलिए कि उनकी साधना रति-भाव की साधना थी, वात्सल्य की नही। 'सुजान-रसखान' मे इने-गिने छन्द ही वात्सल्य-भावना के मिलते है। एक छन्द लीजिए :—

'आपनो-सो ढोंटा हम सब ही को जानत हैं,
दोऊ प्रानी सब ही के काज नित आवहीं।
ते तौ 'रसखान' अब दूरि तें तमासो देखैं,
तरनि-तनूजा के निकट नहि आवहीं॥

आन दिन बात अनहितुन सों कहौं कहा,
हितू जे जे आये तेऊ लोचन दुरावहीं।
कहा कहौं आली, खाली देत सब ठाली हाय,
मेरे बनमाली को न काली तें छुड़ावहीं ॥'

कालिय-दमन के अवसर पर माता यशोदा के हृदय की इस खीज मे उनका वात्सल्य साकार हो उठा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह माता के हृदय को पहचानते थे, पर उसकी अभिव्यक्ति मे उनका मन नही लगा। वह तो 'घायल की गति घायल जानै और न जानै कोय' वाली स्थिति मे थे। इसलिए उन्होने कृष्ण के प्रेम मे घायल गपियो की दशा के वर्णन मे ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन्होने गोपियो को दो स्थिति मे देखा . (१) संयोग को स्थिति में और (२) वियोग को स्थिति मे। सयोग को स्थिति मे गोपियो की दशा का उन्होने जो चित्रण किया है वह अत्यन्त सजीव है। एक उदाहरण लीजिए :—

'छीर जो चाहत चीर गहे, अजू लेहु न केतिक छीर अचैहौ।
चाखन के हित माखन मागत, खाहु न माखन, केतिक खैहौ॥
जानत हौ जिय की 'रसखान', सुकाहे को एतिक बात बढ़ैहौ।
गो-रस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू एक न पैहौ॥'

राधा और कृष्ण के सयोग का यह वर्णन भी कितना मनमोहक है :—

'एरी आज-काल्हि लोक-लाज त्याग दोऊ—
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।
यह 'रसखान' दिन द्वै मे बात फैलि जैहै,
कहा लौ सयानी चन्द हाथनि छिपायबो॥
आज हौ निहार्‌यो बीर निपट कलिदी तीर,
दोउन को दुउन सो मुरि मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयाँ, दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयाँ, इन्हें गागरि उठाइबो॥'

संयोग-वर्णन मे दान-लीला-सम्बन्धी यह सवैया एक गोपी की मधुर फटकार से ओतप्रोत है :—

'दानी भये नये माँगत दान, सुनै जो पै कंस तो बाँधि के जैहो ।
रोकत हो मग मे 'रसखान' पसारत हाथ के छू नहि पैहो ।।
टूटे छरा, बछुरा अरु गोधन जो धन है सु सबै धरि देहो ।
जैहै जो भूषण काहू सखी को तो मोल छला के लला न बिकैहो ।।'

रसखान ने सयोग के जितने छोटे-छोटे सुन्दर और मनोहर शाब्दिक चित्र खीचे है उतने वह वियोग के चित्र नही उतार सके है । लगता है, गोपियो को वियोग की स्थिति मे देखना उन्हे पसन्द नही था । फिर भी उन्हे इस दिशा में कम सफलता नही मिली है । निम्न सवैये मे एक विरहिणी बीती बातो को याद कर अपने मन की वेदना प्रकट करती हुई कहती है —

'काह कहूँ रतियाँ की कथा, बतियाँ कहि आवत है न कछू री ।
आइ गोपाल लियो भरि अङ्क, कियो मन भायो, पियो रस कूँरी ।।
ताही दिना सों गड़ी अँखियाँ 'रसखान' मेरे अङ्ग-अङ्ग मे पूरी ।
पै न दिखाई परै अब बावरो, दैके बियोग बिथा की मजूरी ।।'

रसखान कृष्ण और गोपियो के प्रेम-व्यापारो मे इतने उलझे रहे है कि उन्होने ब्रज की प्रकृति की आर ध्यान ही नही दिया है । ब्रज-भूमि से उन्हे प्रेम है और उनकी यह अभिलाषा है .—

मानुष हौ तो वही 'रसखान' बसौ सग गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौ नित नन्द की धेनु मझारन ।।
पाहन हौ तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौ तो बसेरो करौ वही, कालिदी-कूल कदंब के डारन ।।'

रसखान हिन्दू-धर्म के देवी-देवताओ से भी अधिक प्रभावित थे और उन्हे पौराणिक कथाओ का भी अच्छा ज्ञान था । गङ्गा का माहात्म्य देखिए :—

'वैद की औषधि खाइ कछू न करौ वह सजम री सुन मोसैं ।
तेरोइ पानी पियै 'रसखान' सजीवन जानि लहै सुख तोसैं ।।
एरी सुधामयी भागीरथी ! सब पथ्य कुपथ्य बनैं तोहि पोसैं ।
आक धतूरो चबात फिरै, बिष खात फिरैं सिव तेरे भरोसैं ।।'

अब तक रसखान के सबध मे जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट

होता है कि वह हिन्दी के वहिर्मुखी कवि है। उनकी रचनाओ मे भाव-व्यंजना की विविधता नही है। भिन्न-भिन्न चेष्टाओ अथवा अववृ त्तियो का वर्णन उन्होने नही किया है। उनकी भाव-व्यजना उक्ति-प्रधान है। उक्ति के विधान मे ही उन्होने अपनी काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। 'राधिका जीहै तो जीहै सबै न तो पीहै हलाहल नद के द्वारे' आदि उक्तियो की कल्पना करके उन्होने अपने प्रत्येक पद मे रस भर दिया है। उन्होने कृष्ण के हृदयगत भावो एवं गुणो को काव्य-रूप नही दिया है। उनमे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न अधिक है। संयोग-पक्षातर्गत सुखद भावना को ही उन्होने अपने काव्य का विषय बनाया है। वह वस्तुत जीवन के मधुर तथा आनन्द पक्ष के ही प्रेमी और पोषक है। ऐसी दशा मे उन्होने अपने काव्य मे अपने भावो के अनुकूल ही सामान्य परिस्थितियो और दृश्यो का चयन किया है। इससे उनकी रचना मे अधिक प्रभावोत्पादकता और तन्मयता आ गयी है। उनकी रचनाओ का आनन्द लेने के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नही पडती। उनके काव्य मे ज्ञान की गहनता नही, हृदय का वेग है जो पाठको को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। उनकी रचनाओ को पढकर हमे भारतेन्दु का यह पद्यांश स्मरण हो आता है :—

'इन मुसलमान कवि-जनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये।'

और उनकी प्रेम-भावना का अनुभव कर 'अकबर' का यह शेर मुँह से अपने आप निकल पड़ता है :—

'इश्क को दिल में दे जगह 'अकबर'।
अक्ल से शायरी नहीं आती ॥'

रसखान की शैली

रसखान की शैली अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और माधुर्य-गुणयुक्त है। अपने विषय के प्रतिपादन मे उन्होने सरलतम मार्ग का अनुसरण किया है। उनके भाव अत्यन्त स्पष्ट और उनकी उक्तियाँ अत्यन्त सरल और आकर्षक होती है। चमत्कार की ओर उनकी रुचि नही है। इसलिए उनकी रचनाओ मे अलंकारो का विधान स्वाभाविक रूप मे हुआ है। उनके अलंकार-विधान मे अनुप्रास का

प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त रूपक, उपमा, यमक, श्लेष, पुनरुक्ति प्रकाश आदि अलकार भी मिलते है। इन अलकारो के प्रयोग से जहाँ भाषा को सजाने-सवाँरने का काम लिया गया है वहाँ उनसे रसोद्रेक मे भी सहायता मिली है।

अलकार-योजना की भाति ही रसखान की छन्द-योजना भी सरल और भावानुकूल है। उन्होने मुख्यत दोहा, सवैया और कवित्त ही लिखे है। उनके सवैये बेजोड़ होते है। अत सक्षेप मे हम उनकी शैली के सम्बन्ध मे इतना ही कह सकते है कि वह स्वाभाविक, सरस, मधुर प्रसाद-गुणयुक्त, शृङ्गारिक और प्रवाह-पूर्ण है। उन्होने जो कुछ कहा है, सीधे ढंग से बिना घुमाव-फिराव के कहा है। उन्होने अपनी काव्य-शक्ति को कथन-प्रणाली की विशेषता मे न लगाकर विधायक कल्पना के निर्माण मे ही लगाया है। इसलिए उनकी शैली मे मस्ती है, तन्मयता है, तल्लीनता है। जिन भावो से वह स्वय प्रभावित है उनसे अपने पाठको को प्रभावित करने की अद्भुत कला वह भली भाति जानते है। इसी से साधारण-से-साधारण पाठक उनकी अमर रचनाओ का आनन्द ले सकते है।

रसखान की भाषा

रसखान की काव्य-भाषा ब्रजभाषा है। उनकी ब्रजभाषा परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। बिहारी और घनानन्द की भाँति उनकी भाषा मे ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य आ गया है। उनकी भाषा मे न तो क्लिष्ट तत्सम शब्दो की प्रचुरता है, न साहित्यिक भाषा की गम्भीरता है और न लाक्षणिक शब्दो की अधिकता है। उसमे उसे सँवारने-सजाने का प्रयत्न भी नही है। बोल चाल के शब्दो को ग्रहण करने के कारण उनकी भाषा स्वतः मधुर और आकर्षक हो गई है। इसी से उसमे अद्भुत प्रवाह भी है। उनकी भाषा सखियो की भाति उनके भावो का अनुगमन करती है। उनका शब्द-चयन बहुत ही सुन्दर है। कही-कही अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते है, पर उनकी शब्द-योजना मे ऐसे शब्दो का सन्निवेश ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल ही हुआ है। उनमे उतनी ही मधुरता और मार्दव है जितनी कि ब्रजभाषा के शब्दो मे। अजूबा, ताख, सुमार आदि ऐसे ही शब्द हैं जो अत्यन्त मधुर और कर्ण-सुखद है। कुछ शब्द अपने तत्समम रूप मे भी आए है। उनकी भाषा मे कुछ अवधी भाषा के शब्द भी मिलते है। दुवारो, पियारो, ताहि

अबार, अस, केरो आदि शब्द उनकी रचना मे अवधी के प्रभाव से ही आये है।
इसी प्रकार कही-कही राजस्थानी तथा अपभ्रश के शब्द भी मिलते है। उन्होने परम्परागत शब्दो का भी विधान अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। शब्दो का तोड़ मरोड़ भी उनकी रचनाओ में पाया जाता है, पर ऐसा उन्होने भाषा के स्वाभाविक प्रवाह को ध्यान मे रखकर ही किया है। लोक-प्रचलित मुहावरे तो उनकी भाषा मे प्राण बनकर आए है। पाले पडना, नाच नचाना, आख से आख लड़ाना आदि मुहावरो का प्रयोग उनकी भाषा-क्षमता का परिचायक है।

११: बिहारीलाल

जन्म-स० १६५२ मृत्यु-स० १७२१

जीवन-परिचय

प० अम्बिका दत्त व्यास ने 'बिहारी-बिहार' मे यह दोहा दिया है —

'सवत् जुग सर रस सहित भूमि रीति गिन लीन।
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमें बिधि दीन॥'

उक्त दोहा के आधार पर बिहारी का जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविंदपुर मे कार्तिक शुक्ला ८ बुधवार, स० १६५२ को हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था। वह माथुर चतुर्वेदी थे। कहा जाता है कि सवत १६६० के लगभग उनके पिता को ग्वालियर से ओड़छा जाना पडा। ओडछा मे उस समय केशवदास के काव्य-कला की हिन्दी-ससार मे धूम थी। अत केशवराय ने अपने पुत्र बिहारीलाल को काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए केशवदास के सुपुर्द कर दिया। थोड़े ही दिनो मे बिहारी ने केशवदास से काव्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया और सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ का अध्ययन किया।

केशवराय थोड़े ही दिनो तक ओड़छा मे रहे। ओडछा-नरेश इन्द्रजीत का वैभव नष्ट हो जाने पर वह बिहारी को साथ लेकर वृन्दावन चले गये।

वृन्दावन मे रहकर बिहारी ने साहित्य और सगीत का अच्छा अध्ययन किया। इस समय उनके कुटुम्ब मे चार प्राणी थे—बिहारी, उनके छोटे भाई बलभद्र, बहन और वह स्वय। केशवराय की धर्मपत्नी का देहान्त बहुत पहले हो चुका था। इसलिए वह अपने बच्चो सहित बाबा नागरीदास के साथ यमुना की कछार मे कुटी बनाकर रहते थे। बाबा नागरीदास के वह अनन्य भक्त थे। उन्ही के कहने से उन्होने अपनी पुत्री का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया। कालान्तर मे इन्ही हरिकृष्ण मिश्र से श्रीकुलपति मिश्र का जन्म हुआ। बिहारी का विवाह ब्रज के एक माथुर ब्राह्मण-परिवार मे हुआ और उनके भाई बलभद्र का मैनपुरी मे। इस प्रकार अपने पुत्रो तथा पुत्री का विवाह कर केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैरागी हो जाने पर बिहारी का वहाँ रहना असम्भव हो गया। इसलिए वह अपनी ससुराल मथुरा मे रहने लगे। कभी-कभी वह अपने पिता से मिलने के लिए बाबा नागरीदास के पास आया करते थे।

बिहारी के गुरु बाबा नरहरिदास थे। एक दिन वह बुन्देलखन्ड से भगवान कृष्ण की लीला-भूमि वृन्द्रावन पधारे और बाबा नागरीदास के साथ उनकी कुटी मे रहने लगे। नरहरिदास एक वीतरागी और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशसा सुनकर तत्कालीन मुगल-सम्राट जहाँगीर (स० १६२६ -८४) अपने पुत्र शाहजहाँ के साथ उनसे मिलने आये। सौभाग्यवश इसी समय बिहारी भी वहाँ पहुँच गये। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य बिहारी का उनसे परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को आश्रय मिल गया। शाहजहाँ ने उनका बडा सत्कार किया और उन्हे आगरा बुला लिया। वही हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना (स० १६१३-८३) से उनका परिचय हुआ। रहीम बडे ही गुणग्राही और कवियो के लिए कल्पतरु थे। कहते है कि उन्होने बिहारी के दोहे पर मुग्ध होकर उन्हे इतनी स्वर्ण मुद्राएँ दी थी कि वह उनके ढेर मे ढक गये थे। वह दोहा यह था :—

'गंग गौछ, मोछै जमुन, अधरन सुरसति रागु।
प्रगट खानखानान कै, कामन बदन-प्रयागु ॥'

शाहजहाँ (सं० १६४९-१७१९) की कृपा से बिहारी को कई राजाओ से वार्षिक वृत्ति मिलती थी। नूरजहाँ की कुचालो से जब शाहजहाँ को आगरा छोड़कर

काश्मीर की ओर जाना पडा तब बिहारी को भी आगरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। वह फिर मथुरा मे रहने लगे। एक बार वह वर्षाशन लेने के लिए जोधपुर गये। उस समय वहाँ के महाराज जसवन्तसिंह (स० १६८२-१७३०) बड़े गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी थे। कहा जाता है कि उनका बनाया हुआ 'भाषा-भूषण' वास्तव मे बिहारी की ही रचना है। कुछ लोग जोधपुर मे, 'दूहा-सग्रह' के नाम से उनकी एक और रचना का उल्लेख करते है।

बिहारी के सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि सवत् १६९२ के लगभग वह वर्षाशन लेने के लिए जयपुर भी गये थे। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह (सं० १६७६-१७२४) अपनी नव विवाहिता रानी के प्रेम मे इतने निमग्न थे कि राज-काज तक नही देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होने मालिन-द्वारा यह दोहा उनके पास पहुँचा दिया :—

'नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही तें बँध्यो, आगे कौन हवाल॥'

कहते हैं, महाराज ने इस दोहे को कई बार पढा और इससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होने राज-काज की ओर पुन ध्यान देना आरम्भ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुई कि उन्होने उनका बड़ा सत्कार किया और उनका चित्र बनवाकर जयपुराधीश के महल मे लगवा दिया। इस घटना के तीन-चार मास बाद ही रानी अनन्तकुंवर के गर्भ से राज-कुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही आमेर की राजगद्दी के अधिकारी हुए।

बिहारी हिन्दू, हिन्दी और हिन्द के पूरे समर्थक थे। जयसिंह के आश्रित कवि होने पर भी उनमे स्वाभिमान था। वह अत्यन्त स्पष्टवादी थे। अपने ७१९ दोहो की सतसई मे उन्होने जयसिंह की प्रशसा मे ८ या ९ दोहो से अधिक नही कहे और उनमे भी उन्होने महाराज की उचित प्रशसा की।

'सतसई' समाप्त होने के थोड़े दिनो बाद बिहारी की पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनके भावी जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह ससार से विरक्त होकर आमेर से वृन्दावन चले गये और अपना शेष जीवन वही शातिपूर्वक भगवद्-भजन मे व्यातीत करते हुए स० १७२१ मे परमधाम सिधारे।

बिहारी की रचना

बिहारी की केवल एक रचना उपलब्ध है और वह है 'सतसई'। इसमें बिहारी के ७१९ दोहे सकलित है। इसके अतिरिक्त श्री रत्नाकर ने बहुत सी प्रतियों को मिलाकर लगभग १५० दोहे और छाटे है। 'सतसई' का आरम्भ सवत् १६९२ मे हुआ था। यह बिहारी के कितने दिनो के परिश्रम का फल है, इस सम्बन्ध में कोई बात निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती। वर्तमान अनुसधानो से इतना अवश्य पता चलता है कि सवत् १७०० मे जब राजकुमार रामसिंह को विद्यारम्भ कराया गया तबतक सतसई बन चुकी थी और उसके ५०० दोहो का सग्रह कर बिहारी ने राजकुमार को पढ़ाने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। ८ वर्ष में बिहारी ने केवल ७१९ दोहो की रचना की और कुछ नही किया, यह बात समझ मे नही आती।

बिहारी-सतसई का स्थान

'सतसई' का अर्थ है--सात सौ। सात सौ दोहो और सोरठो की काव्य-पुस्तक की 'सतसई' की सज्ञा दी जाती है। सस्कृत मे सतसई का समानार्थी शब्द है—सप्तशती। इसलिए कहा जाता है कि हिन्दी मे सतसई-रचने की प्रेरणा सस्कृत-साहित्य से मिली है। सस्कृत मे गोवर्द्धनाचार्य-कृत 'आर्यसप्तशती' और प्राकृत मे 'गाथा सप्तशती' तथा 'सातवाहन सप्तशती' की विशेष ख्याति है। इन्ही सप्तशतियो के अध्ययन से हिन्दी मे सतसई लिखने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। तुलसीने सब से पहले इस क्षेत्र मे प्रवेश किया। उनके पश्चात रहीम, मतिराम आदि ने अपनी सतसई तैयार की। फिर तो हिन्दी-साहित्य में सतसई की बाढ-सा आ गई। वृन्द-सतसई, विक्रम-सतसई, शृङ्गार-सतसई आदि अनेक सतसइयाँ सामने आईं। कई शतक और दोहावलियो की भी रचना हुई और इन सबने हिन्दी का गौरव बढ़ाया। लेकिन इनकी तुलना मे 'बिहारी-सतसई' को जो ख्याति और लोक-प्रियता प्राप्त हुई वह किसी को भी नसीब न हो सकी। 'तुलसी-सतसई' मे 'रामचरित-मानस' के कई दोहे सगृहीत है, 'मतिराम-सतसई' मे 'रसराज' और 'ललित-ललाम' के दोहे मिलते है, परन्तु 'बिहारी-सतसई' बिहारी की स्वतत्र रचना है। 'रहीम-सतसई' भी इसके मुकाबले की रचना नही कही

जा सकती। विषय की दृष्टि से दोनो मे विशेषअन्तर है। 'रहीम-सतसई' नीति-प्रधान है और 'बिहारी-सतसई' शृङ्गार प्रधान। 'वृन्द-सतसई' तो इन दोनो की तुलना मे अत्यन्त साधारण रचना है।

एक अगरेजी लेखक का कथन है—Brevity is the soul of wit and it is also the soul of art अर्थात् सक्षिप्तता काव्य-चातुरी की आत्मा तो है ही, कला की भी आत्मा है। इस कथन की कसौटी पर 'बिहारी-सतसई' को परखने से पता चलता है कि उसका प्रत्येक दोहा अपनी काव्यात्मा और कलात्मक सक्षिप्तता के कारण ही महान है। वास्तव मे बिहारी ने अपने प्रत्येक दोहे के गागर मे भाव-सागर भरने की चेष्टा की है और अपनी इस चेष्टा मे वह पूरी तरह सफल हुए है। काव्य और साहित्य का कोई गुण ऐसा नही है जो बिहारी-सतसई मे मूर्तिमान न हो उठा हो और कवि-कर्म की ऐसी कोई विभूति नही जो उसमे सुविकसित न हो। उसमे शृङ्गार रस तो प्रवाहित है ही, यत्र-तत्र अनेक सासारिक विषयो का भी उसमे अत्यन्त मर्म-स्पर्शी वर्णन है। कही- कही अनेक रहस्यो का उसमे ऐसा निरूपण है जो उसकी स्वाभाविकता का सच्चा चित्र आँखो के सामने प्रस्तुत कर देता है। इन्ही विशेषताओ के कारण किसी ने कहा है

'सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन मे छोटे लगैं, बेधै सकल शरीर॥'

प्रत्येक कवि अपनी रचना मे पूर्व रचनाओ से कुछ-न-कुछ सहायता लेता है। तुलसी केशव, सूर सब अपनी रचनाओ के लिए सस्कृत-साहित्य के ऋणी है। बिहारी भी इसके अपवाद नही है। 'गाथा-सप्ताशती' और 'आर्या-सप्तशती के अतिरिक्त हिन्दी मे कृपाराम-कृत 'हित-तरगिनी, से बिहारी ने अपनी 'सतसई' के लिए भाव-सामग्री ली है,परन्तु उसे उन्होने ज्यो-का-त्यों स्वीकार नही किया है। उसे पचाकर उन्होने उसे और चमकाया है। यही कारण है कि वह अपनी रचना मे सर्वत्र मौलिक-दीख पडते है। उनके दोहो से यह नही जान पडता कि उनमे से किसी पर बिहारी के अतिरिक्त किसी अन्य का प्रभाव है।

बिहारी-सतसई का महत्वाकन इस बात से भी हो सकता है कि अब तक उसकी जितनी टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी है उतनी टीकाएँ हिन्दी के किसी

भी ग्रन्थ की नही मिलती । टीकाएँ ही क्यो, हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो ने उनके अनेक दोहो पर छप्पय, रोला, कुन्डलिया और कवित्त लिखे है । शृङ्गार-सप्तशती' के नाम से उनकी 'सतसई' का संस्कृत-अनुवाद भी मिलता है । उर्दू-शेरो मे भी उनके दोहे अनूदित मिलते है । इससे स्पष्ट होता है कि काव्य के सभी तत्वो की दृष्टि से 'बिहारी सतसई का स्थान केवल सतसइयो मे ही नही अपितु संपूर्ण हिन्दी-काव्य मे बेजोड़ है ।

बिहारी की काव्य-साधना

शृङ्गार काल (स० १७००-१६६०) के कवियो मे बिहारी का प्रमुख स्थान है । उस काल के कवियो की तीन कोटियाँ मिलती है—एक तो वे कवि जो कला के उद्घाटन के लिए भावो का महत्व स्वीकार करते थे, दूसरे वे कवि जो भावो का उद्घाटन करने के लिए कला का महत्व स्वीकार करते थे और तीसरे वे कवि जो कला का पृष्ठ-भूमि पर भावो का उद्घाटन स्वीकार करते थे । पहले कोटि के कवियो को यदि आचार्य और दूसरे कोटि के कवियो को यदि केवल कवि कहा जाय तो तीसरे कोटि के कवियो को कवि और आचार्य दोनो मानना होगा । बिहारी इसी तीसरी कोटि के कवि थे । उनके व्यक्तित्व मे कवित्व और आचार्यत्व का अद्भुत मेल था । आलोचक प्रवर श्री गुलाबराय के शब्दो मे 'यदि लक्षण लिखने को आचार्यत्व की कसौटी माना जाय तो बिहारी आचार्य नही थे, किन्तु शास्त्र-ज्ञान को आचार्यत्व का निर्णायक माना जाय तो बिहारी के आचार्यत्व मे किसी प्रकार की कमी नही थी ।' इस बात को ध्यान मे रखकर हमे बिहारी की रचनाओ को दो मुख्य वर्गो मे विभाजित करना होगा (१) कला-प्रधान रचनाएँ और (२) भाव-प्रधान रचनाएँ ।

(१) **कला-प्रधान रचनाएँ**—बिहारी के कुछ दोहो मे कला का अत्यधिक आग्रह है । ऐसे दोहो मे भाव कला के आश्रित हो गया है । इसलिए उनमे शाब्दिक चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नही है । उदाहरण लीजिए :—

'अज्यों तर्‌योना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अंग ।
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकतनु के संग ॥'

* * *

'तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान ॥'

इन दोहो की रचना मे बिहारी ने अपने मस्तिष्क पर जितना बल दिया है उतना अपने हृदय पर नही। कहने के लिए इनमे कोई आलोचक किसी रस की अभिव्यक्ति पाले तो पाले, पर उस रस का हृदय पर कोई प्रभाव नही पड़ता, मस्तिष्क अवश्य चकरा जाता है और आचार्य केशवदास की याद ताजा हो जाती है। अपने ऐसे दोहो के कारण ही बिहारी 'शब्दो के कलाबाज' कहे जाते है।

(२) भाव-प्रधान रचनाएँ—बिहारी के अधिकाश दोहे रस-परक हैं। आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—'जिस कवि मे कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी मे पूर्णरूप से वर्तमान थी। इसीसे वे दोहे ऐसे छोटे छन्द मे इतना रस भर सके है। दोहे क्या है, रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते है।' शुक्लजी के इस कथन की कसौटी पर बिहारी के निम्न दोहो को परखिए :—

'बतरस-लालच लालकी, मुरली धरी लुकाइ।
सौह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाइ ॥'

* * *

'तच्यो आँच अति विरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि।
नैनन के मग जल बहै, हियो पसीजि-पसीजि ॥'

* * *

'भौंह ऊँचै, आँचरु उलटि, मौर मोरि, मुँह मोरि।
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि-दीठि सो जोरि ॥'

इन दोहो से बिहारी की निरीक्षण-शक्ति और कल्पना की समाहार-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। अपनी कल्पना की समाहार शक्ति से उन्होने दो काम लिये है। उसकी सहायता से एक ओर तो उन्होने अनुभावो की सुन्दर योजना द्वारा भावो को तीव्रता, प्रखरता और गहनता प्रदान की है और दूसरी ओर उन्होने शोभा, काति, सुकुमारता, विरहताप, क्षीणता आदि वस्तु-वर्णन को

सजीव और प्रभावोत्पादक बनाया है। वस्तु-वर्णन मे उनकी कल्पना का चमत्कार इन दोहो मे देखिए :—

'हौं रीझी, लखि रीझि हौ, छबिहिं छबीली बाल।
सोनजुही-सी होति दुति मिलति मालती माल॥'

*　　　*　　　*

'भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत धर, सोभा ही के भार॥'

परन्तु कही-कही बिहारी अपने कल्पना-प्रदर्शन मे औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन कर गये है। इसके भी उदाहरण लीजिए :—

'छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकत हिये गुलाब कै झवा झिझावत पाइ॥'

*　　　*　　　*

'इत आवति, चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ।
चढी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ॥'

*　　　*　　　*

औधाई सीसी सुलखि, विरह बरत-बिल्लात।
बीचहि सूखि गुलाबगो, छींटौ छुयौ न गात॥'

इतनी दूर की कौड़ी लाने के कारण बिहारी अपनी वस्तु-व्यजना मे उर्दू कवियो के कान काटते नजर आते है। परन्तु उर्दू कवियो ने सरल कल्पनाओ की ही ऊँची उडाने भरी है। व्यग्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए जैसी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है वैसी उर्दू-कवियो की रचनाओ मे मुश्किल से ही मिलेगी। बिहारी की क्लिष्ट कल्पना का चमत्कार इस दोहे मे देखिए —

'नये विरह बढ़ती बिथा, खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ, हरषि हँसी तिहि काल॥'

बिहारी-सतसई मे ऐसे अनेक दोहे है जिनमे उन्होने अपनी क्लिष्ट कल्पना-द्वारा 'गागर मे सागर' भरने की कहावत को चरितार्थ किया है। शुक्लजी के शब्दो मे बिहारी का यह गुण 'बहुत कुछ रूढि की स्थापना से ही सभव हुआ है।

यदि नायिका-भेद की प्रथा इतने जोर-शोर से न चल पाई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।'

विषय की दृष्टि से बिहारी के दोहो के निम्न वर्ग हो सकते है :—

(१) भक्ति और विनय-सबधी दोहे,
(२) नीति-वर्णन-सबधी दोहे
(३) दर्शन-सबधी दोहे,
(४) रूप-वर्णन-सबधी दोहे,
(५) नायिका-भेद-वर्णन-सबधी दोहे,
(६) प्रेम-निरूपण-सबधी दोहे,
(७) सयोग-वर्णन-सबधी दोहे,
(८) वियोग-वर्णम-सबधी दोहे और
(९) ऋतु-वर्णन-सबधी दोहे।

(१) **भक्ति और विनय-सम्बन्धी दोहे**—अपने इन दोहो मे बिहारी ने अपनी भक्ति भावना का परिचय दिया है। वह राधा के भक्त थे। सतसई के आरभ मे ही भक्ति और विनय से भरा उनका यह दोहा मिलता है —

'मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय॥'

बिहारी ने राधा को आनन्ददायिनी शक्ति के रूपमे अधीष्ठित कर उनकी भक्ति की है।

(२) **नीति-वर्णन-सम्बन्धी दोहे**—अपने इन दोहो मे बिहारी एक उपदेशक के रूप मे हमारे सामने आते है। एक उदाहरण लीजिए :—

'कहै इहै सब स्रुति-स्मृति, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग॥'

बिहारी की अन्योक्तिया बड़ी सुन्दर होती है। इनमे भी नीति पाई जाती है। एक अन्योक्ति लीजिए —

'स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु बिहङ्ग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तूँ पछीहै न मारि॥'

(३) **दर्शन-सम्बन्धी-दोहे**—ऐसे दोहे बिहारी ने कम ही लिखे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दार्शनिक क्षेत्र मे बिहारी की अधिक पहुँच नही थी। अपने दोहो मे उन्होने सरलतम दार्शनिक विचारो को ही व्यक्त किया है :—

'बुधि अनुमान, प्रमाण स्रुति, किये नीठि ठहराय।
सूक्षम गति अति ब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय॥'

* * *

'यह जग काँचो काँच सों, मैं समुझ्यों निरधार।
प्रतिबिंबित लखियत जहाँ, एकै रूप अपार॥'

(४) **रूप-वर्णन-सम्बन्धी दोहे**—बिहारी का रूप और नख-शिख वर्णन अत्यन्त उच्चकोटि का है। वह शास्त्रीय अवश्य है, पर उससे बिहारी की निरीक्षण-शक्ति और उनकी सूक्ष्म दृष्टि का भी पता चलता है। बिहारी सहज सौन्दर्य के उपासक थे। इसलिए उन्होंने प्राय आभूषण-रहित अगो का ही चित्रण किया है। जिन दोहो मे आभूषण-सहित अगो का चित्रण है, उनमे बिहारी ने केवल परपरा का पालन किया है। एक नायिका के सहज शृङ्गार का वर्णन इस दोहे मे देखिए —

'बेंदी भाल, तम्बोल मुख, सीस सिलसिले बार।
दृग आंजे राजै खरी, एही सहज सिङ्गार॥'

आभूषण-सहित श्रवण का सौदर्य देखना हो तो यह दोहा लीजिए :—

'लसत सेत सारी ढक्यो, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनो सुरसरि-सलिल, रबि-प्रतिबिम्ब बिहान॥'

(५) **नायिका-भेद-वर्णन-सम्बन्धी दोहे**—बिहारी ने शास्त्रीय विधि से कई प्रकार की नायिकाओ का वर्णन किया है। स्वकीया का उदाहरण लीजिए :—

'सेद-सलिल, रोमाच-कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सङ्ग हाथ के, हथलेवा ही हाथ॥'

(६) **प्रेम-निरूपण-सम्बन्धी दोहे**—बिहारी प्रेमी थे। इसलिए उन्होंने अपने दोहा मे प्रेम का आदर्श भी प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस-सरिता-सोत।
आलबाल उर-प्रेम-तरु, तितो तितो दृढ़ होत।।'

(७) संयोग-वर्णन-सम्बन्धी दोहे—बिहारी ने सयोग शृङ्गार का वर्णन भी शास्त्रीय विधि से किया है। इसमे शक नही कि उन्होने अपने इस प्रकार के वर्णन मे कही-कही मर्यादा और औचित्य की सीमा का उल्लंघन किया है, किन्तु फिर भी कल्पना और भाव सौष्ठव की दृष्टि से वह अत्यन्त सजीव है। राधा और कृष्ण के सयोग का यह चित्र देखिए :—

'मिलि परछाहीं जोन्ह सों, रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा एक सङ्ग ही, चले गली में जात।।'

(८) वियोग-वर्णन-सम्बन्धी दोहे—सयोग की भाँति ही बिहारी का वियोग-वर्णन भी सजीव है। राधा के वियोग मे कृष्ण की व्याकुलता का चित्र इस दोहे मे देखिए :—

'कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट बनमाल।।'

और एक नायिका की यह दशा है :—

'प्रजर्‌यौ आगि बियोग की, बह्‌यो बिलोचन नीर।
आठौ जाम हियो रहै, उड़्‌यो उसास समीर।।'

(९) ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी दोहे—बिहारी ने अपने समय की काव्य-परंपरा के अनुसार ऋतुओ का वर्णन उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत किया है। इस दृष्टि से उन्होंने पावस, बसन्त और हेमन्त को विशेष महत्व दिया है। पावस वर्णन से एक उदाहरण लीजिए :—

पावक झर तें मेह झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख।।'

ग्रीष्म का भी प्रभाव देख लीजिए :—

'कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोबन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।।'

काल की समस्त प्रमुख परम्पराओ का बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, शृङ्गार के सयोग और वियोग-पक्षो आदि के वर्णन मे उनकी काव्य कला का चमत्कार अत्यन्त सराहनीय है। उनकी रचनाओ मे कवित्व-शक्ति और काव्य-रीतियो का इतना सुन्दर समिश्रण है कि वह एक साथ ही आचार्य और कवि माने जा सकते है। उनके काव्य का विषय है—प्रेम ओर सौदर्य। ये शृङ्गार के विषय है। स्वय प्रेमी होने के कारण प्रेम का रग चढाने मे वह इतने कुशल है कि उनकी वर्णित साधारण घटनाएँ भी असाधारण-सी प्रतीत होने लगती है। उनकी रचनाओ का महत्व तीन बातो मे है : (१) चेष्टाओ और युक्तियो का विधान, (२) सुव्यवस्थित भाषा और (३) विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ग्रहण करना। इन तीनो बातो मे बिहारी अपने समय के बेजोड़ कवि है।

बिहारी ने अपने दोहो मे सुन्दर सूक्तियो का भी विधान किया है। सूक्ति का अर्थ है—श्रेष्ठ उक्ति अथवा कथन। इसमे वर्णन-वैचित्र्य अथवा शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है। बिहारी की सूक्तियाँ अधिकाश नीतिपरक है और उनमें वर्णन-वैचित्र्य ही पाया जाता है। शब्द-वैचित्र्य के लिए बिहारी ने इनी-गिनी ही सूक्तियाँ कही है। वर्णन-वैचित्र्य से समन्वित सूक्ति इस दाहे मे देखिए :—

'यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकाश करै तितौ भरिये जितौ सनेह॥'

और इस दोहे मे शब्द-वैचित्र्य-समन्वित सूक्ति देखिए—

'कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय॥'

बिहारी ने अपने दोहो मे अलकारो का विधान कही तो स्वाभाविक ढङ्ग से किया है और कही मस्तिष्क पर बल देकर। इन दोनो प्रकार के अलकार-विधानो मे उन्होने बड़े सयम से काम लिया है। जिन दोहो मे कई अलकार एक साथ उलझे हुए है उनमे भी कही भद्दापन नही आने पाया है। केशव की भाँति उन्होने अलकारो की छटा दिखाने के लिए ही कविता नहीं की है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, असगति, विरोधाभास,

अन्योक्ति, तद्गुण आदि अलंकारो के प्रयोग से उन्होने अपने भावो को जो उत्कर्षता प्रदान की है वह अन्यत्र कम देखने को मिलती है ।

रसो के आयोजन मे बिहारी ने शृङ्गार को ही विशेष महत्व दिया है और उसके दोनो पक्षो का सजीव-वर्णन किया है । रस-परिवाक की दृष्टि से उनका प्रत्येक दोहा बेजोड है । भाव, अनुभाव, विभाव, सचारी भाव आदि से उनकी 'सतसई' शृङ्गार रस की मजूषा बन गई है । भक्ति और विनय के दोहो मे शान्ति रस का अच्छा परिपाक हुआ है । कुछ दोहे वीर और अद्भुत रस के भी मिलते हैं ।

बिहारी की भाषा

बिहारी की भाषा के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्लजी ने लिखा है – 'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है । वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दो के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है । यह बात बहु कम कवियो मे पाई जाती है । ब्रजभाषा के कवियो ने शब्दो को तोड-मरोड कर विकृत कर दिया है । यह बात बहुतो मे पाई जाती है । भूषण और देव ने शब्दो का अग-भग किया है और कही-कही गढन्त शब्दो का भी प्रयोग किया है । बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है ।' वस्तुत बिहारी की ब्रजभाषा साहित्यक कोमल, सरस और मँजी हुई है । उसमे अरबी, फारसी, तुर्की, बुन्देलखडी, डिंगल और प्रातीय शब्दो का भी आवश्यक मिश्रण है, परन्तु इनके मिश्रण मे ब्रजभाषा का रूप नही बिगडा है । बिहारी की भाषा मे भरती के शब्द नही है । उनकी रच-नाओ मे शब्द नपे-तुले और आवश्यकतानुसार है । उन्होने शब्दो का चुनाव अपने भावो के अनुसार किया है । उनके शब्द अपने स्थान से हटाये नही जा सकते । यदि किसी शब्द के स्थान पर उसी भाषा का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो यह निश्चय है कि दोहे का साहित्यिक सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और उसके माधुर्य मे फीकापन आ जायगा । इसके अतिरिक्त बिहारी की भाषा अल्पाक्षरा होते हुए भी वृहत् अर्थ को सँभाले हुए है । उनकी रचनाओ मे मनो- भावो का प्रतिबिम्ब निर्मल आरसी की भाँति पड़ता है । भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा साहित्य मे बिहारी का वही स्थान है जो अवधी मे तुलसी का है ।

बिहारी के समय से व्याकरण का अनुशासन भाषा पर होने लगा था, परन्तु वह अधिक दृढ न था। यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे जगह-जगह लिंग विपर्यय उपलब्ध है। उन्होंने एक शब्द का कही पुल्लिग प्रयोग किया है और कही स्त्रीलिंग। इस दोष के रहते हुए भी उनकी भाषा मुहावरेदार है। जहाँ व्यग्यार्थ बहुत गहन नही है वहाँ प्रसाद गुण है, परन्तु प्रसाद की अपेक्षा उनकी भाषा मे माधुर्यगुण की मात्रा विशिष्ट है। उनकी रचना मे ध्वनि-साम्य के लिए वर्ण-मैत्री उचित मात्रा मे मिलती है जिससे तरह-तरह के अनुप्रासो की उत्पत्ति होती है। उनके प्रकृति-वर्णनो मे विषय की दृष्टि से भाषा भी अपना रूप तदनुसार बदलती है। चित्रोपमता उनकी भाषा का प्रधान गुण है।

---

१२ : भूषण त्रिपाठी

जन्म सं० १६९५ · मृत्यु स० १७८८

जीवन-परिचय

कानपुर जिले मे यमुना नदी के बाएँ किनारे पर तिकवाँपुर एक गाँव है। भूषण त्रिपाठी का जन्म इसी गाँव मे स० १६९५ के लगभग हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। रत्नाकर त्रिपाठी सस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। उन्ही की देख रेख मे भूषण ने सस्कृत-साहित्य, अलंकार, पिंगल आदि का अच्छा अध्ययन किया। वह आरभ से ही वीर रस की कविताएँ करते थे। उनकी ऐसी रचनाओ से प्रभावित होकर तत्कालीन चित्रकूट-नरेश ने उन्हे 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। अपने 'शिवराज भूषण' के छन्द संख्या २८ मे इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है—

'कुल सुलंक, चित्रकूट-पति, साहस-सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम-सुत, रुद्र॥'

इस दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि भूषण चित्रकूट पति के आश्रित कवि भी थे। चित्रकूट-पति का आश्रय त्यागकर भूषण कब शिवाजी के पास पहुँचे, यह

तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वह शिवाजी (सं० १६८४-१७३७) के राज्याभिषेक (स० १७३१) के अवसर पर रायगढ मे वर्तमान थे। इसी अवसर पर उन्होने अपना 'शिवराज-भूषण' शिवाजी को समर्पित किया था।

भूषण ने 'शिवराज-भूषण' मे अपने समय के कई राज्यो का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि उन्हे उस समय के छोटे-बडे राज्यो की अच्छी जानकारी थी और वह कई राज्यो के नरेशो से भी मिले थे। पन्ना-नरेश छत्रसाल बुन्देला (स० १७०६-८९), बूदी-नरेश छत्रसाल हाड़ा (स० १६८८-१७१५) आदि से उनका अच्छा परिचय था और वह उनके प्रशसक भी थे। वह छत्रपति शाहु जी (स० १७३६-१८०६) के समय तक जीवित थे। इसलिए स० १७८८ के आस-पास ही उनका स्वर्गवास हुआ होगा।

भूषण ने सर्वप्रथम उत्तर भारत की यात्रा की। वह मोरंग और फिर कुमाऊँ गये। उन्होने कुमाऊँ-नरेश उद्योतचन्द्र (स० १७३५-५५) की बडी प्रशसा की जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हे एक हाथी और दस हजार रुपया पुरस्कार मे दिया। पुरस्कार देते समय राजा के मुख से निकल गया कि ऐसा दान आपको अन्यत्र नही मिला होगा। राजा की यह बात उन्हे लग गई और उन्होने पुरस्कार लेना अस्वीकार कर दिया। इसके पश्चात् वह श्रीनगर (गढवाल) नरेश 'फतहशाह' (स० १७४१-७३) के दरबार मे गये। फतहशाह ने उनका बहुत सम्मान किया। उनके दरबार मे 'रतन कवि' राज-कवि थे। रतन-कवि ने अपने 'फतह-प्रकाश' नामक ग्रन्थ मे भूषण के दो छन्द दिये हैं।

श्रीनगर से भूषण रीवा-नरेश अवधूतसिंह (स० १७५७-१८१२) के दरबार मे गये। यहॉ उनका प्रवेश ऐसे समय मे हुआ जब रीवाँ और चित्रकूट दोनो राज्य पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल (स० १७०६-८९) से अपना राज्य लेने के लिए सेनाएँ एकत्र कर रहे थे। अत यहा से वह राजस्थान चले गये। राजस्थान में वह सबसे पहले जयपुर नरेश के दरबार मे पहुँचे। तत्कालीन जयपुर नरेश सवाई जयसिंह महाराज (स० १७५६-१८१२) मिलकर भूषण को बड़ी प्रसन्नता हुई। यहा से पर्याप्त सम्मान पाने के पश्चात् वह जोधपुर और फिर उदयपुर गये।

उदयपुर के राणा ने उनका बहुत सम्मान किया। यहाँ तक की यात्रा मे उन्हे कई वर्ष लग गये थे। इसलिए वह उदयपुर से अपने जन्मस्थान तिकवाँपुर चले आये।

तिकवापुर मे कुछ दिनो तक विश्राम करने के पश्चात भूषण ने पुनः दक्षिण भारत की यात्रा की। उस समय तक औरङ्गजेब (स० १७१४-६४) की मृत्यु हो चुकी थी और सितारा मे छत्रपति साहु का शासन (स० १७६४-१८०६) था। छत्रपति साहु स० १७६४ मे सिहासनासीन हुए और उन्होने बालाजी विश्वनाथ को अपना पेशवा बनाया। सितारा जाते हुये भूषण ने गोलकुण्डा और बीजापुर की यात्रा की और वहाँ के शासको को भी अपने सगठन मे सम्मिलित किया। कहा जाता है कि एक बार छत्रसाल ने भूषण को अपने दरबार मे बुलाया। भूषण पालकी मे बैठकर उनके दरबार की ओर चले। मार्ग मे छत्रसाल ने उनकी अगवानी की और एक कहार को हटाकर उसके स्थान पर स्वयं पालकी उठाने लगे। यह देखकर भूषण पालकी से कूद पड़े। उस समय उन्होने छत्रसाल की प्रशंसा मे जो कवित्त सुनाये।

भूषण की रचनाएँ

'शिवसिह सरोज' के अनुसार भूषण के बनाए हुए चार ग्रन्थ: (१) शिवराज भूषण (२) भूषण-हजारा, ३) भूषण-उल्लास और (४) भूषण-उल्लास है, परन्तु 'शिवराज भूषण' के अतिरिक्त इनमे से अन्य किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नही लगा है। 'शिवराज भूषण' की रचना शिवाजी के दरबार मे हुई थी। 'शिवा-बावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक' उनकी स्वतत्र रचनाएँ नही है। इनमे दिये हुए प्रायः सभी छन्द 'शिवराज-भूषण' मे मिलते है।

भूषण की राष्ट्रीय भावना

भूषण अपने समय की देन थे। इसीलिए हमे उनकी रचनाओ मे समय की पुकार मिलती है। अपनी रचनाओ मे वह देश-दशा का चित्रण करते है, मुगलो की उच्छृखलता, अनाचार तथा उदण्डता का हृदय-विदारक वर्णन करते है और शिवाजी, छत्रसाल, बूदी-नरेश तथा अन्य कतिपय नरेशो की प्रशसा करते है। इन ऐतिहासिक घटना-चक्रो और अनाचारो के आगे उनकी आँखे नही उठती। वे गड़ गई है ऐसे स्थान पर जहाँ हिन्दू-राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है और जहा

उसकी माँ-बेटियो की लाज अटकी हुई है । यही तो कवि की तन्मयता का कारण होता है । इसी तन्मयता मे डूबकर ही तो वह राष्ट्र के हृदय को आन्दोलित करने वाले भाव बीन-बीनकर लाता है । भूषण तन्मय थे अपने युग की माँग को पूरा करने मे । उनकी निगाह श्रृङ्गार की ओर नही गई । उनका विद्रोही हृदय उसे स्वीकार नही कर सका ।

भूषण अपने समय के प्रथम राष्ट्र-कवि थे । उस साम्प्रदायिक युग मे जब राष्ट्र का वर्तमान रूप नही था तब वह हिन्दू-जाति की आकाक्षाओ तथा अभि-लाषाओ के जागरूक चित्रकार थे । उनकी इस भावना को आश्रय मिला शिवाजी के व्यक्तित्व मे । इसीलिए शिवाजी उनकी दृष्टि मे महान् थे । उनके लिए शिवाजी का वही महत्व था जो तुलसीदास के लिए राम का और सूर के लिए कृष्ण का । औरंगजेब को भूषण ने इसीलिए नीचा दिखाया कि वह हिन्दू-जाति और सस्कृति का बैरी था । भूषण की दृष्टि मे वह राम के प्रतिनायक रावण से किसी बात मे कम नही था । अपनी इन्ही भावनाओ से प्रेरित होकर भूषण ने नायक तथा प्रतिनायक के चित्रण मे कही-कही अतिशयोक्ति से भी काम लिया है, परन्तु वह अतिशयोक्ति ऐसी है जो हमारे मन और मस्तिष्क को नायक के प्रताप और यश से प्रभावित कर देती है । हम उस पर हँसते नही, आश्चर्य करते है और गर्व से फूल जाते है । सभव है, किसी की दृष्टि मे उनकी कविता पोच, अराष्ट्रीय, द्वेष और घृणा से परिपूर्ण हो, परन्तु जो उस समय के वातावरण मे बैठकर हिन्दू-जनता पर किए गए अत्याचारो को भूषण की आखो से देखने और भूषण के हृदय से परखने की चेष्टा करेंगे वे भूषण की रचनाओ के महत्व को स्पष्ट रूप से समझने मे समर्थ हो सकेंगे । वह यह समझेंगे कि कवि अथवा साहित्यकार होकर यदि भूषण अपने युग के हिन्दुओ की उस भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने साहित्य' अपने इतिहास और अपनी कवित्व-शक्ति के प्रति अन्याय करते । इस प्रकार का अन्याय उस समय के बहुत से कवियो ने अपने प्रति किया है ।

भूषण किसी मत अथवा सम्प्रदाय के प्रति द्वेष नही रखते । उन्होने अपनी रचना मे एक भी ऐसे पद को स्थान नही दिया जिससे उनकी सकीर्ण धार्मिक भावना व्यक्त होती हो । उन्होने सर्वत्र औरगजेब के ढोग की ही निन्दा की है,

इस्लाम-धर्म के विरुद्ध एक शब्द नही कहा । सब धर्मो पर उनकी दृष्टि समान है, परन्तु अपने धर्म से, अपनी जाति से उन्हे विशेष ममता है । इसलिए वह उसका कल्याण चाहते है, उसके उद्धार के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते है । वह उसकी फूट की ओर सबसे पहले अपने साहित्य मे सकेत करते है । वह कहते है 'आपस की फूट ही ते सारे हिंदुस्तान टूटे ।' कितनी सत्य आलोचना है यह अपने समाज की ! हिन्दी-साहित्य के आदि युग से भूषण तक किसी कवि ने भी हिन्दू जाति के ह्रास का इस रूप मे अनुभव नही किया ।

भूषण की काव्य-साधना

'शिवराज भूषण' (स० १७३१) भूषण का अलकार-ग्रथ है । इसमे उन्होंने अलकारो के लक्षण और उदाहरण दिये है । विशेषता यह है कि शृङ्गार-काल के रीति-बद्ध कवियो मे बहुतो ने अपनी रचनाओ मे जहाँ राधा-कृष्ण को अपना आलबन मानकर शृङ्गार-रस का प्रधानता दी है वहाँ भूषण ने अपने इस लक्षण-ग्रथ मे छत्रपति शिवाजी को अपना आलबन बनाया है और वीर-रस का प्रधानता दी है । इस दृष्टि से भूषण रीति-बद्ध-कवियो की श्रेणी मे होते हुए भी सबसे अलग है । उनका व्यक्तित्व किसी से मेल नही खाता ।

हिन्दी के काव्य-साहित्य मे 'शिवराज भूषण' का महत्व उसमे वर्णित अलकारो की दृष्टि से नही है । उसका महत्व है उसमे दिए हुये उदाहरणो से जिनमे भूषण ने शिवाजी के चरित्र का उद्घाटन कर इतिहास और साहित्य का सुन्दर समन्वय किया है । अपनी इस कला मे वह अद्वितीय है । हिन्दी का कोई कवि इस क्षेत्र मे उनसे टक्कर नही ले सकता ।

हमारे इतिहासकारो ने शिवाजी को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा और परखा है । भूषण इतिहासकार नही है । इसलिए शिवाजी के प्रति उनका दृष्टिकोण एक इतिहासकार का दृष्टिकोण नही है । वह कवि है और हिन्दू-भावना के कवि है । उन्होने शिवाजी को हिन्दू-जाति और हिन्दू-सस्कृति के उद्धारक के रूप मे देखा है । वह कहते है —

'वेद राखे बिदित पुरान राखे सारयुत्त,
राम-नाम राख्यौ अति रसना सुघर में ।

हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काधे मे जनेउ राख्यो, माला राखी गर में ॥
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यौ कर में।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर में ॥'

शिवाजी के प्रति भूषण का यह दृष्टिकोण उनके काव्य की मूल प्रेरणा है। इसे और भी अच्छी तरह समझने के लिए उनका यह छद लीजिए :—

'बारिध के कुंभ-भव, घन बन-दावानल,
तरुन तिमिर हू के किरन-समाज हौ।
कंस के कन्हैया, कामधेनु हूँ के कंट-काल,
कैटभ के कालिका, विहङ्गम के बाज हौ ॥
भूषन भनत जग-जालिम के सचीपति,
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छि-राज हौ।
रावन के राम, कतिबीज के परशुराम,
दिल्ली-पति-दिग्गज के सेर सिवराज हौ ॥'

शिवाजी के इतने शक्तिशाली व्यक्तित्व को काव्य के माध्यम से उभारने के लिए भूषण ने दो युक्तिया से काम लिया है (१) आदर्श वीर के रूप में चित्रण-द्वारा और (२) प्रतिपक्षी औरंगजेब के पाखडपूर्ण जीवन की आलोचना-द्वारा। आदर्श वीर के रूप मे छत्रपति शिवाजी का जो चित्रण किया गया है उसमे मुख्यतः तीन प्रकार के वर्णन मिलते है (१) कीर्ति-वर्णन, (२) साहस-वर्णन और (३) आतक-वर्णन। इन तीनो प्रकार के वर्णनो को प्रभावशाली बनाने के लिए ही भूषण ने शिवाजी के जीवन से सबधित घटनाओ का बड़े कौशल से सचयन किया है। इस दृष्टि से भूषण का काव्य घटना-प्रधान होते हुए भी भाव-व्यंजक हो गया है। तात्पर्य यह है कि भूषण के काव्य मे सयोजित घटनाओ का विशेष महत्व नही है, विशेष महत्व है उस भाव का जो उन घटनाओ के माध्यम से व्यंजित किया गया है। यही कारण है कि भूषण ने घटनाओ का सविस्तर वर्णन नही

किया है। वास्तव मे घटनाओ का वर्णन करना उनका उद्देश्य नही है, उनका एक मात्र उद्देश्य है शिवाजी के शक्तिशाली व्यक्तित्व का तत्कालीन मुसलिम समाज पर प्रभाव वर्णन करना। अपने इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए उन्होने घटनाओ की ओर केवल सकेत किया है। पर इसके साथ ही उन्होने ऐतिहासिक सत्य की भी पूरी तरह रक्षा की है। देखिए, शिवाजी की कीर्ति का वर्णन वह किस प्रकार करते है :—

'साहि-तनय सिव! तेरो सुनत पुनीत नाम,
    धाम-धाम सब ही को पातक कटत है।
तेरो जस-काज आज सरजा! निहारि,
    कवि-मन भोज विक्रम-कथा ते उचटत है॥
भूषन भनत तेरा दान-सकलप-जल,
    अचरज सकल महीं मे लपटत है।
और नदी-नदन ते कोकनद होत,
    तेरो कर कोक-नद नदी-नद प्रगटत है॥'

*   *   *

'इन्द्र निज हेरत फिरत गज-इन्द्र अरु—
    इन्द्र को अनुज हेरै दुगध-नदीस को।
भूषन भनत सुर-सरिता को हँस हेरै,
    विधि हँस को, चकोर रजनीस को॥
साहि-तनै सिवराज करनी करी है तै जो—
    होत है अचंभो देव कोटियो तैतीस को।
पावत न हेरे, तेरे जस मै हिराने, निज—
    गिरि को गिरीस हेरै, गिरजा गिरीस को॥'

शिवाजी के पुरुषार्थ और साहस का बखान इन छन्दो मे देखिए :—

'दारुन दुगुन दुरजोधन ते अवरंग—
    भूषन भनत जग राख्यो छल मढ़ि कै।
धरम धरम, बल भीम, पैज अरजुन,

नकुल अकिल, सहदेव तेज, चढ़िकै ॥
साहि के सिवाजी गाजी, कर्‌यो दिली माहि चड
पाडवनहू ते पुरुषारथ सु बढ़िकै ।
सूने लाख-भौन ते कढे वे पाँचि रात मैं सु—
द्योस लाख-चौकी ते अकेलो आयो कढ़ि कैं ।'

*　　　*　　　*

'छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हू की ओट मैं ।
ताही समय सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाधि पर हल्ला बीर भट जोट मै ॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति यहाँ लगि है जाकी भट झोट मै ।
ताव दै-दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि-मुख घाव दै-दै, कूदे परैं कोट मैं ।'

भूषण ने शिवाजी के आतंक का कई तरह से वर्णन किया है । शिवाजी के नगाड़ो की आवाज सुनकर औरंगजेब, बीजापुर के सुलतान और फिरंगियो की दशा का वर्णन इस छन्द मे पढिए :—

'चकित चकत्ता चौकि-चौकि उठै बारबार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है ।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुन,
केते पातसाहन की छाती दरकति है ।'

किसी सरदार को औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बना दिया है । शिवाजी के आतंक का उस पर कैसा प्रभाव है ? यह उसकी पत्नी के शब्दो मे सुनिए :—

'चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि—
बीबी कहै बैन 'मिया ! कहियत काहि नै ?
भूषन भनत बूझे आए दरबार ते
कंपत बारबार, क्यों सम्भार तन नाहि नै ॥
सीनो धक धकत, पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप, न चितै बाएँ-दाहिनै ।
सिवाजी को संक मानि गये हौ सुखाय, तुम्हैं—
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥'

एक दूसरी 'बैरि-बधू' अपने पति को क्या कहकर समझा रही है ? यह भी जान लीजिए :—

'साजि चमू जनि जाहु सिवा पर,
सोवत जाय न सिंह जगावो ।
तासों न जङ्ग जुरौ, न भुजङ्ग—
महाबिष के मुख मे कर नावो ॥
भूषन भाषत बैरि - बधू जनि,
एदिल औरङ्ग लौं दुख पावो ।
तासु सलाह की राह तजौ मति,
नाह ! दिवाल की राह न धावो ॥'

मुगलो की पत्नियो की यह दशा भी देख लीजिए :—

'कत्ता की कराकन चकत्ता को कटक काटि,
कीन्हीं सिवराज बीर अकथ कहानियाँ ।
भूषन भनत तिहुँलोक मे तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइति सकल बिललानिया ।
आगरे अगारन ह्वै फांदती कगारन छ्वै,
बांधती न बारन, मुखन कुम्हलानियां ।
कीबी कहैं कहा, और गरीबी गहे भागी जायँ,
बीबी गहे सूथनी, सुनीबी गहे रानियां ॥'

भूषण ने शिवाजी के शौर्य, उनके सैन्य-सचालन, उनकी विजय आदि के वर्णन मे जिन ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख किया है उनमे कोई काल-क्रम नही है। कही-कही उन्हाने राज्यो के नामोल्लेख द्वारा ही अपने भाव की पुष्टि की है। उनका काव्य मुक्तक-काव्य है और वह भी विभिन्न अलकारो के उदाहरणो के रूप मे है। ऐसी स्थिति मे उनके काव्य से ऐतिहासिक काल-क्रम की आशा करना व्यर्थ है। परतु इसमे शक नही कि उन्होने अपने काव्य मे ऐतिहासिक तथ्यो का वर्णन कर जहाँ शिवाजी के जीवन का महत्व प्रदान किया है वहाँ उन्होने अपने युग को भी पूर्ण रूप से झलका दिया है।

शिवाजी के शौर्य आदि का वर्णन करने के साथ-साथ भूषण ने रायगढ और उसके चारो ओर की प्रकृति का भी चित्रण किया है। रायगढ के महलो और मन्दिरों का वर्णन लीजिए :—

'मनिमय महल सिवराज के इमि रायगढ मे राजहीं।
लखि जच्छ किन्नर सुर असुर गन्धव हौसनि साजहीं ॥
उत्तुङ्ग मरकत मन्दिरन मधि बहु मृदङ्ग जु बाजहीं।
घन समै मानहु घुमीर करि घन घनपटल गल गाजही ॥'

इसके साथ ही प्रकृति का यह परपरागत चित्र देखिए —

'कहुँ केतकी, कदली, करौदा, कुन्द अरु करबीर हैं।
कहुँ दाख, दाड़िम, सेब, कटहल, तूत अरु जभीर हैं ॥'

ऐसे पेडो के बाग मे भाति भाति की चिड़िया भी देखिए :—

'मञ्जुल महरि, मयूर, चटुल, चातक, चकोर गन।
पियत मधुर मकरन्द, करत झङ्कार भृङ्ग-घन ॥'

इस प्रकार भूषण ने जहाँ प्रत्येक दृष्टि से लोक धर्मी शिवाजी के चरित्र को ऊँचा उठाया है वहा उन्हाने लोक-विरोधी औरजेब के चरित्र के उन अशो पर करारी चोट की है जो पाखडपूर्ण है। ऐसा करने मे भी उन्होने ऐतिहासिक मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए उनके ये छन्द लीजिए :—

'किबले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।

बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै कैद कियो,
मेहर हूँ नाहिं, मां को जायो सगो भाई है ॥
बन्धु तौ मुराद बक्स आदि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदाकी कसम खाई है।
भूषन सुकबि कहै, सुनौ नवरङ्गजेब,
ऐते काम कीन्हें, फेरि पातसाही पाइ है ॥'

* * *

'हाथ तसबीह लिए प्रात उठै बन्दगी को,
आप ही कपट रूप कपट सुजप के।
आगरे मे जाय, दारा चौक में चुनाय दीन्हों,
छत्र हू छिनायो मानो मरे बूढ़े बप के ॥
कीन्हो है सगात घात सो मै नाहिं कहौं फेरि,
पील पै तोरायो चार चुगुल के गप के।
भूषन भनत छरछंदी मति - मंदी महा,
सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठो तप के ॥'

भूषण ने कोई प्रबन्ध-काव्य नही लिखा, फिर भी मुक्तक मे उनकी चरित्र-चित्रण शैली अत्यन्त सजीव और सफल है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होने अपने पात्रो को तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के बीच रखकर समझा और परखा है। इस प्रकार शृङ्गार काल मे वही एक कवि है जिन्होने अपने युग को अपनी रचनाओ मे सजाया सवारा है।

भूषण की शैली

भूषण की शैली वीरोचित शैली है। उनके वर्ण्य विषय है—युद्ध, शिवाजी का प्रताप, शिवाजी की दानशीलता, शिवाजी का आतंक, शत्रु-स्त्रियों की दुर्दशा। इन्ही विषयो मे उन्होने मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, गीतिका, मालती सवैया, किरीट, माधवी, लीलावती, अमृत-ध्वनि, गीतिका आदि छन्दो का प्रयोग किया है।

इन छन्दो मे उनकी दो शैलियाँ है· (१) विवरणात्मक और (२) विवेचनात्मक। घटनाओ आदि के वर्णन मे विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। यह शैली अधिक आकर्षक नही है। इसकी अपेक्षा उनकी विवेचनात्मक शैली विशेष सफल है। इसमे उनके मनोभावो का विश्लेषण एवं चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। अलकार और रस-निष्पत्ति की दृष्टि से भी यह शैली सफल है। इन दोनो शैलियो मे विषय का सकोच नही है। इसलिए ये व्यास-प्रधान हैं। इनमे ओज और प्रसाद गुण का आधिक्य है। लक्षणा और व्यजना के फेर मे न पडकर भूषण ने सर्वत्र शब्दो की अभिधा शक्ति से काम लिया है। कही-कही शब्दो को तोड़ने-मरोडने के कारण शैली के प्रवाह मे बाधा अवश्य पड़ी है, परन्तु विषय की रोचकता के कारण उसका अनुभव नही होता।

काव्य-शैली की दृष्टि से भूषण की शैली मुक्तक है। मुक्तक दो प्रकार के होते है (१) प्रबन्ध-मुक्तक और (२) भाव-मुक्तक। भूषण ने अधिकाश प्रबन्ध मुक्तक ही लिखे है। इनमे भाव किसी-न-किसी घटना अथवा घटनाओ के आश्रित रहते है। भूषण ने दो प्रकार के प्रबन्ध-मुक्तकों की रचना की है एक तो वे जिनमे घटनाओ का आश्रय अधिक लिया गया है और दूसरे वे जिनमे विशिष्ट पात्रो की ओर सकेत कर नायक के गुणों का उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार के मुक्तको मे शिवाजी के आतक और यश आदि का वर्णन मिलता है।

भूषण की शैली की तीन विशेषताएँ है—प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता और सरलता। उनकी शैली पाठक को आकृष्ट करती है अपने सहज प्रभाव से और उनकी ऑखो के सामने वर्ण्य विषय का इतना सुन्दर चित्र खीच देती है कि वह देखता रह जाता है। उनके शब्दो और भावो मे बडा ही सुन्दर सामजस्य है। उनका शब्द-चयन वीर रस के अनुकूल रहता है, इसलिए उनके भाव-चित्र उत्साह-वर्द्धक, स्फूर्तिमय और उत्तेजक होते है [यही हाल उनकी श्राङ्गारिक रचनाओ का भी है। इस प्रकार हम देखते है कि भूषण ने जिस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है उसका उन्होने अन्त तक बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

भूषण की भाषा

भूषण की भाषा ब्रजभाषा है, पर वह वीर-कवि के हाथो मे पड़कर

अपनी सहज कोमलता और माधुर्य खो बैठी है। इसलिए भूषण की रचनाओ में हम उसका ओजमय और उद्दण्ड रूप देखते हैं। भाषा का यही रूप वीर रस के अनुकूल होता है। उसमे ओज की अधिकता होती है। ऐसी स्थिति मे ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा नही रह सकती। उसमे ओज गुण लाने के लिए अन्य भाषाओ के शब्दो को स्थान देना पड़ता है। भूषण ने भी यही किया है। उन्होने अपनी भाषा मे संस्कृत, प्राकृत, अरबी-फारसी, बुन्देलखडी, राजस्थानी आदि कई भाषाओ के शब्दो को स्थान दिया है। उन्होने मराठी भाषा के शब्दो को भी अपनाया है। एदिल, नौरगी, खुमान, सरजा आदि शब्दो पर मराठी प्रभाव है। साथ-ही फारसी, अरबी, तथा तुरकी भाषा के शब्द भी उनकी भाषा मे मिलते है। जसन, जलूस, आम-खास, जाती, हरम, सरम, दौलत, उमराव, गुसलखाना, बालम आदि अनेक शब्द विदेशी ही है जिन्हे अपनी खराद पर चढाकर उन्होने अपने अनुकूल बना लिया है। ऐसे शब्द उनके समय मे सर्वसाधारण की भाषा के माध्यम बन चुके थे और उनका विदेशीपन मिट गया था। भूषण ने कही-कही डिगल भाषा से भी शब्द लिए हैं। पब्बय, कित्त, ठिल्लिय, भ्रम्मि आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दो का प्रयोग उन्होने अपनी भाषा को वीरोचित बनाने के उद्देश्य से ही किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हे अपनी भाषा को सजाने-सवारने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ा था। उन्होने अपनी भाषा का प्रधान रूप ब्रजभाषा को ही रखा, पर उसका शब्द-भाडार बढाने के लिए उन्होने अनेक प्रान्तो की भाषाओ से शब्दो का चयन किया। इस प्रकार उन्होने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जो वीर रस के उपयुक्त बन सकी। उनकी भाषा सरल और क्लिष्ट दोनो प्रकार की होती है। स्थान, वातावरण और पात्र के अनुकूल ही उनकी भाषा का रुप बदलता है। उनके पास शब्दो की कमी नही है। वीर रस की भाषा के अभाव मे उन्होने जिस भाषा का निर्माण किया है उस पर उनका पूरा अधिकार है।

भूषण की भाषा पर विचार करते समय हमे यह न भूलना चाहिए कि जिस समय वह दक्षिण मे 'शिवराज भूषण' की रचना कर रहे थे, उस समय वहाँ 'दक्खिनी' जन्म लेकर अपने विकास का पथ खोज रही थी। उस समय की उस भाषा का कुछ आभास भूषण की रचनाओ से भी मिलता है। उदाहरण लीजिए :—

'बचेगा न समुहाने बहलोलखा अयाने,
भूषण बखाने दिल आनि मेरा बरजा।
तुझते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास,
कैद किया साथ का न कोई वीर गरजा।।'

*　　*　　*

'पचहजारिन बीच खड़ा किया, मै उसका कुछ भेद न पाया।
भूषन यो कहि औरंगजेब, उजीरन सों बेहिसाब रिसाया।'

भूषण ने अपनी रचनाओ मे यथास्थान लोकोक्तियो और मुहावरो को भी उचित स्थान दिया है। 'तारे लागे फिरन सितारे गढधर के', 'तारे सम वारे मूदि गये तुरकन के', 'गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली-दल की', 'छाती दरकति है' आदि अच्छे मुहावरे हैं। इसी प्रकार उनकी लोकोक्तियाँ—'सौ-सौ चूहे खाय कै बिलारी वैठी जप कौं, 'काल्हि के जोगौ कलीदे को खप्पर'—अत्यन्त चुटीली और सार्थक हैं। इन बातो पर विचार करते हुए हम यह कह सकते है कि उनकी भाषा खिचडी होने पर भी ओजपूर्ण, चुटीली और प्रभावोत्पादक है।

---

१३ : देवदत्त

जन्म-स० १७३० मृत्यु-स० १८२४

जीवन-परिचय

कवीश्वर देवदत्त का जन्म विक्रम-स० १७३० मे हुआ था। वह 'द्योस-रिया' अर्थात् देवसरिया कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा नगर के पसारी टोला लालपुरा मे रहते थे। उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे मत-भेद है। ठाकुर शिवसिह सेगर ने उनका जन्म-स्थान समीना गाव माना है, परन्तु आधुनिक खोजो के आधार पर यह अनुमान ठीक नही जान पडता। यह गाव जिला मैनपुरी मे है। देव के वशज अब भी मैनपुरी मण्डलान्तर्गत कुसमरा ग्राम मे रहते है। कहते है, १६ वर्ष

की अवस्था मे वह इस गांव मे आकर रहने लगे थे। उनके पिता का नाम पं० बिहारीलाल था। देव के दो पुत्र थे—भवानी प्रसाद और पुरुषोत्तम। भवानी प्रसाद के वशज इटावा मे और पुरुषोत्तम के कुसमरा मे रहते है।

देवदत्त की शिक्षा-दीक्षा के विषय मे कोई बात निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती, परन्तु सरस्वती के प्रसाद से उन्होने सोलह वर्ष की ही अवस्था मे 'भाव-विलास' ऐसे सुन्दर रीति-ग्रथ की रचना की थी। यह उनकी स० १७४६ की रचना है। उनके समय मे मुगल-सम्राट औरंगजेब का तृतीय पुत्र आजमशाह बड़ा ही गुणज्ञ, वीर और साहित्यानुरागी था। देव ने उन्ही का आश्रय ग्रहण किया। उन्होने देव का 'अष्टयाम' और 'भावविलास' सुना और उनकी प्रशसा की। संवत् १७६४ मे औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजसिंहासन के लिए उसके पुत्रो मे जो गृह-युद्ध हुआ उसमे आजमशाह मारा गया। ऐसी दशा मे देव का सम्पर्क भी दिल्ली-दरबार से छूट गया।

दिल्ली-दरबार के बाद देवजी ने भवानीदत्त वैश्य का आश्रय ग्रहण किया और उन्ही के नाम पर उन्होने 'भवानी विलास' नामक ग्रथ की रचना की। इसके बाद उन्होने इटावा के शुभकर्णसिंह के पुत्र कुशलसिंह सेंगर का आश्रय ग्रहण किया और उनके नाम पर उन्होने 'कुशल-विलास' की रचना की। फिर उनको राजा उद्योतसिंह का आश्रय मिला। राजा उद्योतसिंह बड़े साहित्य-प्रेमी थे। देव ने उनके नाम पर 'प्रेम-चन्द्रिका' की रचना की। सवत् १७८३ मे देवजी को राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ। भोगीलाल कवि और काव्य प्रेमी थे। उनके नाम पर देव ने 'रस-विलास' की रचना की। राजा ने उनके इस साहित्यिक कार्य के लिए उन्हे अच्छा पुरस्कार दिया।

देवजी को अपने मनोनुकूल आश्रयदाता कोई भी नही मिला। राजा भोगीलाल के यहा भी वह अधिक दिनो तक नही रहे। जिस समय उन्होने 'शब्द-रसायन' की रचना की उस समय वह किसी के आश्रय मे नही थे। इसीलिए वह किसी आश्रयदाता को समर्पित भी नही किया जा सका। 'जाति-विलास' भी उनकी ऐसी ही रचना है।

कहते है, अन्त मे उन्हे पिहानी-निवासी अकबर अली खाँ का आश्रय मिला। उनका आश्रय मिलने पर उन्होंने उस समय तक की अपनी समस्त रचनाओं को 'सुखसागर-तरग-सग्रह' का नाम देकर उन्ही को समर्पित किया। यह घटना स० १८२४ की बताई जाती है। यही उनका अन्तिम समय भी है।

देवजी की रचनाएँ

जन-श्रुति के अनुसार देवजी के ग्रथो की सख्या ५२ अथवा ७२ बताई जाती है। हिन्दी-नवरत्न मे उनके २८ ग्रन्थो के नाम दिये गये है जिनमे से १५ ऐसे ग्रन्थ है जिनको मिश्र-बन्धुओ को स्वय देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी समस्त रचनाओ मे 'भावविलास' (स० १७४६) 'अष्टयाम, 'राग-रत्नाकर', 'सुजान-विनोद' (सं० १७९५), 'प्रेम-पचीसी', 'तत्वदर्शन-पचीसी', 'आत्म-दर्शन-पचीसी', 'रसविलास' (स० १७८३), 'शिवाष्टक' (स० १७५५), 'प्रेम-तरग' (स० १७६०), 'जातिविलास' 'प्रेमचन्द्रिका' (स० १७६०) 'शब्द-रसायन' आदि ग्रथ अधिक प्रसिद्ध एव उत्कृष्ट है।

देवजी की काव्य-साधना

ब्रजभाषा-काव्य के श्रृङ्गारी कवियो की रचनाओ मे देवजी की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओ का सन्देश प्रेम का सन्देश है। उन्होने अपनी 'प्रेम-चन्द्रिका' मे प्रेम का बडा ही सजीव वर्णन क्रमबद्ध रूप मे किया है। प्रेम का लक्षण, स्वरूप, महात्म्य, उसके विविध भेद आदि विषयो पर उनकी सहज प्रतिभा का चमत्कार देखने योग्य है। उन्होने विशुद्ध प्रेम का ही अधिक महत्व दिया है —

'मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिकामय,
राधिका हूँ मोहि-मोहि मोहनमयी भई।'

* * *

'साँवरे लाल को सावरो रूप मैं,
नैनन को कजरा करि राखौ।'

देवजी के प्रेम का लक्षण है: —

'सुख-दुःख में है एक सम, तन-मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहा सुप्रेम प्रतीति॥'

देवजी पवित्र दाम्पत्य प्रेम के समर्थक हैं। उन्होने प्रेम के सहायक मन और नेत्र का भी आकर्षक वर्णन किया है। वह मानवी प्रकृति के सच्चे पारखी थे। उन्होंने मन और नेत्र की विविध गतियो पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। इसलिए वह उनके चित्रण मे भी सफल हुये हैं। वह अपने मन के सच्चे मित्र थे :—

'मोहिं मिल्यौ जब तै मन-मीत तजी तब तै सबवैं मै मिताई।'

देवजी अपने इसी मन-मीत के कारण किसी आश्रयदाता के मित्र नही बने। ऐसा स्वाभिमानी था उनका मन। फिर भी उन्होंने अपने को कभी वणिक के रूप मे और कभी दलाल के रूप मे चित्रित किया है। उन्होने उसको चेतावनी भी दी है और उसकी कोमलता की मोम, नवनीत एव घृत से तुलना की है। उन्होने उसकी चचलता, विषय तन्मयता आदि वृत्तियो का भी सजीव चित्रण किया है। विपयासक्त मन की उन्होने घोर निन्दा की है। इस प्रकार उन्होने मन के विविध रूपो पर प्रकाश डालकर अपनी प्रगाढ काव्य-चातुरी का परिचय दिया है।

नेत्रो के वर्णन मे भी देवजी की काव्य-प्रतिभा का हमे ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। कविगण प्राय जिन-जिन पदार्थों से नेत्र की उपमा देते है उन सभी से उन्होने एक ही स्थान पर उपमा दे दी है। उन्होने अपने नेत्र-वर्णन में आखो से सखी का भी काम लिया है। उनकी अखियाँ कही मधु-मक्षिका है तो कहो मतङ्ग :—

'वेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।'

* * *

'देव' दुख-मोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ये मतङ्ग मतवारे हैं।'

यह तो हुआ देवजी का प्रेम-वर्णन। विरह-वर्णन मे भी देवजी का स्थान महत्वपूर्ण है। उनका विरह-वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और विदग्धतापूर्ण है। उसमें दीनता का विनीत स्वर है, सन्ताप की ज्वाला है, नैराश्य की घड़ियो का प्रदर्शन

है, रमणीय रोष का उद्गार है, कोमलता की कूक और अतुल प्रेम की हूक है। विरह की जितनी दशाएँ हो सकती है उन सब पर कवि का ध्यान समान रूप से गया है। उनके वर्णन मे अतिशयोक्ति के साथ-साथ स्वाभाविकता भी पाई जाती है। उनके पूर्वानुराग, प्रवास, मान आदि के वर्णन बड़े ही अनूठे हुये हैं!

देवजी का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है, उनके काव्य के इतिश्री सयोग और वियोग के वर्णन से ही नही हो जाती। उनकी रचनाओ से हमे उनके ससार-ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय मिलता है, इसका कारण है, उनकी बहुदर्शिता। उनका दृष्टि-क्षेत्र उनके परवर्ती कवियों की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत था। उन्होने भारत के विभिन्न प्रातो का भ्रमण किया था। इसलिए उनका तत्सम्बन्धी अनुभव काल्पनिक न होकर वास्तविक था। नारी के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उन्होने प्रत्येक देश की युवतियो का जैसा मोहक वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होने अपनी यात्राओ मे केवल धनी लोगो के प्रसादो का ही सौन्दर्य नही देखा था, निर्धन के नग्न निवास-स्थानो पर भी उनकी दृष्टि गई और उन्होने वहा भी सौन्दर्य प्राप्त किया था।

प्रकृति का वर्णन भी देवजी की रचनाओ मे हुआ है। उनका ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल और अत्यन्त उत्कृष्ट है। उनके 'अष्टयाम' मे घड़ी-पहर तक का विवेचन किया गया है। उत्सवो का वर्णन भी हमे उनकी रचनाओ में मिलता है। उन्होने प्रकृति के चित्र भी बड़ी सफलतापूर्वक अकित किये है। बाह्य जगत के इन व्यापारो के साथ-साथ उनकी दृष्टि साधारण बातो की ओर भी गई है। पतङ्ग का उड़ना, फिरकी का नाचना, आतशबाजी का छूटना, बारात का सत्कार, हिन्दू-घरो के रीति-रिवाज आदि का उन्हे अच्छा ज्ञान है। देवजी की निरीक्षण-शक्ति अद्भुत है।

शृाङ्गारिक चमत्कार के साथ-साथ देवजी में ज्ञान और वैराग्य की छाया भी मिलती है। अपनी उठती अवस्था मे उन्होने शृङ्गार को अपनाया, पर जीवन की सध्या मे उन्होने वैराग्य के गीत गाये है। उनकी कविता मे ईश्वर-सबधी ज्ञान और मत-मतान्तरो का भी स्पष्टीकरण मिलता है, फिर भी हम यह कहेगे कि उन्होने जीवन के जिस पहलू के चित्र उतारे है वे सत्य है, निर्दोष है। उन्होने

नवीन मार्ग का अनुसरण किया है और उसमे भी उन्हे सफलता मिली है। छन्दो की रचना मे, विशेषणो की काट-छाँट मे, तुलनाओ की खीचतान मे, कल्पनाओ की सृष्टि मे, रूपको के आयोजन मे, घरेलू कहावतो की खोज मे, नायिकाओ के हाव-भाव-प्रदर्शन मे, सयोग और वियोग के स्वाभाविक वर्णन मे तथा दाम्पत्य-प्रेम के निरूपण मे वह अपने समय के कवियो मे अद्वितीय है, अमर है।

देवजी की शैली

देवजी की शैली रीति-कालीन शैली है। उन्होने दोहा, कवित्त और सवैयो मे अपने भावो को व्यक्त किया है। इनमे घनाक्षरियो की संख्या अधिक है। उत्तमता मे भी वे सवैयो से न्यून नही है। उनकी रचनाओ मे कही भी कोई अटपटा छन्द नही मिलता। उन्होने एक ही छन्द मे विविध काव्यॉगो का जैसा सुन्दर समिश्रण किया है वैसा अन्य कवियो के कई छन्दो मे भी नही मिलता। उनकी रचनाओ मे ओज है, चोज है। प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-गौरव, काति आदि उनकी रचनाओ के विशेष गुण है। उनके प्राय प्रत्येक छन्द मे कई प्रकार के अलंकार, गुण, लक्षण, व्यजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति और रस पाये जाते है।

देवजी की रचना मे शब्दाडम्बर बहुत कम है। उन्होने अपनी रचनाओ मे भाषा पर उतना बल नही दिया जितना भाव पर। वास्तव मे भाव-शबलता ही उनकी रचना का विशेष गुण है। फिर भी श्रुति-कटु शब्द उनकी रचना मे नही के बराबर है। उनके विशेषण बड़े लम्बे होते है। 'नूपुर-सजुत, मंजु मनोहर, जावक रजित कज-से पायन' मे उनके विशेषणो की छटा देखी जा सकती है। अशिष्ट एव ग्रामीण शब्दो की सख्या उनकी रचनाओ मे अपेक्षाकृत कम है।

देवजी की भाषा

देवजी की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। वह बडी ही श्रुतिमधुर है। उसमे मिश्रित वर्ण एव रेफ सयुक्त अक्षर कम है। ट वर्ग का प्रयोग भी उन्होने कम किया है। प्रान्तीय भाषाओ—बुन्देलखण्डी, अवधी, राजपूतानी आदि के शब्दो का व्यवहार भी उन्होने अन्य कवियो की अपेक्षा न्यून मात्रा मे ही किया है। उनकी कविता मे पद-मैत्री तथा यमक और अनुप्रास का चमत्कार अच्छा दिखलाया गया

है। पदो के बीच अनुप्रास मिलाने के लिए एक से शब्दो को लाना उनकी भाषा की एक विशेषता-सी है। इसके लिए उन्होने शब्दो की खीचतान और तोड-मरोड़ भी नही की है। उनकी भाषा उनकी नायिकाओ की भाति सालकार है। अनुप्रास के फेर मे पड़ने के कारण कही-कही उनके भाव अस्पष्ट और दुरूह भी हो गये है। अक्षरमैत्री के हिसाब से उन्हे कही कही अशक्त शब्द भी रखने पड़े है। इससे अर्थ और चहक-भड़क मे भी भद्दापन आ गया है। परन्तु जहा अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से हो पाया है वहा की रचना सरस हुई है। उनकी ऐसी रचनाएँ मादकता का वातावरण उपस्थित करती है। सक्षेप मे हम यह कह सकते है कि उनकी काव्य-भाषा मँजी हुई ब्रजभाषा है। अपने काव्य-कौशल से उन्हाने अपनी ब्रजभाषा का स्वरूप ही निखार दिया है। शब्द-निर्माण मे भी वह सिद्धहस्त है। शब्दो का सुन्दर चयन तथा अलकारो की सुन्दर योजना, भाव और भाषा का सुन्दर सामजस्य उनकी रचनाओ की मुख्य विशेषताएँ है। । उनकी रचनाओ मे मुहावरो और लोकोक्तियो का भी सम्यक् व्यवहार सराहनीय हुआ है।

देवजी और बिहारी

हिदी के आलोचना-साहित्य मे देवजी और बिहारी पर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक विचार किया गया है। पद्मसिह शर्मा, मिश्रबन्धु और लाला भगवान-दीन की रचनाएँ इस सम्बन्ध मे अधिक महत्वपूर्ण रही है। इनमे से किसी ने देवजी को ऊँचा उठाया है तो किसी ने बिहारी को। यदि ध्यान से देखा जाय तो दोनो अपने अपने क्षेत्र के महान कलाकार है। भक्ति-काल मे जिस प्रकार तुलसी और सूर का जोडा अमर है उसी प्रकार रीति-काल मे देवजी और बिहारी अमर है।

बिहारी केवल कवि है, देवजो कवि होने के साथ-साथ आचार्य भी है। बिहारी ने केवल 'सतसई' की रचना की है, देवजी ने लगभग १५ काव्य ग्रथ लिखे है, लेकिन देवजी के इन सभी ग्रथो का 'सतसई' की तुलना मे विशेष महत्व नही है। 'सतसई' की टीकाएँ आज भी निकलती जा रही है। बिहारी ने जो भाव एक दोहे मे भर दिये है, उन्हे व्यक्त करने के लिए देवजी को कवित्त और सवैये की शरण लेनी पडी है। इससे जहा बिहारी की रचनाएँ समास-प्रधान हो गई है, वहा देव की व्यास-प्रधान। श्रृङ्गार का वर्ण दोनो ने किया है। बिहारी के वियोग-श्रृङ्गार की

ज्वाला पाठको के कोमल हृदय को पिघला देती है। देवजी के वियोग-सबधी छन्द भी अच्छे है, परतु सयोग-शृङ्गार का वर्णन उनकी विशेषताओ मे से है। वियोग मे देवजी का मान-वर्णन अत्यन्त सुन्दर है।

बिहारी ने नखशिख के अतिरिक्त व्यापक सौदर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। सौदर्य के वर्णन मे वह अलकारो के पक्षपाती नही हैं। उन्होने जहा कही भी अलकारो का वर्णन किया है वहा शरीर की शोभा के आगे उन्हे प्रभा-हीन ही ठहराया है। देवजी ने सालकार नायिकाओ का वर्णन अधिक किया है। इससे उनकी रचनाओ मे स्वाभाविक सौंदर्य गौण पड़ गया है।

बिहारी केवल दोहाकार है, देवजी ने कई छन्दो मे रचना की है। बिहारी के दोहो के सम्बन्ध मे मिश्र-बन्धुओ ने यह कहकर उनका महत्व बढाया है।

'जाकी पैनी डीठि की मिलत न कहूँ मिसाल'

'सतसैया के दोहरे' वाला दोहा तो सभी जानते हैं। इसमे सन्देह नही कि उन्होने अपने प्रत्येक दोहे मे 'गागर मे सागर' भरा है। कल्पना की उड़ान जैसी उनके दोहो मे है वैसी देवजी की कविता मे नही है। उनमे अलकारो की योजना भी अत्यन्त सुन्दर है। किसी-किसी दोहे मे कई अलकार एक साथ पाए जाते है, पर उनके कारण कही भी भद्दापन नही आया है। देवजी की कविता मे व्यजना नही है। वह हृदय पर सीधे चोट करते हैं। उनका भाव और शब्दो पर अधिकार है।

भाषा के क्षेत्र मे देव, बिहारी से आगे है। ब्रजभाषा मे अनुप्रास और यमक की छटा देवजी की विशेषता है। देवजी को दौड़ने के लिए कविता का विस्तृत मैदान था। इसलिए वह अपनी कला मे अधिक सफल हो सके। देव की भाषा मे माधुर्य है, बिहारी की भाषा मे अभिव्यजना। देव ने जिस भाव को लेकर कई पन्ने रगे है, बिहारी ने उसे दो पक्तियो मे ही कस दिया है। इस प्रकार देव और बिहारी अपने-अपने क्षेत्र के महान् कलाकार है।

१४ : घनानंद

जन्म-स० १७४६ मृत्यु-स० १८१७

जीवन-परिचय

वृन्दावन-निवासी घनानद की जीवनी, हिन्दी के अनेक कवियो की जीवनी की भाँति अज्ञात और अधिकाश किंवदन्तियो पर आधारित है। कहा जाता है कि वह भटनागर कायस्थ थे और बादशाह मोहम्मद शाह 'रँगीले' (स० १७७६-१८०५) के मीर-मुशी थे। उनका जन्म दिल्ली मे स० १७४६ के लगभग हुआ था। वह बचपन से ही विद्या-प्रेमी थे। उनके समय मे फारसी साहित्य का बहुत प्रचार था। इसलिए उन्होने फारसी पढना आरम्भ किया। कालातर में उनकी प्रतिभा इतनी विकसित हुई कि वह फारसी भाषा में कविता करने लगे। सगीत का भी उन्हे अच्छा ज्ञान हो गया।

घनानद को बचपन से रास लीला देखने का बहुत शौक था। उस समय रास मडलियाँ प्राय सभी जगहो मे जाया करती थी और भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओ के अभिनय से भक्तो का मनोरजन किया करती थी। जब ऐसी मडलिया दिल्ली मे आती थी तब घनानद उन्हे बड़े चाव से देखते थे और बहुधा कई महीने तक उनके व्यय का भार स्वय वहनकर रासलीला कराते थे। वह स्वयं भी रासलीला मे भाग लेते थे इससे उन्हे ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान हो गया था।

रासलीला के सम्पर्क से ही घनानद के हृदय मे कृष्ण-भक्ति की ओर श्रद्धा उत्पन्न हुई। अत मे वह दिल्ली छोडकर वृन्दावन चले गये और वहाँ निम्बार्क-सम्प्रदाय के किसी साधु से दीक्षा लेकर कृष्ण की उपासना मे मग्न हो गये।

इस सबध से लोगो का यह भी कहना है कि जिस समय वह सम्राट मोहम्मदशाह के मीर-मुशी थे, उस समय सुजान नाम की एक वेश्या से उनका प्रेम हो गया था। यह बात दरबारियो को खल गई। एक दिन उनके एक प्रतिद्वदी ने सम्राट से घनानद के सगीतज्ञ होने की चर्चा की। घनानद अपने ईर्ष्यालु कर्म-चारियो का कुचक्र ताड़ गये और उन्होने गाने से साफ इन्कार कर दिया। उनके

इन्कार करने पर एक दरबारी ने कहा कि यदि सुजान वेश्या उनसे गाने के लिए कहे वो वह अवश्य अपना गाना सुना सकते है। यह सुनते ही सुजान दरबार मे बुलाई गई और उसने घनानद से गाने का अनुरोध किया। इस प्रकार घनानद को विवश होना पडा। गाते समय उन्होने सम्राट् की ओर पीठ और सुजान की ओर मुह करके गाया। गाना सुनकर सम्राट् बहुव प्रसन्न हुए, परन्तु वह दरबार के शिष्टाचार की अवहेलना सहन न कर सके। फलव सम्राट का आनन्द क्रोध मे परिणव हो गया। उन्होने घदानन्द को दिल्ली से तुरन्त निर्वासित कर दिया। घना-नद बिना कुछ कहे-सुने सुजान के घर चले आये और उससे भी अपने साथ चलने के लिए आग्रह करने लगे, परन्तु वह किसी प्रकार तैयार न हुई। इस कठोर व्यवहार का घनानद के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह वृन्दावन चले गये।

घनानद के वैराग्य के सम्बन्ध मे उक्त कथा का कोई ऐविहासिक महत्व नही है। परन्तु उनकी रचनाओ मे 'सुजान' शब्द इतनी बार आया है कि उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। सभव है, इस नाम की कोई स्त्री रही हो और उसने घनानद के प्रेम को ठुकरा दिया हो। यह भी हो सकता है कि रास-लीला की राधा ही उनकी 'सुजान' हो। जो भी हो, इसमे शक नही कि 'सुजान' ही उनके काव्य की मूल पेरणा है। दिल्ली छोडकर वृन्दावन आने पर वह 'सुजान' की उपासना मे इवने निमग्न हो गये कि उन्होने फिर किसी से कोई सबध नही रखा और यही अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय (स० १८१७) मुसलमानो-द्वारा उनका बध हुआ।

घनानंद की रचनाएँ

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी रचना 'घनआनद' मे घनानद के ३६ छोटे-बडे काव्य-ग्रथो का सकलन एव सपादन किया है। उनमे से 'सुजान हित' और 'पदावली' बड़े ग्रथ हैं। 'सुजान-हिव' मे कुल ५०७ कवित्त-सवैये है और 'पदावली' मे १०५७ पद है। इनके अतिरिक्त प्रेम-सरोवर, प्रीति-पावस, गोकुल-गीत, कृष्ण कौमुदी, गोकुल-विनोद, प्रेम-पद्धति, रसनायश, मुरलिका-मोद, छदाष्टक, नाम-माधुरी आदि भी सुन्दर रचनाएँ है।

घनानंद की काव्य-साधना

घनानद अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे से थे। उन्हे न तो शास्त्र-सम्पादन की इच्छा थी और न रीतिबद्ध-कवियो के मार्ग का अनुसरण करने की अभिलाषा। उन्होने दोनो का खुलकर वहिष्कार किया और अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतत्र मार्ग निश्चित किया। रीति-काल के प्रथम दो वर्गों के कवि लौकिक प्रेम के उपासक थे। उनकी रचनाएँ अधिकाश बाह्यवृत्ति के निरूपण से ओत-प्रोत थी। उनमे कला-पक्ष प्रधान था, भाव-पक्ष दब-सा गया था। घनानद ने भाव-पक्ष को अपनी रचनाओ मे प्रमुख स्थान दिया और उसे अन्तर्मुखी बनाया। वह विशुद्ध प्रेम के उन्मत्त गायक थे। उनकी कविता ने ही उनका निर्माण किया था। उनका कहना था —

'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।'

काव्य मे भाषा और भाव के सुन्दर सामजस्य के महत्व को उन्होने भलीभाति समझा था। इसीलिए उनमे अपनी अनुभूतियो को पाठक के हृदय मे उतारने की अभूतपूर्व क्षमता थी। वह मानवीय भावो के अत्यन्त कुशल चित्रकार थे। अपनी अनुभूतियो के चित्रण मे उन्होने लाक्षणिक और व्यगमूलक पद्धति का अनुसरण कर भाषा की गति की विविध बाधाओ को दूर कर दिया था। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था और वह उनके भावो की अनुगामिनी थी।

घनानंद रीति-मुक्त कवि थे। इसमे सन्देह नही कि उन्हे रीतिबद्ध रचनाओ की प्रेरक प्रवृत्तियो एव कृष्ण और गोपियो के उन्मुक्त प्रेम के लौकिक स्वरूप से ही शक्ति मिली थी, फिर भी उन्होने उन प्रवृत्तियों को उसी रूप मे ग्रहण नही किया। उन्होने उनका सस्कार किया और उन्हे बहिर्मुखी से अतर्मुखी बनाया। ऐसा करने मे उन्होने किसी विदेशी शैली का अनुकरण नही किया। कबीर अथवा जायसी की भाति उन्होने भारतीय उपासना के क्षेत्र मे विदेशीपन को स्थान नही दिया। उन पर फारसी-काव्य की प्रेम-पद्धति और सूफियो की रहस्यमयी विरह-पद्धति का प्रभाव अवश्य था, परतु गम्भीर अध्ययन के पश्चात् उनकी रचनाओ से यह तुरत स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने अपनी रचनाओ मे दोनो पद्धतियो को अपने ढंग से, भारतीय पद्धति के अनुसार अपनाया है। एक उदाहरण लीजिए और

देखिए कि उन्होने सूफी भावना को भारतीय भावना के रग मे रगकर किस प्रकार व्यक्त किया है :—

'अन्तर हौ किधौं अन्त रहौ दृग फारि फिरौ कि अभागिनी भीरौ ।
आगि जरौ अकि पानि परौ, अब कैसी करौ, हिय का विधि धीरौ ॥
जो 'घनआनन्द' ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पारौ ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं, धरती मे धसौ कि अकासहिं चीरौ ।।'

घनानन्द प्रेम के उन्मुक्त गायक थे और राधा तथा कृष्ण ही उनके आलम्बन थे, परन्तु अपने पूर्ववर्ती कवियो की भाति उन्होंने सुरतात, विपरीत रति आदि से अपनी रचनाओ का अपवित्र नही किया। उनकी राधा और उनकी गोपिया वासना की मूर्ति नही है। उनकी रचनाओ का थीम है विरह-निवेदन—उनका सुजान से वियोग। प्रेम के इस पक्ष को ही चित्रित करने मे उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ है। उनकी रचना मे 'प्रेम की पीर' इतनी घनीभूत है कि उनके प्रत्येक शब्द मे वेदना, कसक और टीस भरी हुई है। विरह से उन्हे इतना मोह, इतना प्रेम है कि उनका समस्त कवि-जीवन ही विरहमय हो गया है और वह उन्हे अन्य विषयो की ओर भटकने ही नही देता। बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियो मे यह बात नही पाई जाती। उनकी काव्य-प्रतिभा विभिन्न विषयो की ओर उन्मुक्त हुई है। वे कभी सयोग-पक्ष का चित्रण करते है, कभी वियोग-पक्ष का दिग्दर्शन कराते है, कभी भक्तो की तरह कृष्ण और राधा की वन्दना करते है और कभी उनके अगो की शोभा पर ही रीझ उठते है, पर घनानद की प्रतिभा समस्त परिस्थितियो मे एक ही मार्ग का अनुसरण करती है। वह सर्वदा विरह का ही वर्णन करते है। विरह उनके रोम-रोम मे इतना समा गया है कि सयोग मे भी उनका उससे पीछा नही छूटता —

'यह कैसो संयोग न बूझि परै, जु वियोग न क्यौं हू बिछोहत हैं ।'

वियोग मे मिलन की आशा ही प्रेमी के जीवन का आधार है। घनानन्द इसी बात को लक्ष्य करके कहते है —

'तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल,
थाके ये विकल नैना ताहि नपि-नपि रे ।

हिय में उदेग-आगि लागि रही रात-द्योस,
तोहि को अराधौ, जोग साधौ तपि-तापि रे ॥
जान घनआनंद यौं दुसह दुहेली दसा—
बीच परि-परि प्रान पिसे चपि-चपि रे।
जीवे तै भई उदास, तऊ है मिलन-आस,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि-जपि रे ॥'

परन्तु इतने पर भी जब उसके आने की कोई सभावना नही होती तब वह आकाश मे घिरे बादलो को सबोधन कर कहते है —

'पर काजहि देह को धारि फिरौ, परजन्य! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सज्जनता सरसौ ॥
घनआनद जीवन-दायक हौ, कछु मोरियौ पीर हियैं परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवान को लै बरसौ ॥'

वियोग के प्रति घनानद मे इतनी ममता का कारण है। वह यह समझते हैं कि वियोग की अग्नि और वेदना के अश्रु से ही प्रेम पवित्र होता है। उसी की सजीव साधना से सयोग का महासुख मिलता है। जो वियोगी नही बन सकता, जो वियोग की ज्वाला मे जल नही सकता, वह सच्चा प्रेमी भी नही बन सकता। वियोग प्रेम की कसौटी है। प्रेमी को इस कसौटी पर अपने आप को कसना पड़ता है। दादू कहते है —

'विरहा मेरा मीत है, विरहा बैरी नाहि।
विरहा को बैरी कहै सो 'दादू' किस माँहि ॥'

कबीर कहते हैं —

'कबिरा हँसना दूर कर रोने सो करु प्रीति।
बिन रोये क्यों पाइये प्रेम पियारा मीति।'

प्रिय को पाने के लिए रोना पड़ता है, वियोग को अपनाना पड़ता है। वियोग प्रेम का सार है, जीवन है। यह वह तत्व है जो हमारी आत्मा की साधना को घनीभूत कर देता है और यह वह अग्नि है जिसमे मन का विकार भस्म हो जाता है। दादू कहते है —

'विरह अगिन मे जल गये मन के मैल विकार ।'

घनानद ने अपने मन के विकारो को इसीलिए विरह की अग्नि मे जलाया है। वियोग से इसीलिए उन्हे अखड प्रेम है। हम पहले कह आये है कि घनानन्द अंतर्मुखी प्रवृत्ति के कवि है। उन्हाने अपनी रचनाओ मे बाह्य रूप को उतना अधिक स्थान नही दिया जितना आतरिक रूप को। उनके प्रकृति-वर्णन के सबंध मे भी यही बात लागू होती है। उनकी जिन रचनाओ मे प्रकृति का चित्रण मिलता है उसके अध्ययन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने उनमे प्रकृति-द्वारा मानव-हृदय पर पड़नेवाले प्रभावो का ही चित्र खीचा है। मानवीय भावनाओ के साथ प्राकृतिक सौंदर्य की ओर मन को ले जाकर भावनाओ का परिष्कार करने की उन्हे आवश्यकता नही थी। उन्होने कभी मानव-सौदर्य का प्रकृति-सौंदर्य के साथ समन्यवय करने का प्रयत्न नही किया। वह वियोगी थे। अतएव इन्होने वियोग के आँसुओ से ही प्रकृति का सस्कार किया है, प्राकृतिक सौदर्य से प्रेम की भावना का नही। उदाहरण के लिए उनकी निम्न पक्तियाँ लीजिए :—

'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अब हो करैजो किन कोरिलै।'

* * *

'लहकि-लहकि धावैं ज्यों ज्यो पुरवाई पौन,
दहकि-दहकि त्यौं-त्यौं तन ताँवरे तचै॥'

घनानन्द की शैली

कवि का व्यक्तित्व ही उसकी शैली का रूप निश्चित करता है। घनानंद इसके अपवाद नही है। उनकी व्यक्तित्व स्वच्छन्दता प्रधान है। इसलिए उनकी सभी रचनाओ मे हमे इस प्रवृत्ति का चमत्कार दिखाई देता है। स्वच्छन्द प्रेम के वह उन्मुक्त गायक है। उन्होने सौ-सौ तरह से प्रेम के वियोग का चित्रण किया है। इसके लिए उन्होने भाव-मुक्तक की शैली अपनाई है। भाव-मुक्तक दो प्रकार के होती है : (१) पाठ्य और (२) गेय। घनानद ने दोनो प्रकार के भाव-मुक्तक लिखे है। उनके जो मुक्तक दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छदो में

है वे पाठ्य है। इनक अतिरिक्त पदावली मे उनके गेय मुक्तक है जिनमे अनेक प्रकार की राग-रागिनियो का विधान किया गया है। 'गिरि-पूजन', 'रगबधाई', "प्रेम-पत्रिका' आदि काव्य मुक्तक-प्रबंध के उदाहरण हैं। इनमे मुक्तक छन्दो को मिलाकर एक कथा का ढाचा खड़ा कर दिया गया है। घनानद ने कुछ प्रशस्तियां भी लिखी है जो दोहा-चौपाई मे मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि छंद और विषय की दृष्टि से उनकी शैली के विविध रूप है।

कविता के दो पक्ष होते (१) भाव-पक्ष और (२) कला-पक्ष। रीति-बद्ध कवियो की रचनाओ मे भाव-पक्ष गौण और कला-पक्ष प्रधान था। घनानंद उस कोटि के कवि नही थे। उन्होने अपनी रचनाओं मे भाव-पक्ष को ही प्रधानता दी, पर इसके साथ ही उन्होने काव्य के कला पक्ष की उपेक्षा नही की। उन्होने इन दोनो पक्षो का अपनी रचनाओ मे सुन्दर समन्वय किया। इसलिए उनकी रचनाओ मे भावो के उत्कर्ष के साथ-साथ कला का भी उत्कर्ष मिलता है।

काव्य के कला-पक्ष पर विचार करते समय उसकी भाषा, शैलो और अलकार-योजना पर ध्यान जमाना पड़ता है। इन तीनो दृष्टियो से घनानद के काव्य का कला-पक्ष सबल होने के साथ-साथ स्वाभाविक भी है। उनकी लाक्षणिक पद्धति उनकी काव्य कला का सर्वस्व है। लक्षण द्वारा उन्होने अपने काव्य मे जो चमत्कार और सौंदर्य उत्पन्न किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अलकारो के प्रयोग मे भी उनकी कला बेजोड है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विभावना, अनुप्रास, यथासख्य, असङ्गति, प्रतीप आदि अलकारो के स्वाभाविक प्रयोग के साथ-साथ विरोधाभास की जैसी छटा उनके काव्य मे मिलती है वैसी अन्यत्र बहुत कम देखने मे आती है। विरोधाभास का चमत्कार इन पक्तियो मे देखिए .—

'पौन सो जागत आग सुनी ही, पै पानी ते लागति आँखिन देखी।'
'न खुली मुंदी जानि परैं कछु ये, दुखदाई जगे पर सोवति हैं।'

* * *

दरसौ, परसौ, बरसौ, सरसौ, मन लैहू गये पै बसौ मन ही।

भाव-पक्ष की दृष्टि से घनानद की रचनाएँ शृङ्गार रस प्रधान है। शृङ्गार के वियोग पक्ष के वह अमर कवि है। संयोग वर्णन मे उनकी वृत्ति नही रमी

है। इस सबध मे उनकी जा रचनाएँ मिलती है वे परपरा पालन मात्र ही हैं। 'पदावली' मे शात रस की प्रधानता है। इसके अधिकाश पद विनय और प्राथना सम्बधी हैं। किसी-किसी पद मे वात्सल्य रस भी पाया जाता है।

घनानन्द की भाषा

घनानद की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमे बोलचाल की ब्रज-भाषा के शब्द भी मिल सकते है। ब्रजभाषा की मधुरता और कोमलता से घनानद भलीभाति परिचित थे। उन्होने ब्रज मे अपने जीवन का अधिक भाग बिताया था। इसलिए ब्रजभाषा उनकी मातृ भाषा सी हो गई थी। इसके अतिरिक्त फारसी की मुहावरेदानी से भी वह भलीभाँति परिचित थे। फारसी का उन्हे अच्छा ज्ञान था। वह सचमुच 'भाषा प्रवीन' थे। स्वानुभूति के लिए कैसी भाषा होनी चाहिए इसे वह खूब जानते थे। इसलिए उन्हे अपनी भाषा को सजाने-सँवारने और उसे भावपरक बनाने मे विशेष प्रयत्न नही करना पड़ा। वह भाषा के पीछे नही चले, भाषा स्वय उनका अनुगमन करती रही। वह अपनी भावना के अनुसार भाषा को जिधर चाहते थे उधर मोड लेते थे। भाषा पर इतना सबल अधिकार उनके समय मे उनके अतिरिक्त और किसी का नही था।

घनानद ने अपनी ब्रजभाषा मे शब्दो का चयन बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है। उनकी भाषा मे सस्कृत के तत्सम और तद्भव—दोनो रूप मिलते है। सस्कृत के तद्भव शब्द ब्रजभाषा के साँचे मे ढले हुये है। इससे उनकी ब्रजभाषा का माधुर्य और भी बढ गया है। फारसी से परिचित होते हुये भी उन्होने उसके शब्दो के प्रयोग से अपनी भाषा को बचाया है। भाषा की यह विशेषता बहुत कम देखने को मिलती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनका ब्रजभाषा-शब्द-भाँडार अत्यन्त विस्तृत था। यही कारण है कि भावो के उतार-चढाव के अनुसार उनकी भाषा मे कभी मन्थर प्रवाह मिलता है और कभी तीव्र। विरह-वर्णन मे उनकी भाषा का प्रवाह मन्थर है, पर उल्लास वर्णन मे उनकी भाषा का प्रवाह तीव्र हो जाता है। इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणो से युक्त, व्यंजना और लक्षणा से सपन्न, मुहावरो और कहावतो से समृद्ध, अर्थ की सपत्ति से गौरवान्वित, व्याकरणपरक और ध्वनि-सौंदर्य से विभूषित है।

घनानन्द और रसखान

हिन्दी के स्वच्छन्द-प्रेम के गायको मे रसखान और घनानद का प्रमुख स्थान है। दोनो अपने यौवन-काल मे प्रेमी रहे है और अपनी प्रेयसी-द्वारा उपेक्षित होने पर दोनो ने ब्रज की शरण ली है। दोनो ने कृष्ण और गोपियो की ओट लेकर अपनी प्रेमानुभूतियो का चित्रण किया है और उनकी भक्ति मे अपना जीवन व्यतीत किया है। दोनो पर सूफी-भावना का प्रभाव भी है, परन्तु फिर भी काव्य के क्षेत्र मे दोनो की दो दिशाएँ है। यदि रसखान प्रेम के सयोग पक्ष के गायक हैं तो घनानद प्रेम के वियोग-पक्ष के। क्यो ? इसका उत्तर समझने के लिए रसखान का यह दोहा लीजिए :—

'तोरि माननी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान
प्रेमदेव की छाबहिं लखि, भये मियाँ रसखान ॥'

रसखान का यह दोहा रसखान के जीवन का इतिहास अपने मे छिपाये हुये है। इससे यह स्पष्ट होवा है कि वह अपनी जवानी के दिनो मे जिसी सुन्दरी पर आसक्त थे, परन्तु उसके मान करने पर उन्होने उस से सबध तोड़ दिया और 'प्रेम-देव' (श्री कृष्ण) के रूप-सौदर्य पर मोहित होकर 'रसखान' हो गये, उनका सारा 'मियाँपन' उनसे दूर हो गया और फिर उन्हे उस 'मानिनी' की याद भी नही आई। इस प्रकार वह लौकिक प्रेम के क्षेत्र से निकल कर अलौकिक प्रेम के क्षेत्र मे आये और यह कहने लगे .—

'मानुष हौ तौ वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पशु हौ तौ कहा बस मेरों,चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौ तौ वही गिरि कों जो धर्‌यो कर-छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौ तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन ॥'

रसखान शाही वंश के थे। उनमे शाही 'ठसक' थी। अपनी इस'ठसक' के बल-बूते पर ही उन्होने अपनी 'मानिनी' का मान-मर्दन किया। भागवत के प्रभावसे उन्होने अनुभव किया कि जिस रूप-लावण्य पर उनकी माननिनी इतरा रही है वह रूप-लावण्य वस्तुत. उसका नही है, वह तो उस अलौकिक रूप-लावण्य की छाया

मात्र है जिस पर ब्रज की गोपियाँ अपनी लोक-लज्जा त्यागकर सौ जान से निसार हैं। अपने इस अनुभव के आधार पर ही उन्ह ने एक गोपी से कहलाया है: —

'प्रेम पगे जू रंगे रंग-सॉवरे, मानैं मनाये न लालची नैना।
धावत हैं उतही जित मोहन, रोके रुकैं नहीं घूँघट ऐना॥
कानन लौं कल नाहि परै, सखि! प्रीति में भीजे सुने मृद बैना।'
रसखान भईं मधु की मखियाँ, अब नेह को बन्धन क्यों हू छुटैना॥'

रसखान मे रूप का मोह अधिक है, इतना अधिक है कि वह एक क्षण के लिए भी उसकी ओर से अपनी आखे नही हटा सकते। इसलिए उन्होंने निन्नानबे फीसदी सयोग के ही चित्र उतारे है। इसके विरुद्ध घनानद पूरे वियोगी हैं। रसखान ने अपनी 'ठसक' से अपनी 'मानिनी' का मान-मर्दन किया है और उसे भूल गये है, परन्तु घनानद मे न तो 'ठसक' है और न वह अपनी 'सुजान' को भूल सके हैं। ब्रज मे रहकर भी वह यही कहते सुनाई देते है . —

'पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यो फिरि नेह को तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनन्द आपने चातक को गुन बाँधि कै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय के ज्याय, बढाये कै आस, बिसास मै क्यो विष घोरियै जू॥'

घनानद मे रूपासक्ति की अपेक्षा गुणासक्ति अधिक है। गुणासक्ति की अधिकता के कारण ही उनकी बाह्य वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी है। रसखान की वृत्ति सोलह आने बहिर्मुखी है। कृष्ण के रूप-लावण्य के प्रभाव और गोपियो की प्रेमपूर्ण उक्तियो से उनका काव्य भरा पड़ा है। इस प्रकार घनानन्द और रसखान एक दूसरे के पूरक है। रसखान ने जिस विषय को त्याग दिया है उसे घनानंद ने अपनाया है और घनानद ने जिस विषय को त्याग दिया है उसे रसखान ने अपनाया है। सक्षेप मे घनानद मुख्यत अन्तर्वृत्ति के कवि है और रसखान बाह्य वृत्ति के। दोनो की काव्य-प्रतिमा मे यही अन्तर है।

घनानद मे रसखान की अपेक्षा एक विशेषता और है और वह यह कि घनानद को काव्य-शास्त्र का जितना ज्ञान है उतना रसखान को नही है। सयोग का कवि होने पर भी रसखान ने अपने भाव-प्रसरण के लिए अत्यन्त साधारण

विषय चुने है। ब्रज के बन-बाग, करील के कुञ्ज, कालिन्दी-कूल, कदंब के डारन, मुरली और कृष्ण के रूप-लावण्य तक ही उनकी दृष्टि गई है। सयोग-शृङ्गार में कृष्ण-लीलाओ का जो आकर्षण है वह भी उन्हे अधिक प्रभावित नही कर सका है। सौ बात की एक बात यह कि संयोग-वर्णन मे कल्पना का जैसा चमत्कार और कला का जैसा उत्कर्ष कवि मे होना चाहिए वह उनमे नही है। अपने विषय को इस प्रकार सकुचित करने के कारण वह संयोग के कुछ ही सफल चित्र उतार सके है। वियोग का क्षेत्र संयोग के क्षेत्र की अपेक्षा सकुचित होता है। उसमे आह और कराह को ही विशेष रूप से स्थान मिलता है। परन्तु एक भावुक कवि उसे अपनी कल्पना-शक्ति और कला के उत्कर्ष से अधिक विस्तृत कर देता है। घनानंद मे इन विशेषताओ की कमी नही है। वह भावुक हैं, कल्पना-शक्ति से सम्पन्न हैं और कला के उत्कर्ष से परिपूर्ण है। इसलिए वह अपने सीमित क्षेत्र को विस्तृत करने मे भलीभाँति सफल हुये हैं। उन्होने वियोग को सभी बाह्य और आन्तरिक दशाओ का चित्रण किया है। मेघ और पवन दूत की कल्पना की है, उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन किया है और प्राय सभी संचारी भावो को स्थान दिया है। अलकारो की छटा और भाषा की मुहावरे दानी की दृष्टि से भी उनका काव्य रसखान के काव्य से बहुत आगे है।

---

१५ : दीनदयाल गिरि

जन्म-स० १८५९ : मृत्यु-सं० १९१५

जीवन-परिचय

गोस्वामी दीनदयाल गिरि का जन्म शुक्रवार, बसन्त पञ्चमी सम्बत् १८५९ को काशी के गायघाट मुहल्ले मे हुआ था। वह पाठक ब्राह्मण थे। उनके पिता का गुरु-घराना देहली-विनायक के मठ मे रहता था। गोस्वामी कुशागिरि उनके पिताके गुरु थे। वह बड़े विद्वान और कृष्ण-भक्त थे। देहली-विनायक के आस-पास उनकी

भारी जमींदारी थी। साढ़े छः वर्ष की अवस्था मे जब दीनदयाल मातृ-स्नेह से वंचित हो गये तब उनके पिता ने उन्हे अपने गुरु के चरणो मे अर्पित कर छः महीने पश्चात् ही बैकुन्ठ की यात्रा की। इस प्रकार छोटी अवस्था मे ही दीनदयाल अनाथ हो गये। पर ईश्वर की कृपा से उन्हे अनाथो के-से कष्ट नही झेलने पड़े। शिष्य-वत्सल गोस्वामी कुशागिरि ने उनका पालन-पोषण किया और उन्हे पढाया-लिखाया। उनकी देख-रेख मे दीनदयाल ने सस्कृत और हिन्दी-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। थोड़े ही दिनो मे वह कविता करने लगे। बुद्धि प्रखर थी, मठ का जीवन था, साधु-सन्यासियो का सत्सग होता रहता था। इसलिए साहित्य-साधना के साथ साथ उनमे भक्ति और वैराग्य की भावना भी जड पकड़ती गयी। फलत: बीस वर्ष की अवस्था होने पर उन्होने संन्यास ले लिया। इस प्रकार वह गोस्वामी दीनदयाल गिरि हो गये। उनका नाम गुरु का ही रखा हुआ था, इसलिए उनके सन्यास लेने पर नाम-परिवर्तन की आवश्यकता नही पड़ी, केवल गुरु-कुलकी 'गिरि' उपाधि उन्होने ग्रहण की।

दीनदयाल के अतिरिक्त गोस्वामी कुशागिरि के दो और चेले थे : एक शिव अमर गिरि और दूसरे रामदयाल गिरि। जब स० १८९० के लगभग गोस्वामीजी का स्वर्गवास हो गया तब उन दोनो चेलो मे सम्पत्ति के बटवारे के लिए झगड़ा होने लगा। दीनदयाल गिरि ने उन्हे बहुत समझाया-बुझाया, पर उन लोगो पर उनके कहने का कोई प्रभाव न पड़ा। इससे दुखी होकर वह रामेश्वरम् की ओर चले गये और छः मास पश्चात् वहा से लौटने पर मटौली के मठ मे रहने लगे। काशी उन्हे बहुत प्रिय थी। इसलिए वह वहाँ बराबर जाया करते थे और राजघाट पर ठहरते थे। उनकी आमदनी कम थी, फिर भी उन्होने अपने आर्थिक सकटो को दूर करने के लिए किसी राजा का निमन्त्रण स्वीकार नही किया। उस समय के काशी नरेश उन्हे बहुत मानते थे। भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द से भी उनकी अच्छी मित्रता थी। उनके यहाँ वह बराबर आया-जाया करते थे। अपने जीवन के अंतिम दिनो मे वह काशी मे मणिकर्णिका पीठ के निकट एक वृक्ष के नीचे तपस्या मे लीन रहा करते थे। यही पचपन वर्ष की अवस्था मे संवत् १९१५ की निर्जला एकादशी को उन्होने ऐहिक लीला समाप्त की।

गिरिजी की रचनाएँ

दीनदयाल गिरि बचपन से ही काव्य-प्रेमी थे। उनमे विलक्ष प्रतिभा थी। 'दृष्टान्तावली' की स्फुट कविताएँ उन्होने ग्यारह वर्ष की ही अवस्था में लिखी थी। सत्रह वर्ष की अवस्था मे उन्होने पुस्तक-प्रणयन आरम्भ किया। उनका पहला ग्रथ था 'दृष्टात तरंगिणी' (स० १८७९)। यह ग्रथ उन्होने बीस वर्ष की अवस्था मे समाप्त किया था। इस के अध्ययन से यह विश्वास नही होता कि यह बीस वर्ष के एक नवयुवक की लिखी कविता है। परतु वास्तविक बात यह है कि जिसे बाल-कविता कहते है उसे दीनदयाल गिरि ने कभी लिखी ही नही। बाल्यावस्था से ही वह गम्भीर विद्वान् और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी बातें अलकारयुक्त होती थी। बात-बात मे श्लेष, मुद्रालकार, शब्दालकार आदि की वह झड़ी लगा देते थे। वह जन्मजात कवि थे। जिस वर्ष उन्होने 'दृष्टात तरगिणी' की रचना की उसी वर्ष उन्होने 'विश्वनाथ नवरत्न' (स० १८७९) का प्रणयन किया। इसके बाद उन्होंने स० १८८८ मे 'अनुराग बाग', स० १९०६ में 'वैराग्यदिनेश' और स० १९१२ मे 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' की रचना की। इस सूची के अनुसार उनका कविता-काल स० १८७९ से स० १९१२ तक माना जाता है।

गिरिजी की काव्य-साधना

बाबा दीनदयाल गिरि की काव्य-साधना के सबंध मे रीवॉ-नरेश महाराज रघुराज सिह (स० १८८०-१९३६) ने यह दोहा कहा है—

'सुकवि जहाँ लगि जगत मे, भए होहिंगे और।
करि बिचारि मै दीख अब, तुम सबके सिर मौर ॥'

रीवाँ-नरेश के इस कथन मे, सभव है, कुछ अत्युक्ति हो, परन्तु इसमें सन्देश नही कि बाबाजी शृङ्गार-काल के अतिम और उच्च कोटि के कवि थे। अलकार, रस और सस्कृत-साहित्य का उन्होने गंभीर अध्ययन किया था। हिन्दी-साहित्य से भी उनका अच्छा परिचय था। बचपन से ही उनके तीन काम थे—भजन-कीर्तन करना, अध्ययन करना और कविता करना। वह वीतरागी थे। ससार के समस्त प्रलोभनो से दूर रहकर उन्होने हिन्दी की सेवा की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे जिन काव्य-प्रवृत्तियो ने शृङ्गार-काल को जन्म दिया था। उन पर

उन्होंने अध्यात्म की ऐसी गहरी मुद्रा अकित की कि उन्हे फिर उभरने का अवसर नही मिला। वह जैसे तपस्वी, त्यागी, दानी, ज्ञानी और नीतिज्ञ थे उसी के अनुरूप उन्होने कविता का शृङ्गार किया। वह लक्षण-ग्रंथ की रचना कर सकते थे, परन्तु इस विषयो की ओर उन्होने ध्यान नही दिया। कविता करने मे उनका उद्देश्य था—मानव-आत्मा का सस्कार। इसलिए उन्होने उन्ही बातो को अपने काव्य का विषय बनाया जो उनके इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो सकती थी। उन्होने नीति-सबधी दोहे लिखे, 'विश्वनाथ-नवरत्न' मे उन्होने शिव की वन्दना की, 'अनुराग-बाग' मे राधा और कृष्ण की लीलाओ का मर्यादापूर्ण चित्रण किया, 'वैराग्य दिनेश' मे अपने दार्शनिक विचारो को स्थान दिया और 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' मे अन्योक्ति के माध्यम से अनेक प्रकार की जीवनोपयोगी नीति-शिक्षा का विधान किया। हिन्दी-काव्य मे उनका यह अतिम ग्रथ ही उनकी ख्याति का कारण है।

'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' गिरिजी की अमर रचना हैं। हिन्दी मे अन्योक्ति का यह पहला और अतिम ग्रथ है। इसे यदि हिन्दी का अन्योक्ति-कोष कहा जाय तो अनुचित न होगा। विविध विषयो पर एक साथ जितनी और जैसी सुन्दर अन्योक्तियाँ इसमे मिलती हैं वैसी और उतनी हिन्दी के किसी भी काव्य-ग्रथ मे नही है। सच तो यह है कि अन्योक्ति के माध्यम से नीति की शिक्षा देना हर एक का काम नही है और वह भी कुँडलिया छद मे। बिहारी, रहीम आदि हिंदी के अन्योक्तिकार कहे जाते है, परन्तु उनकी अन्योक्तियाँ मे वह काव्य-सौदर्य नही है जो बाबाजी की अन्योक्तियो मे पाया जाता है। दोहो मे अन्योक्ति का चमत्कार तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु भाव-प्रसरण के लिए उनमे अधिक गुजाइश नही होती। गिरिजी ने कुंडलिया मे अन्योक्ति का विधान कर इस अभाव की पूर्ति कर दी है। कुंडलिया के अतिरिक्त रोला और कवित्त मे भी उन्होने अन्योक्ति का चमत्कार दिखाया है।

अलंकार-शास्त्र मे अन्योक्ति व्यग्य-मूलक अलकार माना गया है। जिस प्रकार सादृश्य दिखाने के लिए काव्य मे उपमा-मूलक अलकारो का प्रयोग होता है उसी तरह, 'कही बात किसी को बुरी न मालूम हो', इस अभिप्राय से व्यग्य-मूलक अलंकारो का प्रयोग होता है। अन्योक्ति इसलिए व्यग्य-मूलक अलकार

शुष्कता और कोरा उपदेश देने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए वह रुचिकर नही होता। 'दृष्टान्त तरंगिणी' मे सगृहीत नीति के दोहे इसी शैली के हैं। उदाहरण लीजिए —

'पराधीनता दुख महा, सुख जग में स्वाधीन।
सुखी रमत सुक बन बिषै, कनक पींजरे दीन ।।'

परन्तु जब यही नीति-शिक्षा विशेष रीति से अर्थात् अनुभूतियो के आधार पर दी जाती है तब उसका पाठक के हृदय पर तुरन्त स्थाई प्रभाव पड़ता है। विशेष रीति से नीति की शिक्षा देना अन्योक्ति-द्वारा ही सम्भव है। इसलिए नीति की शिक्षा देनेवाले कुशल कवि इसी का सहारा लेते है। यहाँ कुशल कवि से तात्पर्य उस कवि से है जिसके पास निजी अनुभूतियो की अतुल सम्पत्ति है। अन्योक्तिया अनुभूति की अपेक्षा रखती है। इसके अभाव मे अन्योक्तियो की रचना हो ही नही सकती। साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब किसी व्यक्ति के क्षुद्र व्यवहार से हम मर्माहत होगे तभी हम उसे उपदेश देने के अधिकारी होगे। मर्माहत हुए बिना उपदेश देना तो 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली कहावत को चरितार्थ करना मात्र है। सामान्य रीति से दिये गए उपदेश प्रायः इसी प्रकार के होते है। उपदेश देने की यह रीति कृत्रिम है, स्वाभाविक नही। स्वाभाविक तो यह तभी होती है जब यह अपने आप, बिना किसी श्रम और चिन्तन के, हृदय से निकल पड़ती है। अन्योक्ति-द्वारा दिये गए उपदेश ऐसे ही स्वाभाविक होते है। गिरिजी की अन्योक्तियो मे इन दोनो विशेषताओ का पर्याप्त सामंजस्य दिखाई देता है। उनकी सभी अन्योक्तियाँ अनुभूतियो से अनुप्राणित हैं और उनमे उनका स्वाभाविक चित्रण मिलता है। एक उदाहरण लीजिए :—

'जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो कियो प्रभंजन नाम ।।
कियो प्रभंजन नाम बड़ो कृतघन बर जोरी।
जब-जब लगी दवागि दियो तब झोंकि झकोरो ।।
बरनै दीनदयाल सेउ अब खल! थल मरु को।
लै सुख शीतल छाह तासु तोर्‌यो जिन तरु को ।।

कृतघ्न के चरित्र की यह कितनी सुन्दर और स्वाभाविक आलोचना है। कृतघ्न जिस पत्तल मे खाता है, उसी मे छेद करता है। अंत मे उसे अपने इस दुर्व्यवहार के लिए दण्ड भी भोगना पड़ता है। इन सारी बातो का निर्वाह इस अन्योक्ति मे अत्यत सफलतापूर्वक किया गया है।

गिरिजी ने कुछ अध्यात्मपरक अन्योक्तियाँ भी लिखी है। इन्हे हम रहस्य-वादी रचनाएँ कह सकते है। हिंदी मे रहस्यवादी कवियो की दो श्रेणियाँ मिलती है : एक तो वे जो साधक है और दूसरे वे जो कवि हैं। कबीर, जायसी, मीराँ, सूर आदि का नाम पहली श्रेणी मे लिया जा सकता है और प्रसाद, पत, निराला आदि का दूसरी श्रेणी मे। बाबा दीनदयाल गिरि पहली श्रेणी मे ही आते है। उनका रहस्यवाद कबीर और मीराँ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हिंदी-काव्य मे रहस्यवाद के दो रूप मिलते है : (१) दार्शनिकता-प्रधान और (२) भावना-प्रधान। दार्शनिकता-प्रधान रहस्यवाद माथा पच्ची करनेवाला होता है। उसमें आत्मा, परमात्मा आदि की चर्चा बहुत ऊँचे स्तर पर की जाती है। इसलिए वह गभीर होता है। इसके विरुद्ध भावना प्रधान रहस्यवाद मे दार्शनिकता और काव्यत्व का सुन्दर सामंजस्य रहता है। इसकी भी दो शैलियाँ हैं : (१) सूफी शैली और (२) भारतीय शैली। सूफी शैली के भावना-प्रधान रहस्यवाद मे प्रेमी (आत्मा) प्रेमिका (परमात्मा) भाव से भक्ति की जाती है और भारतीय शैली के भावना-प्रधान रहस्यवाव मे पत्नी (आत्मा) पति (परमात्मा) भाव से भक्ति की जाती है। गिरिजी का भावना-प्रधान रहस्यवाद इसी दूसरी शैली का है। एक उदाहरण लीजिए :—

'पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पौंह।
रीतो घट लै कर चली उतै मारिहै नाह॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि उत्तर दैहै।
रोय-रोय पति खोय फेरि सर पर फिरि ऐहै॥
बरनै दीनदयाल इतै हँसिहैं सब नारी।
ख्वारी दुहुँ दिस परी अरी ग्वारी पनिहारी॥'

गिरिजी ने अपनी इस अन्योक्ति में आत्मा को 'पनिहारिन' बनाकर आवा-

गमन के प्रसिद्ध सिद्धात का बडी सुन्दरता से समर्थन किया है। एक और अन्योक्ति लीजिए जिसमे गिरिजी ने अद्वैतवाद का समर्थन बड़ी खूबी से किया है :—

'चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहि रैनि विछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हँस सन्दोह॥
सुहृद हँस सन्दोह कोह अरु दोह न जाको।
भोगत सुख-अम्बोह मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥'

गिरिजी की रहस्य-भावना के ये उत्कृष्ट उदाहरण है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनमे काव्यत्व के अधिक आग्रह के कारण दार्शनिकता की व्यजना मे बाधा पड़ गई है। परतु ऐसी अन्योक्तियाँ कम ही है। उनकी जिन अन्योक्तियो मे रहस्य-भावना का सतुलित चित्रण हुआ है उनमे भाषा, माधुर्य भाव और दार्शनिक विचार का सुन्दर सामजस्य दीख पडता है। इस दिशा मे वह हिंदी के किसी रहस्यवादी कवि से पीछे नही हैं।

गिरिजी ने कृष्ण काव्य भी लिखा है। परतु उनका कृष्ण-काव्य शृङ्गार-काल के कवियो का कृष्ण-काव्य नही है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे राधा कृष्ण की भक्ति भावना मे डूबकर लिखा है। 'अनुराग बाग' से यह उदाहरण लीजिए :—

'छोड़्यो गृह-काज, कुल लाज को समाज सबै,
　　एक ब्रजराज सों कियो री प्रीतिपन है।
रहत सदाई सुखदाई पद-पकज मै,
　　चचरीक नाई भई छाँड़े नाहि छन है॥
रतिपति-मूरति विमोहन को नेम धरि,
　　लिखै प्रेम-रंग भरि मति के सदन है।
कुँअर कन्हाई की लुनाई लखि माई मेरी,
　　चेरी भई चित औ चितोरो भयो मन है॥'

गिरिजी की शैली

गिरिजी ने मुक्तक काव्य लिखा है। मुक्तक काव्य दो प्रकार का होता है : (१) पाठ्य और (२) गेय। गिरिजी का मुक्तक काव्य पाठ्य है। उसका आनन्द पढ़कर ही प्राप्त किया जा सकता है। कुण्डलिया, रोला, कवित्त, सवैया, दोहा, और मालिनी गिरिजी के मुख्य छद है। दोहा के अतिरिक्त शेष छद भाव विस्तार के लिए अधिक उपयुक्त होते है। इसलिए इन छदो मे गिरिजी की व्यास-शैली पाई जाती है। गिरिजी मे कथन का सकोच नही है। वह थोड़े मे कहना नही जानते। उनकी प्रवृत्ति उपदेशात्मक है। दूसरो के बहाने उपदेश देने के कारण उनकी शैली व्यंगात्मक हो गई है। इस शैली के वह अद्वितीय कवि हैं। इसका सफल प्रयोग अन्योक्ति मे ही होता है। अन्योक्ति-द्वारा दिया गया उपदेश प्रभावोत्पादक और स्थाई होता है। गिरिजी की अन्योक्तियो मे उनकी कथन-शैली इतनी आकर्षक है कि पाठक के हृदय पर उसका अचूक प्रभाव पड़ता है।

गिरिजी ने दो ही रस अपनाये है। (१) शात रस और (२) शृङ्गार रस। उनकी अधिकाश रचनाएँ शात रस मे है। अपने कृष्ण-काव्य मे उन्होने शृङ्गार रस को स्थान दिया है। इसमे शृङ्गार के सयोग पक्ष का अच्छा चित्रण हुआ है। अपने संत-स्वभाव के कारण गिरिजी ने शात रस को ही मुख्यत अपनाया है। कुछ रचनाओ मे शृङ्गार और शात, दो विरोधी रसो का बहुत ही सुन्दर समिश्रण हुआ है। एक उदाहरण लीजिए :—

> 'भूलै जोबन के न मद अरी बावरी बाम।
> यह नैहर दिन चार को अन्त कन्त सो काम॥
> अंत कत सों काम तत सबही तजि दै री।
> जातें रीझै नाह नेह नव तापै कै री।
> बरनै दीन दयाल भूष भूषन अनुकूलै।
> चाल पिय-गेह सनेह साजि लखि देह न भूलै॥'

गिरिजी की रचनाएँ अनुभूति-प्रधान है। किन्तु इसके साथ ही उनमे कला का चमत्कार भी है। उनकी कला उनकी भाव-व्यजना को तीव्रतर करने मे सहायक है। भाषा की कला उनमे नही है, पर अलकारो के समुचित प्रयोग द्वारा

भावो को सँजाने-सँवारने और उन्हे पाठक के हृदय मे उतारने की कला उनमें अवश्य है। अपनी अन्योक्तियो मे उन्होने उपमा, रूपक, श्लेष, गूढोक्ति, पर्यायोक्ति, रूप का विशयोक्ति, अर्थान्तिरन्यास आदि का जैसा सुन्दर और काव्योचित चमत्कार दिखाया है वैसा बहुत कम कवियो की रचनाओ मे देखने को मिलता है। वह सन्यासी तो थे ही, काव्य-कला-मर्मज्ञ भी थे। अलकार-शास्त्र का जैसा ज्ञान उन्हें था, वैसा उस समय के किसी हिन्दी-कवि को नही था। फिर भी उन्होने अपनी रचनाओ मे अपने पाडित्य को स्थान नही दिया। यही उनकी शैली की परम विशेषता है और इसीलिए उनकी शैली सरल, स्वाभाविक और भावपरक है।

गिरिजी की भाषा

ब्रजभाषा के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी मे तीन प्रकार के कवि मिलते हैं। एक तो वे जिन्होने ब्रज से सपर्क स्थापित कर ब्रजभाषा मे कविता की है; दूसरे वे जिन्होने अध्ययन-द्वारा ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त कर ब्रजभाषा मे कविता की है और तीसरे वे जिन्होने अपने आचार्यत्व के बल पर ब्रजभाषा मे कविता की है। गिरिजी इसी तीसरी श्रेणी मे आते है। उनकी भाषा है तो ब्रजभाषा, पर उसमे ब्रजभाषा का-सा माधुर्य नही है। सस्कृतज्ञत होने के कारण ब्रजभाषा पर उनका वह अधिकार नही दिखाई देता जो बिहारी अथवा घनानन्द को अपनी भाषा पर है। बिहारी आदि की ब्रजभाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। गिरिजी की ब्रजभाषा साहित्यिक होते हुए भी मधुर नही है।

गिरिजी ने अपनी ब्रजभाषा मे तीन भाषाओ के शब्दो का प्रयोग किया है: (१) सस्कृति, (२) बनारसी और (३) अरबी-फारसी। उनकी भाषा मे सस्कृति के तत्सम और तद्भव—दोनो प्रकार के शब्द मिलते है। इसके बाद बनारसी बोली के शब्दों का मेल है। अनेरै, भरुपाय, काहल, फोकट, कुल्हिया, धोनी, चाली, जट आदि ठेठ बनारसी शब्दो के प्रयोग से उनकी भाषा का रूप बिगड़ा अवश्य है, पर उनकी भाव-व्यंजना पर आघात नही हुआ है। इसी प्रकार कही-कही फारसी-अरबी के शब्द भी उनकी रचनाओ मे प्रयुक्त हुए है। जहान, ख्वारी, कीमति, दिल, सान, सोर, लायक, इतबार, कागद, सराय, ऐब, दरद आदि ऐसे ही शब्द है, परन्तु ये शब्द अपने तद्भव रूप मे ही प्रयुक्त हुए है। कही-कही गिरिजी ने नये मुहावरे

भी गढ़े है; जैसे—'बज्यो नाम' 'क्रीट करे' आदि। ऐसे मुहावरो के प्रयोग से भाषा के प्रवाह मे बाधा पड़ गयी है। 'सोर' का बहुवचन 'सौरैं' भी उन्होने बना लिया है। उन्होने सस्कृत के कुछ ऐसे शब्दो का भी प्रयोग किया है जो हिन्दी मे उसी अर्थ मे प्रयुक्त नही होते। इसलिए उनकी रचना मे 'अप्रयुक्त दोष' भी आ गया है। कही-कही शब्द भी तोड़े-मरोड़े गये है। तात्पर्य यह कि गिरिजी की भाषा न तो शुद्ध है और न प्रौढ। इसके दो ही मुख्य कारण जान पड़ते हैं एक तो उनका बनारसीपन और दूसरा उनका पाडित्य। इन दोनो प्रभावो से उनकी भाषा नही बच सकी है। इन त्रुटियो के होने पर भी उनकी भाषा सरल, सुबोध और प्रसाद गुण-युक्त है। उनकी शृङ्गार रस की रचनाओ मे ब्रजभाषा का माधुर्य भी छलक पड़ा हैं और उनमे भाषा का प्रवाह भी है।

---

१६ : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म-स० १६०७ मृत्यु-स० १६४१

जीवन-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल, ऋषि-सप्तमी, स० १९०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ-परिवार मे हुआ था। उनके पिता का नाम गोपालचद (स० १८९०-१९१७) था। गोपालचंद वैष्णव थे और ब्रजभाषा मे कविता करते थे। उनका उपनाम 'गिरिधरदास' था। उन्होने ४० ग्रथ लिखे थे। ऐसे पिता के पुत्र भारतेन्दु बड़े प्रतिभाशाली बालक थे। बचपन मे वह अत्यन्त नटखट थे। दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था मे ही वह मातृ-स्नेह से वचित हो गये। ९ वर्ष की अवस्था मे उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इसके बाद ही उनके पिता भी उन्हे अकेला छोड़कर चल बसे। इस प्रकार आरम्भ ही से माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन मे प्रवेश किया।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अंगरेजी पढ़ाने के

लिए एक शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी वह एक मौलवी से पढते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वीस कालेज मे प्रविष्ठ हुए, पर वहाँ उनका जी न लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रति-दिन उनकी अभिरुचि बढती जा रही थी, इसलिए अधिक दिनो तक उनका नियमित रूप से पढना लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था मे लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नोदेवी से उनका विवाह हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था मे सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की। इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। यात्रा से लौटने पर उन्होने साहित्य और समाज की सेवा का भार अपने ऊपर लिया। वह अध्ययनशील थे। धीरे-धीरे वह अग्रेजी और उर्दू के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, बँगला तथा सस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हो गये। उन्होने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की तथा कई पत्र-पत्रिकाओ को जन्म दिया। उन्होने कुछ परीक्षाएँ भी नियत की जिनमे उत्तीर्ण होने पर बालको को वह स्वय पारितोषिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज उन्ही का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारो से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, तुक्कड सभी उन्हे जानते थे और उनके दरबार मे सम्मान पाते थे राजा से रक तक उनकी मित्र-मंडली मे थे। इन साहित्य-सेवियो मे वह सर्वोपरि थे। हिन्दी-साहित्य की नौका के वही प्रमुख माँझी थे। साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने मे उन्ही का हाथ रहता था। उनके पास लक्ष्मी थी, पर सरस्वती की सेवा मे उन्होने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया। धन का मोह उनके साहित्य-प्रेम मे कभी बाधक नही हुआ। साहित्य की उन्नति के लिए जिसने जब जो माँगा, उन्होने मुक्तहस्त होकर दान किया। दीन-दुखियो के लिए भी उनका दरबार बराबर खुला रहता था। उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई, गोकुलचन्द्र, ने समस्त जायदाद का बँटवारा करा लिया।

जायदाद का बटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दानशीलता मे में किसी प्रकार की कमी नही आई। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनो में

उन पर काफी ऋण हो गया। ऋण-मुक्त होने में उनकी बहुव-सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल मे ही निकल गई। इससे उन्हे कुछ मानसिक कष्ट रहने लगा। अत मे उन्हे क्षय रोग हो गया। इस रोग से वह मुक्त न हो सके। डाक्टरो, वैद्यो और हकीमो की चिकित्सा मृत्यु के अभिशाप से उनकी रक्षा न कर सकी। इस प्रकार माघ कृष्ण ६, स० १९४१ को हिन्दी-साहित्य का वह दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाओ की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। अपने १६-१७ वर्ष के साहित्यिक जीवन मे उन्होने हिन्दी-साहित्य का जो दान किया उसका एक-एक शब्द महत्वपूर्ण है। उनकी रचनाओ से ही हिन्दी-साहित्य का आधुनिक इति-हास आरभ हाता है। आधुनिक युग के वह प्रथम नाटककार, निबधकार, पत्रकार, आलोचक और कवि हैं। नाटक और बतिहास के अतिरक्त काशी-नगरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित भारतेन्दु-ग्रथावली द्वितीय भाग मे उनकी सभी छोटी बड़ी कविता-पुस्तकें सगृहीत है। इनमे से भक्त सर्वस्त (स० १९२७), प्रेम-मालिका (स० १९२८), कार्त्तिकस्नान (स० १९२९), वैसाख-महात्य्य (सं० १९२९), प्रेम-सरोवर (स० १९३०), प्रेमाश्रु-वर्षण (स० १९३०), जैन-कुतूहल (सं० १९३४), उत्तरार्द्ध भक्तमाल (स० १९३४), प्रम-प्रलाप (सं० १९३४),गीत गाविंदानद (सं० १९३५), सतसई-सिंगार (स १९३५), होली (स० १९३६), मधु मुकुल (सं० १९३७), राग-सग्रह (स० १९३७), वर्षा-विनोद (स० १९३७), विनय-प्रेम-पचासा (सं० १९३८) फूलो का गुच्छा (स० १९३९), प्रेम-फुलवारी (स० १९४०), कृष्ण-चरित्र (स० १९४०) आदि प्रमुख है। इन काव्य-पुस्तको के अविरिक्त अनेक छोटी-बड़ी कविवाएँ भी हैं जिनमे से कुछ सामयिक, कुछ धार्मिक और कुछ साहित्यिक है।

भारतेन्दु का समय

भारतेन्दु का समय दो शक्तियो के सघर्ष का युग था। एक ओर पराजित और शोषित हिन्दू-मुसलमान थे और दूसरी ओर साम्राज्यवादी प्रभुता के उपासक अगरेज। सं० १९१४ का प्रथम स्ववत्रता-संग्राम शात हो चुका था और सपूर्ण

भारत पर अंगरेजी शासन का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। उद्योग-धंधे नष्ट हो गये थे और नये-नये कानून बनाकर भारतीय जनता की ही नहीं; देशी नरेशो की आजादी पर भी कुठाराघात हो रहा था। नये-नये कर लगाये जा रहे थे, धन का अपहरण हो रहा था और बेकारी बढती जा रही थी। इस प्रकार देश मे राजनीतिक ह्रास के साथ-साथ आर्थिक ह्रास भी आरभ हो गया था।

अगरेज अपने देश से अपनी शासन-नीति और व्यापार-पद्धति ही साथ नही लाये थे, वे अपनी भाषा, अपना साहित्य, अपनी वेश-भूषा, अपनी-सभ्यता-सस्कृति और अपना धर्म भी अपने साथ लाये थे। इन बातो के प्रचार मे उन्होने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से तो भारत अगरेजो का गुलाम हो ही चुका था, अब उसे साँस्कृतिक दृष्टि से भी गुलाम बनाने की चेष्टा की जाने लगी। स्कूल खोले गये और उनमे अगरेजी भाषा की शिक्षा दी जाने लगी। इन स्कूलो मे पढनेवाले विद्यार्थियो पर अगरेजी सभ्यता का रग चढने लगा। उन्हे अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपने धर्म के प्रति अरुचि होने लगी। कचहरियो मे अगरेजी का बोल-बाला होने से सबका ध्यान उसी ओर आकृष्ट हो गया और इस बहाने से भी देश को अधिक धन पश्चिम के प्रकाशको के जेब मे पहुँचने लगा।

किसी देश का राजनीतिक, आर्थिक, और साहित्यिक दृष्टि से पतन होने पर उसकी सामाजिक दशा भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। भारतीय समाज की भी यही दशा होने लगी। उसमे अनेक प्रकार के आडम्बरो और पाखंडो ने प्रवेश कर उसका संगठन शिथिल कर दिया और सामाजिक मूल्य नष्ट होने लगे। ईसाई-पादरियो ने भारतीय समाज की इस स्थिति से लाभ उठाकर बड़ी तेजी से अपना धर्म-प्रचार-कार्य आरभ कर दिया। इसके प्रभाव से बहुत से लोग ईसाई हो गये।

यह देखकर भारतीयो का ध्यान तत्कालीन समस्याओ की ओर आकृष्ट हुआ। राजनीति का क्षेत्र खतरे से खाली नही था। इसलिए उन्होने सामाजिक समस्याओ को ही सुलझाने की ओर कदम उठाया। बगाल मे राजा राममोहन राय (सं० १८२९-९०), उत्तरप्रदेश मे तथा पजाब मे स्वामी दयानन्द (सं० १८८१-१९४०) तथा दक्षिण मे महादेव गोविन्द रानडे (सं० १८९९-१९५८) ने अपने-अपने

सामाजिक आदोलन आरभ कर दिये। इन आन्दोलनो के फलस्वरूप देश-प्रेम और साहित्य-प्रेम की भावना भी लोगो मे जागृत हुई। प्रेस की सुविधा हो जाने से मराठी, गुजराती, बगला आदि प्रादेशिक भाषाओं मे नयी-नयी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी और उनमे दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगी। साहित्य की इस प्रारभिक प्रगति मे भारतेन्दु ने हिन्दी के प्रचार का बीड़ा उठाया और उसे उन्होने अपने जीवन के १६-१७ वर्षों मे सशक्त बना दिया। उनकी सेवाओ के कारण ही उनका युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'भारतेन्दु-युग' कहा जाता है।

भारतेन्दु युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे नव जागरण का युग माना जाता है। इस युग से शृङ्गार-काल की परम्पराओ का अन्त और नवीन प्रवृत्तियो का आरभ होता है। सन् सत्तावन की क्राति इस युग की जननी है। भारतीय साहित्य मे यह घटना आधी की तरह आई और आँधी की तरह ही निकल गयी; पर इसने प्रत्येक समाज की नस-नस को हिला दिया। मानव-हृदय मे जो भावनाएँ सुषुप्त थी उन्हे इसने जगा दिया। देश का कोना-कोना नई चेतनाओ से, नई स्फूर्तियो से क्रियाशील हो गया। इस जागरण के अनुकूल साहित्य का शृङ्गार करना भारतेन्दु-युग का काम था। भारतेन्दु-युगने साहित्य के मर्म को पहिचाना। उसने यह समझा कि जिस देश का साहित्य नष्ट हो जाता है वह देश फिर उठ नही सकता। उस समय हिन्दी-साहित्य की शोचनीय दशा थी। वह अतिम साँस ले रहा था। उसका कोई पुर्सा-हाल नही था। जो इने-गिने थे भी वे अपने घर मे बैठे हुये ही हिन्दी-साहित्य-सेवी होने का दम भर रहे थे। ऐसी स्थिति मे भारतेन्दु-युग ने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के उद्धार का बीड़ा उठाया और उसे नई चेतनाओ के सम्पर्क मे लाकर उसे पुनर्जीवन प्रदान किया।

भारतेन्दु-युग के साहित्य-सेवियो के दो काम थे (१) हिन्दी-भाषा का प्रचार और (२) हिन्दी-साहित्य मे जन-जीवन की समस्याओं का चित्रण। शृङ्गार काल का साहित्य एकागी था। दरबारी कवियो के हाथो मे पड़कर जन-जीवन की समस्याओ से उसका सबध टूट गया था। इससे हिंदी-साहित्य के उत्थान का मार्ग

तो रुका ही, हिंदी-भाषा का प्रचार भी रुक गया। हिंदी का अध्ययन-अध्यापन केवल धर्म-भावना-प्रधान रचनाओ—रामायण और सूरसागर आदि—तक ही सीमित हो गया। अँगरेजी-शासन ने तो इस पर भी कुठाराघात किया। हिंदी और उसके साहित्य के प्रति लोगो का जो आदर-भाव बना हुआ था वह भी धीरे-धीरे शिथिल होने लगा। भारतेन्दु-युग ने इस कमजोरी को पहचाना। इसलिए उसने हिंदी सेवियो की एक टोली तैयार की। इस टोली के सभी साहित्यकारो ने साहित्य के परिमार्जन एव परिवर्धनमे प्रशसनीय सहयोग दिया। इस प्रकार इस युग मे साहित्य का इस टोली द्वारा ही पुनर्जीवन हुआ। भारतेन्दु इस टोली के केन्द्र थे। उन्ही के घर पर लेखको और कवियो की बैठक होती थी। ऐसी बैठको मे हिंदी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओ पर वाद-विवाद होता था और नवीन रचनाओ पर टीका-टिप्पणी होती थी। यद्यपि उस समय की और आज की आलोचना में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि उसमे व्यक्तिगत द्वेष की भावना नही थी। प्रत्येक कवि और लेखक अपने सम्बन्ध मे की गई आलोचना को सहर्ष स्वीकार करता था और उसके आलोक मे अपनी साहित्य-साधना का मार्ग निश्चित करता था। भाषा का परिमार्जन और सस्कार, काव्य-शैलियो की नवीनतम रूप-रेखा, काव्य-विषयो की छान-बीन आदि के निरूपण मे सबका मत एक था।

भारतेन्दु-युग ने हिंदी-भाषा और उसके साहित्य का जन-जीवन के साथ सपर्क स्थापित करने के लिए दो विधियो से काम लिया। हिंदी भाषा का प्रचार करने के लिए समाचार-पत्र निकाले गये और हिंदी-साहित्य के उत्थान के लिए जीवन के नये मूल्यो के अनुकूल उपन्यास, नाटक, निबध, इतिहास, पौराणिक आख्यान, लोक-गीति, विभिन्न राग-रागिनियो के भक्ति-भावना-प्रधान पद आदि की रचना की गई। रगमंच की स्थापना की गई और कई नाटको के सफल अभिनय भी हुये। साहित्य के इन सभी अंगो मे धर्म, समाज और देश की तत्कालीन आवश्यकताओ का एक साथ चित्रण किया गया। इससे जनता का ध्यान अपनी समस्याओ की ओर गया और वह उन्हे सुलझाने के लिए सचेष्ट होने लगी। हिंदी-खड़ी बोली जो अब तक कुछ पुस्तको तक ही सीमित थी, जनता के सम्पर्क मे आ गई और उसके माध्यम से लोग अपने विचार व्यक्त करने लगे। इस प्रकार धीरे-

धीरे हिंदी के प्रति जनता की कुण्ठा दूर हो गई और फिर हिंदी के सस्कार और उसके साहित्य के प्रसार का भार जनताने स्वयं अपने कधो पर उठा लिया।

भारतेन्दु की काव्य-साधना

भारतेन्दु अपने समय के उच्च कोटि के साहित्यकार थे। सोचकर लिखना तो वह जानते ही न थे। वह जो कुछ लिखते थे, धारा प्रवाह लिखते थे। क्या गद्य और क्या पद्य—सबमे उनकी समान पहुँच थी। भावुकता उनमे इतनी अधिक थी कि उसका उद्रेक होने पर वह जो कुछ लिखते थे वह साहित्य ही होता था। कविता और नाटक के क्षेत्र मे उस समय उनकी टक्कर का कोई साहित्यकार नही था। हिंदी-नाटक के वह जन्म-दाता थे। उनकी प्रेरणा से कई नाटक लिखे गये और खेले भी गये। कविता तो वह चलते-फिरते करते थे। भावावेश मे उनकी लेखनी से कविता ही निकलती थी। सच पूछिए तो उनका जीवन ही काव्यमय था। उर्दू, हिंदी, बगला—वह सबमे कविता कर सकते थे।

भारतेन्दु सधिकाल के कवि थे। इसलिए हमे उनके काव्य मे प्राचीन और नवीन—दो स्पष्ट धाराएँ दीख पड़ती है। प्राचीन धारा के काव्य मे उन्होने भक्ति कालीन और शृङ्गार कालीन प्रवृत्तियो को स्थान दिया है और नवीन धारा के काव्य मे देश की आर्थिक और सामाजिक समस्याओ को। इस दृष्टि से हम उनके सपूर्ण काव्य को मोटे तौर पर पाँच भागो मे विभाजित कर सकते है जिनका परिचय सक्षेप मे इस प्रकार है :—

(१) **भक्ति-प्रधान रचनाएँ**—भारतेन्दु पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। इससे उनकी कविता का अधिक भाग कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आता है। कृष्ण-काव्य के जितने भी अग है, उन सब पर उन्होने कुछ-न कुछ लिखा है। अपने कई पदो मे उन्होने बल्लभाचार्य और विट्ठलनाथजी के प्रति अपनी भावना प्रकट की है —

'जे निस दिन श्री बिठल, बिठल, बिठल ही मुख भाखैं।
'हरीचन्द' तिनके पद की रज हम अपने सिर राखैं॥'

* * *

'हम तो मोल लिये या घर के,
दास-दास श्रीवल्लभ-कुल के, चाकर राधावर के।'

भारतेन्दु का भक्ति-साहित्य गीति-काव्य की श्रेणी मे आता है। इसके अंतर्गत हमे लगभग डेढ हजार पद मिलते है। इतने सुन्दर पद इतनी बडी सख्या मे अष्टछाप के कवियो के पश्चात् भारतेन्दु ही ने लिखे है। इन पदो का विषय राधा-कृष्ण-लीला है, पर अन्य विषयो का भी समावेश कुछ पदो मे हुआ है। भक्ति, विनय, दैन्य, होली, बसत, फाग, वर्षा आदि का वर्णन भी उनके पदो मे पाया जाता है। भारतेन्दु का समस्त कृष्ण-काव्य सूर के काव्य के आधार पर खड़ा है। वही विषय वही भाषा, वही दैन्य, वही भाव-भगिमा। देखिए :—

'ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै।
'गोपी-पद पकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥'

* * *

'छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात हैं, घूँघट मैं न खगे॥'

* * *

प्रभु हो! कब लौं नाच नचैहौ?
अपने जन के निलज तमासे कब लौं जगहिं दिखैहौ॥'

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि भारतेन्दु अपने कृष्ण-काव्य मे सूर की शैली से अत्यधिक प्रभावित है और उसी के अनुकूल उनकी पद-योजना हुई है। सत-कवियो की शैली मे भी उन्होने लिखा है, लेकिन वह अपेक्षाकृत कम है :—

'हरिमाया मटियारी ने क्या अजब सराय बसाई है।
जिसमें आकर बसते ही सब जग की मत बौराई है॥'

* * *

'यारो एक दिन मौत जरूर।
फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नसे में चूर॥'

इस प्रकार के पद भारतेन्दु की भक्ति-भावना के विषय नही हैं। इनकी

रचना मे उनका मन भी नही लगा है। राधा के भक्त को ऐसे पदो से क्या काम ? इसलिए उनकी ऐसी रचनाएँ परम्परा-पालन मात्र है।

(२) **शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ**—भारतेन्दु की शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ प्रायः कवित्त और सवैये मे पाई जाती है। उनके कवित्त और सवैये प्रेम की गहन अनुभूति से भरे है। इस दृष्टि से वह घनानन्द और रसखान की श्रेणी मे आते हैं। उनके काव्य का विषय है, राधा-कृष्ण का प्रेम। उनके काव्य में इस प्रेम की सरिता का अजस्र प्रवाह है। उनकी कुछ काव्य-पुस्तको का प्रणयन ही प्रेम के नाम से हुआ है। 'प्रेम-फुलवारी', 'प्रेम-तरग' आदि काव्य-ग्रथ प्रेम की उदात्त वृत्तियो से भरे पड़े हैं। इनमे उनकी प्रेम-भावना सयत और शिष्ट है। उन्होने प्रेम के दोनो पक्षो—सयोग और वियोग—का सुन्दर चित्रण किया है, लेकिन सयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रण मे उन्हे अधिक सफलता मिली है। वियोग की सभी दशाओ का चित्रण उन्होने किया है। कृष्ण के वियोग मे एक गोपी की दशा का यह चित्र लीजिए :—

'थाकी गति अंगन की, मति परि गइ मन्द,
सूख झाँझरी-सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥'
हरीचन्द रावरे विरह जग दुख भयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैन हू अथान लागे,
आओ प्राननाथ ? अब प्रान लागे मुरझान॥'

वियोग मे आँखो की दशा का अनेक कवियो ने वर्णन किया है। इस संबंध में भारतेन्दु का भी उक्ति-चमत्कार देखिए —

'इन दुखियान को न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी॥
यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औध जो पै—
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी।

देख्यौ एक बार हू न नैंन भरि तोहिं याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजौ आखैं ये खुली ही रहि जाँगी ॥'

भारतेन्दु का वियोग-वर्णन अधिकाँश शास्त्रीय है। उसमे हृदय की गहन अनुभूति का अभाव है। श्रृङ्गार कालीन कवियो ने अपने वियोग-वर्णन मे उक्ति-चमत्कार आदि का जैसा विधान किया है उसी से मिलता-जुलता विधान भारतेन्दु के वियोग-वर्णन मे पाया जाता है।

(३) **देश-प्रेम-प्रधान-रचनाएँ**–भारतेन्दु अपनी रचनाओ मे प्रेम के कवि है। उनके प्रेम ने कभी भक्ति-भावना का रूप धारण किया है, कभी राधा और कृष्ण की लीलाओ मे रस लिया है और कभी देश-कल्याण के लिए अपनी व्यग्रता प्रदर्शित की है। 'भारत-दुर्दशा' मे उनका देश-प्रेम देखिए —

'रोअहु अब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥'

भारतेन्दु की इन पंक्तियो मे उनकी राष्ट्रीय भावना का जैसा स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है वैसा उस समय की रचनाओ मे मिलना दुर्लभ है। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' और 'उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै' आदि पक्तियो मे उनकी राष्ट्र-भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। वह यह भी कहते है :—

'कछु तौ वेतन मे गयो, कछुक राज-कर माहि।
बाकी सब व्यवहार मे, गयो, रह्यो कछु नाहिं ॥'

अपने युग के राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक पतन पर अपनी आतरिक व्यथा का चित्रण करने के साथ-साथ उन्होने अपने अतीत के वीरो का सगर्व स्मरण किया है :—

'कह गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥'

और फिर हमे यह भी बताया है कि :—

'पृथ्वीराज जयचन्द कलह कारि यवन बुलायो।
तिमिरलंग, चंगेज आदि बहु नरन कटायो ॥'

भारतेन्दु देश-प्रेमी होने के साथ-साथ राज-भक्त भी थे। उस समय राज-भक्त बने रहकर ही वह अपना देश-प्रेम प्रकट कर सकते थे। इसलिए उन्होने राज-भक्ति की ओट लेकर ही अपनी राष्ट्रीय भावनाओ को व्यक्त किया और अपनी इस नीति मे वह पूर्णतः सफल हुए।

(४) सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाएँ--भारतेन्दु की सामाजिक विषयोमे भी रुचि थी। वह प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दालनको सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। समाज के दाष उनसे छिपे नही थे। वह अपने विचारो मे प्राचीन और नवीन दोनो थे। धार्मिक पाखंड, विभिन्न मत-मतातरो का प्रचार, अनेक जातियो की उत्पत्ति, छुआछूत की दूषित प्रणाली, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अधविश्वास, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि समस्याएँ उनके सामने थी। उन्होने इन समस्याओ को अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही सुलझाने का प्रयत्न किया। समाचार पत्रो-द्वारा उन्होने सामाजिक आदोलन चलाये और कविताएँ लिख-लिख कर जनता को सामाजिक दोषो की ओर आकृष्ट किया। उन्होने कहा --

'रचि बहु विविध के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव-शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए ॥'

*　　*　　*

'करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्यो।
बिधवा-व्याह निषेध कियो, व्यभिचार प्रचार्यो ॥'

भारतेन्दु उदार वैष्णव और पाखडपूर्ण जीवन के खरे आलोचक थे। उन्होने अपने समाज को कही खुले शब्दो मे फटकारा और कही हास्य और व्यग द्वारा उसकी खिल्ली उड़ाई। इससे अपने दोषो की ओर समाज का ध्यान गया और फिर कई सुधार-आदोलन चल पडे।

(५) प्रकृति-चित्रण प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु ने प्रकृति के भी चित्र उतारे हैं, पर इस क्षेत्र मे उन्हे अधिक सफलता नही मिली। इसका एक कारण है। भारतेन्दु का समस्त जीवन एक नगर के बीच भव्य भवन मे ही व्यतीत हुआ

था। उनमे उद्यानादि के प्रति विशेष रुचि नही थी। अपने पर्यटन आदि मे भी वह वन्य-शोभा की ओर विशेष रूप से आकर्षित नही हुए थे। फलत प्रकृति-चित्रण मे उन्हे विशेष आनन्द नही मिला। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे जिस गंगा का वर्णन है 'वह उच्च पर्वत-मालाओ तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होनेवाली गगा न होकर काशी के विशाल-काय घाटमाला के नीचे प्रवाहित होने वाली गंगा-धारा है।' इस गंगा-धारा के धार्मिक महत्व से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने उसका जो चित्र अंकित किया है, उसमे मानव-प्रकृति का ही विशेष रूप से चित्रण हुआ है :—

'लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन-मन विविध मनोरम करत, मिटावत॥'

'चंद्रावली' मे यमुना की शोभा का भी ऐसा ही वर्णन हुआ है। उसमें भी कवि-कौशल ही अधिक है। शृङ्गार-कालीन शैली मे उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत पावस आदि के चित्रण मे भी कोई विशेषता नही दीख पड़ती। उसमे भी साधारण बातें साधारण ढग से कह दी गई है।

भारतेन्दु-काव्य की विशेषताएँ

भारतेन्दु की काव्य-साधना के सम्बन्ध में हमने अब तक जो विचार व्यक्त किए है उनसे हमे उनकी निम्नांकित विशेषताओ का परिचय मिलता है :—

(१) भारतेन्दु की कविताएँ भक्ति-काल और शृङ्गार-काल की परम्पराओ से प्रभावित होने पर भी आधुनिक काल की प्रवृत्तियो से अनुप्राणित है।

(२) भारतेन्दु के काव्य मे भावो की विविधता के साथ-साथ जीवन-परकता भी है। भावना के क्षेत्र मे नवीन-काव्य-शैलियो को जन्म देने मे वह हिन्दी के प्रथम कवि है।

(३) भारतेन्दु के काव्य मे वर्णनात्मकता अधिक और व्यंजकता कम है। इसलिए उनके काव्य मे मन को स्थायी रूप से बाँधने की शक्ति नही है। उनकी वर्णनात्मकता पर भी भावुकता का यथेष्ट प्रभाव है।

(४) भारतेन्दु के काव्य मे मानव प्रवृत्तियो का ही चित्रण मिलता है। प्रकृति-चित्रण की ओर उनका विशेष आकर्षण नही है। मानव-प्रवृत्तियो में प्रेम

की प्रधानता है जो दाम्पत्य-प्रेम, जाति-प्रेम, देश-प्रेम, हिन्दी-प्रेम, सस्कृति-प्रेम, और मानव-प्रेम के रूप मे यत्र-तत्र व्यक्त हुआ है। भारतेन्दु योवन, प्रेम, सत्य, सौंदर्य और मानवता के कवि है।

(५) भारतेन्दु का काव्य गेय भी है। स्वय सगीतज्ञ होने के कारण उन्होंने अपने काव्य मे अनेक प्रकार की राग-रागिनियो की व्यवस्था की है।

(६) भारतेन्दु के काव्य मे स्वाभाविकता और सरलता सर्वत्र मिलती है। किसी बात को घुमा-फिराकर कहने का लोभ उनमे नही है।

(७) भारतेन्दु की काव्य-भाषा मे शब्द-वैचित्र्य अधिक है। उर्दू भाषा की चुलबुलाहट और रगीनी उनकी भाषा मे सर्वत्र मिलती है।

(८) भारतेन्दु ने अपने काव्य मे प्राय: सभी रसो को स्थान दिया है। शृङ्गार के वियोग पक्ष का उन्होंने बहुत ही सजीव वर्णन किया है। रौद्र, हास्य, भयानक, करुण, वीभत्स, वात्सल्य, वीर, शात आदि के पर्याप्त उदाहरण उनकी रचनाओ मे मिलते हैं।

भारतेन्दु की शैली

भारतेन्दु की भाषा-शैली के दो रूप हैं उसका एक रूप तो उनके लेखों मे मिलता है और उसका दूसरा रूप उनके काव्य मे। लेखो मे उनकी भाषा-शैली के चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं (१) परिचयात्मक शैली (२) भावात्मक शैली (३) गवेषणात्मक शैली और (४) व्यंग्यात्मक शैली। इन चारो प्रकार की शैलियो को उन्होने अपने विषय की गुरुता और गभीरता के अनुसार जन्म दिया है। उनके पूर्व हिंदी-गद्य मे इन शैलियो का आभाव-सा था। व्यंग्यात्मक शैली मे लिखना तो कोई जानता ही नही था। भारतेन्दु ने इन शैलियो के प्रादुर्भाव से हिंदी-गद्य को अनेकरूपता प्रदान की और उसका स्वर ऊँचा किया। हिंदी-खड़ीबोली पर आक्षेप करनेवालो को उन्होंने बताया कि उसमे सभी शैलियो का समावेश हो सकता है।

भारतेन्दु ने हिंदी खड़ीबोली को गद्य भाषा तो बना दिया, पर वह उसे काव्य-भाषा न बना सके। इसके लिए उनका समय उपयुक्त नही था। देश मे राजनीतिक उथल-पुथल होने से जन-जीवन की अनेक समस्याएँ उभर आई थी जिनके समाधान के लिए गद्य की भाषा का विकास ही वाछनीय था। इसलिए

भारतेन्दु ने गद्य की भाषा के विकास की ओर जितना ध्यान दिया उतना पद्य की भाषा के विकास की ओर नही दिया। पद्य की भाषा—ब्रजभाषा—से जनता परिचित थी। ऐसी स्थिति मे उसे हटाकर उसके स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा करना न तो उचित था और न इसके लिए उनके पास पर्याप्त समय ही था। इसलिए उन्होने ब्रजभाषा मे ही कविता की। अपने ब्रजभाषा-काव्य मे उन्होने मुक्तको को ही प्रधानता दी, क्योकि इन्ही के माध्यम से वह अपने विचारो को आसानी से जनता तक पहुँचा सकते थे। प्रबध-काव्य के लिए वह समय उपयुक्त नही था। इसके अतिरिक्त प्रबध-काव्य की रचना करने के लिए जैसी योग्यता और निश्चितता होनी चाहिए वैसी योग्यता और निश्चितता का भारतेन्दु मे सर्वथा अभाव था।

भारतेन्दु ने दो प्रकार के मुक्तको की रचना की (१) भाव-मुक्तक और (२) प्रबन्ध-मुक्तक। प्रबध-मुक्तको की अपेक्षा उन्होने भाव-मुक्तक ही अधिक लिखे। उनके भाव-मुक्तक पठनीय और गेय—दोनो प्रकार के हैं। पाठनीय भाव-मुक्तको की रचना मे उन्होने कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय, कुडलिया, शार्दूलविक्रीड़ित, हरिगतिका आदि का प्रयोग किया है और गेय भाव-मुक्तको मे पदो का। लोक-गीतो मे लावनी, ख्याल, कजरी, ठुमरी, चौताला, होरी आदि प्रमुख है। इन सभी छदो मे उन्होने प्रेम के विविध रूपो का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। उनमे अलकारो की छटा भी दर्शनीय है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष आदि अलकारो के स्वाभाविक प्रयोग उनमे मिलते हैं। शृङ्गार, शात और हास्य भारतेन्दु के प्रिय रस है। इनके अतिरिक्त रौद्र, भयानक, करुण, वात्सल्य और वीर रसो मे भी उन्होने रचनाएँ की है। इन सभी रसो मे उन्होंने अवसर के अनुकूल अपने युग की चेतनाओ को साकार किया है।

भारतेन्दु की भाषा

भारतेन्दु की भाषा (१) खड़ीबोली और (२) ब्रजभाषा है। खड़ीबोली का प्रयोग उन्होने अपने गद्य मे किया है और ब्रजभाषा का अपने काव्य मे। अपने युग की आवश्यकताओ के अनुसार ही उन्होने अपनी इन दोनो प्रकार की भाषाओ का रूप स्थिर किया है। भाषा के क्षेत्र मे उनके युग की मुख्य आवश्यकता थी—हिंदी का प्रचार। इसलिए उन्होने अपनी दोनो भाषाओ को क्लिष्ट होने से बचाया

है । खड़ीबोली के प्रचार के लिए वह न तो शिवप्रसाद सितारेहिंद स० (१८८०-१९५२) की भाषा को उपयुक्त समझते थे और न राजा लक्ष्मणसिंह (स० १८८१-१९५१) की भाषा को । सितारेहिंद की भाषा फारसी के तत्समो से बोझिल थी और राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा संस्कृत के तत्समो से । ऐसी स्थिति मे भारतेन्दु ने अपनी खडीबोली को व्यावहारिक रूप दिया । उन्होने बोल-चाल के शब्दो के साथ-साथ अग्रेजी, फारसी आदि भाषाओ के शब्द भी अपनाये और उन्हे खडी बोली मे स्थान दिया । वह भाषा के सुधारक नही, प्रचारक थे । हिंदी के प्रचार की धुन मे उन्होने उसके संस्कार की चिंता नही की । वास्तव मे इस ओर ध्यान देने के लिए उनके पास समय ही नही था, फिर भी उन्होने अपनी भाषा को सशक्त बनाया और उसमे उन्होने सरल-से-सरल और गभीर-से-गभीर विषयो का स्पष्टीकरण कर यह सिद्ध कर दिया कि हिंदी किसी भी भाषा से पीछे नही है । इस दृष्टि से उनकी भाषा का हमारे लिए चिरस्थायी महत्व है ।

भारतेन्दु ने अपनी खडीबोली को जो रूप दिया वही रूप उन्होने अपनी ब्रजभाषा को भी प्रदान किया । शृङ्गारी कवियो की कलाकारिता के कारण ब्रज भाषा मे जो कृत्रिमता आ गई थी उसके कारण जनता मे उसकी लोक-प्रियता कम हो गई थी । इसलिए उन्होने उसे अधिक-से-अधिक स्वाभाविक और व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की । उन्होने उसमे से ऐसे शब्दो को निकाल दिया जो जनता मे अप्रचलित हो गये थे । इनके स्थान पर उन्होने प्रचलित शब्दो का प्रयोग किया और उन्हे सशक्त बनाया । सस्कृत और विदेशी भाषाओ के शब्दो को उन्होने तद्भव रूप मे स्वीकार किया और उनके साथ बोल-चाल के शब्दो का समावेश किया । इससे उनकी ब्रजभाषा सरल और बोधगम्य हो गई । अचल के स्थान पर आँचल, स्वभाव के स्थान पर सुभाव, स्नेह के स्थान पर नेह उन्हे अधिक पसद थे ।

भाषा पर भारतेन्दु का पूरा अधिकार था । उर्दू, फारसी, बगला, मराठी, गुजराती, सस्कृत आदि कई भाषाओ के जानकार होते हुए भी वह अपनी भाषा मे हिंदी-शब्दो का ही यथाशक्ति प्रयोग करते थे । यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे विदेशी शब्द कम ही मिलते है । ख्वारी, आफत, रुशवत, आकिल, हजम,

दि उर्दू-फारसी शब्दो के साथ टिक्कस, एडिटर, पुलिस, ग्रेजुएट आदि शब्द उनकी रचनाओ मे खटकने के बजाय भाव-प्रसरण मे सहायक है। के शब्द पियरवा, गरवा, छयल, लोगवा, परदेसवा, रहत हौ आदि उन्होने ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागो मे प्रचलित लोक-गीतो अथवा नयो की रचना मे किया है। इन शब्दो का जहाँ ब्रजभाषा के साथ मेल ुाँ उसमे और भी मिठास आ गई है। कही-कही भारतेन्दु ने अपना ज भी दिखाया है। ऐसे अवसरो पर उन्होने सामासिक पदो का प्रयोग जुगुल-केलि-रस-रीति, जुगुल-रूप-अमृत-माधुरी, तरनि-तनूजा-तट आदि के सामासिक पद है, पर इनके प्रयोग मे भी उन्होने अपने बिषय का है। मुहावरो और कहावतो के प्रयोए से भी उनकी रचनाएँ प्राणवान ।

बतक हमने भारतेन्दु-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया यह देखा है कि वह प्रत्येक क्षेत्र मे आधुनिक है। उनके विषय नये हैं, ना नई है, उनकी भाषा और शैली नई है। हिंदी-साहित्य के इतिहास न्म से एक नये अध्याय का, एक नये युग का प्रादुर्भाव होता है। इस वह सशक्त नेता है। अपने नेतृत्व से उन्होने हिन्दी को गौरवान्वित वह हिन्दी के पहले निर्माता और उसकी नौका के कर्णधार है।
क युग-प्रवर्तक साहित्यकार के नाते हम भारतेन्दु को कई रूपो मे पाते ककार, निबधकार, इतिहास-लेखक, कथाकार कवि, आलोचक और है। नाट्य-कला के क्षेत्र मे वह हिंदी के प्रथम नाटककार हैं। नाटक-रचना का सूत्रपात्र उन्ही के नाटको से हुआ है। उनके नाटक है और अनूदित भी। नाट्य शास्त्र पर उन्होने एक निबध भी लिखा ने डेढ़ दर्जन से अधिक नाटक लिखे है जो भाषा भाव और विषय दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'भारत दुर्दशा' टकों मे सर्वोच्च है। ये अभिनेय भी है। इन नाटको द्वारा उन्होने रुचि का परिष्कार किया है। 'अधेरनगरी' आदि उनके व्यंगपूर्ण नाटको के अतिरिक्त उन्होने कई गद्य-ग्रंथ भी लिखे है। 'काश्मीर

कुसुम', बादशाह दर्पण' आदि उनके ऐविहासिक निबध है। 'सुलोचना', 'सावित्री' आदि उनके आख्यान है। उन्होने गभीर और हास्य एव व्यगपूर्ण निबध भी लिखे है। वत्कालीन जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत करने के लिए उन्होने 'कवि-वचन-सुधा'' हरिश्चद्र मैगजीन' तथा 'बाला-बोधिनी' का भी सपादन किया है। हिंदी का कोई कवि इतनी समस्याओ को एक साथ लेकर साहित्य की सेवा में सलग्नन ही हुआ। हिंदी को लोक-प्रिय भाषा बनाने का श्रेय वस्तुव उन्ही को प्राप्त है और हिन्दी उनके गौरव से गौरवान्विव है।

---

१७ : श्रीधर पाठक

जन्म-स० १९१६ मृत्यु-स० १९८६

जीवन-परिचय

श्रीधर पाठक का जन्म माघ कृष्ण चतुर्दशी, सं० १९१६, दिनाक ११ जनबरी १८६० ई० को आगरा प्रात के जोधरी नामक ग्राम मे हुआ था। वह सारस्वत ब्राह्मण थे। लगभग ग्यारह सौ वर्ष पहले उनके पूर्वज पंजाब से आकर उस ग्राम मे बस गए थे। उनके तायाजी प० धरणीधर न्याय-शास्त्र के निष्णाव पडित थे और उनके पिता प० लीलाधर बडे ही धार्मिक तथा भगवद्‌भक्ति परायण थे। स० १९६३ मे उनका स्वर्गवास हुआ। उनके शोक मे पाठकजी ने 'आराध्य-शोकाजलि' नामक कविपय सस्कृत पदो की एक पुस्विका लिखी जो बडी ही करुणापूर्ण है। यह हिन्दी का पहला 'शोक-गीत' है।

श्रीधर पाठक की प्रारभिक शिक्षा सरकृति मे हुई। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था मे ही उन्होने सस्कृव का इवना प्रौढ ज्ञान प्राप्त कर लिया कि उस भाषा मे वह लिखने और बोलने लगे। इसके बाद पढना-लिखना छोड़कर वह वह खेल-कूद में लग गये। १४ वर्ष की अवस्था मे उन्होने फिर पढना प्रारंभ किया। पहले उन्होने फारसी का कुछ ज्ञान प्राप्व किया, फिर उन्होने सं० १९३२ में

वहसीली स्कूल से हिदी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा मे वह प्राव भर मे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। स० १९३६ मे उन्होने आगरा कालेज से अगरेजी में मिडिल की परीक्षा पास की और इसमे भी उन्होने प्राव भर मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। स० १९३८ में उन्होने इट्रेस की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की। इसके बाद उन्होने नौकरी कर ली। पहले-पहल वह कलकत्ता मे कमिश्नर के दफ्तर मे नियुक्त हुए। यहाँ कार्य करते हुए उन्हे शिमला जाकर हिमालय का सौंदर्य देखने का अवसर मिला। यहाँ से लौटने वह पर लाट साहब के दफ्तर मे नौकर हो गये और दफ्तर के साथ नेनीनाल गये। एक वर्ष तक उन्होने भारत-सरकार के दफ्तर मे डिप्टी सुपरिटेण्डेण्ट तथा सुपरिटेण्डेण्ट के पदो पर कार्य किया।

पाठकजी सरकारी कार्य अत्यन्त परिश्रम और सावधानी से करते थे। उनको घूस, अन्याय और चाटुकारी से बहुत चिढ थी। वह समय की उपयोगिता का बहुत ध्यान वखते थे। विशुद्ध अगरेजी लिखने के लिए वह बहुत प्रसिद्ध थे। सुपरिटेडेट के पद पर उन्हे ३००) मासिक मिलता का। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होने प्रयाग के लूकरगज मोहल्ले मे 'पद्मकोट' नाम का एक बंगला बनवाया और सकुटुम्ब उसी मे रहने लगे। यही साहित्य-सेवा करते हुए स० १९८६ मे उनका स्वर्गवास हुआ।

पाठकजी की रचनाएँ

पाठकजी ने अपनी कई रचनाएँ हिंदी-साहित्य को भेंट मे दी है। इन रचनाओ का हिदी मे महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदी-साहित्य मे उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब खड़ीबोली अपने पैरो पर खडी हो रही थी। अतः वह खड़ीबोली के प्रारभिक कवियो मे माने जाते है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार है :—

(१) **अनूदित काव्य-ग्रन्थ**—पाठकजी ने कालिदास-कृत 'ऋतु-सहार' के प्रथम तीनो भागो का अनुवाद सरस और सजीव ब्रजभाषा मे किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने गोल्डस्मिथ-कृत 'हर्मिट', 'ट्रेवलर' और 'डेजर्टेड विलेज' नामक काव्यो का भी क्रमशः 'एकातवासी योगी' (स० १९४३), 'श्रात पथिक' (सं० १९४३) और 'उजड़ ग्राम' (स० १९४३) के नाम से अनुवाद किया है। इनमें से प्रथम दो की भाषा खड़ीबोली और अन्तिम की भाषा ब्रजभाषा है।

(२) **मौलिक ग्रन्थ**—पाठकजी के मौमिक ग्रन्थो मे मनोविनोद : तीन भाग (स० १६३६), बाल भूगोल (स० १६४२), जगत सचाई सार (स० १९५४), क्लाउड मेमोरियल (घन-बिनय स० १९५७), गुणवत हेमन्त (स० १९५७), काश्मीर सुखमा (स० १६६१), वनाष्टक (स० १९६६), गोखले-प्रशास्ति (स० १६७२), देहरादून (स० १६७२), गोखले-गुणाष्टक (स० १६७२), गोपिका-गीत (स० १६७३), तिलस्मी खुन्दगे (उपन्यास : स० १९७३) और भारत-गीत (स० १६७५) प्रमुख है। 'उनकी समस्त कविताओ का एक सग्रह 'रत्न-सग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ है।'

पाठकजी की काव्य-साधना

पाठकजी प्रतिभा-सम्पन्न सौदर्योपासक कवि हैं। वह खडीबोली का प्रचार होने से पूर्व ब्रजभाषा मे कविता करते थे। द्विवेदी-युग मे जब खड़ीबोली का बोलबाला हुआ तब उन्होने खड़ीबोली मे रचनाएँ की। इस दिशा मे उनका सहयोग अत्यन्त सराहनीय सिद्ध हुआ। कविता मे ललित भावो की ओर उनका आकर्षण अधिक था। इसलिए खडीबोली की कविता मे भी उन्होने यत्र-तत्र ब्रजभाषा के शब्दो का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया। इसलिए हम उनकी रचनाओ में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनो को दो सखियो के रूप मे एकत्र पाते हैं।

पाठकजी भावुक कवि है। उनकी भावुकता मे रीझबूझ प्रधान है। उनमें स्वतत्र आत्मस्फुरण की मात्रा कम है। इसलिए उनकी मौलिक रचनाएँ उतनी नही हो सकी जितनी कि अनूदित। वह आधुनिकतम काव्य-प्रवाह से उदासीन नही थे। भावो के क्षेत्र मे उन्होने कई नवीन उद्भावनाएँ की है। विषयो की नवीनता और उनका प्रकृति के साथ सामजस्य अपनी कृतियो-द्वारा जितना उन्होने उपस्थित किया उतना उनके किसी समसामयिक कवि ने नही किया है। बँधे हुए विषयो और बँधी हुई शैलियो पर अन्यान्य कवियो ने बहुत कुछ लिखा है, पर उससे हमारे साहित्य को उत्प्रेरणा नही मिली। पाठकजी ने मौलिक तथा अनूदित रचनाओं-द्वारा अपनी ओर से नूतनता का श्रीगणेश किया है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य उनके महत्व को नही भूल सकता।

पाठकजी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की है : (१) अनूदित और (२) मौलिक। उनकी अनूदित रचनाएँ श्रेष्ठ है। सं० १६४३ मे उन्होने लावनी को

शैली पर हिंदी मे अगरेजी की प्रथम स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रसिद्ध कवि गोल्ड-स्मिथ (स० १७८५-१८३१) के 'हर्मिट' का 'एकातवासी योगी' और फिर 'श्रात पथिक' के नाम से 'ट्रैवलर' का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त लागफेलो और कारनेल की कई रचनाओ के भी अनुवाद उन्होने किए। इस प्रकार के अनुवाद हिंदी मे बहुत लोक-प्रिय हुए। अपने इन अनुवादो-द्वारा उन्होने हिंदी मे स्वतत्र प्रकृति-चित्रण की ओर पहली बार ध्यान दिया है। रीति-काव्य-परम्परा मे प्रकृति चित्रण के प्रति कवियो का सहज अनुराग नही था। 'षट-ऋतु-वर्णन आदि मे परम्परा-विहित ढंग से कतिपय प्राकृतिक दृश्यो का उल्लेख मात्र नायकन-ायिका के भावो का 'उद्दीपन' करने भर के लिए होता था। पाठकजी ने इस परम्परा के विरुद्ध-स्वतंत्ररूप से प्रकृति का चित्रण किया। ब्रजभाषा मे ही उन्होंने गोल्ड स्मिथ-कृत 'डेजटेड विलेज' का 'उजड़-ग्राम' के नाम से अनुवाद कर हिंदी-काव्य को एक नई दिशा प्रदान की है। इन अनुवादो के साथ ही उन्होने अत्यन्त सरल भाषा मे कालिदास के 'ऋतु-सहार' का अनुवाद प्रस्तुत किया। इस प्रकार गोल्ड स्मिथ और कालिदास की कृतियो मे अपनी भाव-धारा के विकास के लिए आधार खोजकर उन्होंने हिंदी-काव्य को एक नई शैली की ओर उन्मुख किया है। गोल्ड स्मिथ और कालिदास उनके आदर्श थे। उनकी रचनाओ मे उन्हे अपने हृदय की गूँज सुनाई दी। स्वतत्र रूप से अपनी काव्य चेतना को सफल करने की उनमे शक्ति नही थी। गोल्ड स्मिथ और कालिदास की रचनाओ से उन्हे बल मिला और उस बल का आश्रय पाकर वह हिंदी को नई दिशा की ओर मोड़ने मे सफल हो सके। उन्होने स्वतत्र रूप से प्रकृति का चित्रण किया। 'हेमत' शीर्षक उनकी एक मौलिक रचना से उदाहरण लीजिए :—

> 'बीता कातिक मास शरद् का अन्त है।
> लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमन्त है।
> ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये।
> खल्यान के काम से किसान निपट गये।
> थोड़े दिन को बल परिश्रम से थमे।
> रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमें।'

उक्त पक्तियो मे प्रकृति का चित्रण उद्दीपन विभाव के अतर्गत न होकर स्वतत्र रूप से हुआ है । यही पाठकजी की हिंदी-काव्य को देन है ।

पाठकजी की भाषा और शैली

हम बता चुके है कि पाठकजी खडीबोली और ब्रजभाषा दोनो मे कविता करते थे । यद्यपि उनकी खडीबोली की कविता मे बहुत से क्रियापदो का प्रयोग विशुद्ध खड़ीबोली का नही होता था, तो भी लोग उन्हे खड़ीबोली का आचार्य मानते थे । सस्कृत और अगरेजी-साहित्य मे पारगत होने के कारण उनमे भाषा-संस्कार की अच्छी क्षमता थी । उनकी ब्रज और खड़ीबोली, दोनो भाषाएँ, रस से ओत-प्रोत होती थी । इन दोनो काव्य-भाषाओ पर उनका समान रूप से अधिकार था । उनका शब्द-प्रयोग अत्यत उपयुक्त होता था । वह बहुत सोच-समझकर किसी शब्द का प्रयोग करते थे । उनका शब्द-भाडार भरापुरा था । इसी से उनकी कविता मे सुन्दर शब्दो की पर्याप्त सख्या मिलती है । उनकी ब्रजभाषा की कविताओ मे कोमलकात पदावली और भाषा-सौष्ठव दोनो का अत्यत सुन्दर सामजस्य हुआ है । 'उनकी भाषा की सफाई और मधुरता एव भावो की मार्मिक व्यजना पर ही मुग्ध होकर आचार्य द्विवेदीजी ने स० १९५६ मे 'श्रीधर-सप्तक' शीर्षक स्वरचित कविता मे उनको गीतगोविंदकार जयदेव का अवतार कहा था । पाठकजी की भाषा के सम्बध मे द्विवेदीजी का यह मत अत्यत निष्पक्ष था । पाठकजी भाषा के धनी थे और उन्होने अपने मन के अनुकूल ही अपनी भाषा बनाई थी ।'

पाठकजी की शैली मे अपनापन है । वह अपनी शैली के स्वयम् जन्म-दाता है । उन्होने अपनी कविताओ मे रोला, बरवै, लावनी, छप्पय तथा सवैया छदो का प्रयोग कर अपनी विविध वृत्तो की रचना-कौशल का परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त उन्होने कई नये छदो की भी सृष्टि की है । इन छदो की लय बहुत अच्छी है । अगरेजी शैली के गद्यात्मक छदो मे भी उनकी रचना अत्यत उत्कृष्ट है । अलकारो का विधान उनकी रचनाओ मे स्वाभाविक रूप से हुआ है ।

इस प्रकार हम देखते है कि पाठकजी अपने समय के अत्यत सुरुचिपूर्ण साहित्यकार थे । उनकी भाषा और उनकी शैली अपनी थी । प्रकृति से उन्हे विशेष प्रेम था । इसलिए प्रकृति के मनोरम चित्र अकित करने मे उन्हें पूरी सफलता

मिली। उनके अनुवाद मौलिक रचनाओ के समान उत्कृष्ट और सजीव होते थे। उनकी रचनाओ मे राष्ट्रीयता थी और वह उसके पोषक थे। इन सब बातो के कारण वह अपने युग मे एक विशिष्ट साहित्याकार माने जाते थे और आज भी हिंदी-भाषा-भाषियो को उनकी रचनाओ पर गर्व है।

---

१८ : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म-स० १९२२ . मृत्यु-स० २००४

जीवन-परिचय

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म बैशाख कृष्ण ३, स० १९२२ को निजामाबाद, जिला आजमगढ, मे हुआ था। उनके पूर्वज बदाऊँ-निवासी सनाढय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम प० भोलासिंह और माता का नाम रुक्मिणि देवी था। प० भोलासिंह बहुत पढे लिखे नही थे, पर उनके बड़े भाई प० ब्रह्मासिंह ज्योतिष के विद्वान् थे। वह नि सतान थे। हरिऔध पर उनकी विशेष कृपा थी। उन्ही की देख-रेख मे हरिऔध की शिक्षा आरंभ हुई। आरभ मे उन्हे फारसी पढनी पड़ी। सात वर्ष की अवस्था मे उनका प्रवेश स्थानीय तहसीली स्कूल मे हुआ। वहाँ से उन्होने स० १९३६ मे सम्मान-सहित प्रथम श्रेणी मे मिडिल पास किया जिसके फलस्वरूप उन्हे छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वह काशी के क्वीस कालेज मे पढने के लिए भेजे गये, पर वहाँ स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वह आगे न पढ सके। इसलिए घर पर ही वह फारसी, उर्दू, सस्कृत पिंगल और गुरुमुखी का अध्ययन करते थे।

स० १९३९ मे 'हरिऔध' का अनतकुमारी देवी के साथ विवाह हुआ। उनका प्रारभिक जीवन आर्थिक सकटो का जीवन था। इसलिए विवश होकर उन्हें स० १९४१ में नौकरी करनी पड़ी। सर्वप्रथम वह निजामाबाद के तहसीली स्कूल मे अध्यापक नियुक्त हुये। स० १९४४ में उन्होने नार्मल-परीक्षा पास की। स० १९४७

तक अध्यापन-कार्य करने और इसी वर्ष कानूनगो की परीक्षा करने के पश्चात् बन्दोबस्त के समय वह कानूनगा हो गये। इस पद पर चार वर्ष तक कार्य करने के बाद वह रजिस्ट्रार कानूनगो, फिर सदर कानूनगो और अन्त मे स० १९७५ मे सदर कानूनगो हो गये। स० १९८० मे उन्होने पेशन ले ली और फिर अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा मे अर्पित कर दिया। इसी समय काशी-विश्वविद्यालय मे हिंदी-साहित्य की उच्च शिक्षा देने के लिए एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता हुई। अत हरिऔध ने वहाँ अवैतनिक अध्यापक के रूप मे अध्यापन-कार्य करना स्वीकार कर लिया। इस पद पर स० १९९६ तक वह अत्यत सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होने आजमगढ को स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाया और यही ६ मार्च सन् १९४७ (स० २००४) को उनका स्वर्गवास हुआ।

'हरिऔध' का जीवन भारतीय जीवन का आदर्श था। उनके भाई गुरुसेवकसिंह ने इगलैंड जाकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव मे सिक्ख-धर्म का बाना त्याग दिया, पर हरिऔधजी ने अपना पाण्डिताऊ रहन-सहन नही छोड़ा। वह अपनी बाल्यावस्था से ही निजामाबाद के सिक्ख गुरु बाबा सुमेरसिंह (स० १९०४-६०) के प्रभाव मे आ गए थे। बाबा सुमेरसिंह ब्रजभाषा के अच्छे कवि भी थे। उनके सत्सग से हरिऔधजी मे हिंदी काव्य-रचना के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। सरकारी पदो पर रहते हुए भी उनका यह 'प्रेम बराबर बना रहा और वह रचनाएँ करते रहे। वह अच्छे वक्ता और आलोचक भी थे। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के वह सभापति भी रह चुके थे। 'प्रिय-प्रवास' पर उन्हें सवत् १९९५ मे मगलाप्रसाद पारितोषिक मिला और वह सम्मेलन की 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से भी विभूषित किये गये।

हरिऔधजी की रचनाएँ

हरिऔधजी ने अपने विद्यार्थी-जीवन से ही कविता करना आरभ कर दिया था। उस समय वह बाबा सुमेरसिंह के प्रभाव से ब्रजभाषा मे कविता करते थे। स० १९३९ मे उन्होने 'श्रीकृष्ण-शतक' की रचना की। इसमे उन्होने सौ दोहे लिखे। यह उनका पहला प्रयास था। इसके बाद फिर उनकी लेखनी नही रुकी।

भी की गई है। उदाहरणार्थ वीर रस के वर्णन मे राष्ट्रीय भावना को विशेष स्थान दिया गया है। इसी के अतर्गत हरिऔधजी की वे रचनाएँ आती है जिनमें उन्होने स्वराष्ट्र के वीर सेनानिओ का स्मरण और भारत के गौरव का सोत्साह वर्णन किया है। भारत की विभूतियो का चित्रण इन पक्तियो मे देखिए :—

'कैसे सुर-सरि सुर करत असुर हू को,
कासी क्यो बनित मुक्ति - मेदिनी मनोहरा।
अरुचिर दारु चारु चंदन बनत कैसे,
काँच-महि कैसे होति कंचन-कलेवरा॥
'हरिऔध' कैसे सैल लहत सती-सी सुता,
सिता क्यो सुहाति है सुधा-रस-सहोदरा।
कैसे वसुधा को बसुधापन विदित होत,
जो न होति सिद्ध भूमि भारत वसुंधरा॥'

ब्रजभाषा मे ऐसी राष्ट्र-भावना-प्रधान रचनाएँ करनेवाले हरिऔधजी हिंदी के प्रथम कवि है। नये ढङ्ग से रसो का विवेचन करने के साथ-साथ उन्होंने नायिका-भेद-वर्णन मे भी युगानुरूप अपनी जागरुकता का परिचय दिया है। इस प्रकार उनका ब्रजभाषा-काव्य प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत, स्वस्थ और प्रभावपूर्ण है।

(२) खड़ीबोली के हरिऔध—भारतेन्दु-युग मे गद्य की भाषा खड़ी-बोली और पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी। परन्तु भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् सं० १९४५ मे ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को काव्य-भाषा बनाने का आदोलन आरम्भ हुआ। इस आदोलन का नेतृत्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सं० १९२१-९५) ने किया। उन्होने बताया कि गद्य और पद्य को भाषा एक ही होनी चाहिए। उनके इस तर्क का नवोदित कवियो पर अच्छा प्रभाव पड़ा। हरिऔधजी उस समय ब्रज-भाषा मे कविता करते थे, किंतु इस तर्क से प्रभावित होकर उन्होने खड़ीबोली में कविता करना आरम्भ किया। खडीबोली के लिए उन्होने उर्दू-छदो को उपयुक्त समझा, क्योकि उनमे वह अच्छी तरह मज चुकी थी। नागरी-प्रचारिणी सभा के गृह-प्रवेशोत्सव के अवसर (सं० १९५७) पर उन्होने जो कविता पढी थी उसके निम्न चरण आचार्य शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे दिये हैं :—

'चार डग हमने भरे तो क्या हुआ,
है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
मौलवी ऐसा न होगा एक भी,
खूब उर्दू जो न होवे जानता।'

ठेठ बोली मे ऐसी रचनाएँ हरिऔधजी ने स० १९५७ के पहले से ही प्रारम्भ कर दी थी और इसके बाद भी वह ऐसी रचनाएं करते रहे। लेकिन जब 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से खड़ीबोली ने सस्कृत-छदो और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया' तब हरिऔधजी उस ओर भी बढे और उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' (स० १९७३) की रचना की। इस प्रकार खड़ीबोली के क्षेत्र मे वह दो रूपो मे हमारे सामने आये (१) चौपदो के हरिऔध और (२) 'प्रिय-प्रवास' के हरिऔध। हरिऔधजी के ये दोनो रूप एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है।

चौपदो के हरिऔध मे कवित्व की अपेक्षा भाषा की साधना अधिक है। बोलचाल को मुहावरेदार भाषा मे 'बोल-चाल', 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' हरिऔधजी की सुन्दर कृतियाँ है। इस क्षेत्र में हिंदी के वह प्रथम और अतिम कवि हैं। 'बोल-चाल' मे बाल से लेकर तलवे तक के सब अगो तथा चेष्टाओ के प्रचलित मुहावरो पर ठेट बोली मे भावमयी रचनाएँ सगृहीत है। हरिऔधजी ने समाज और धर्म, सस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार आदि जीवन के प्राय सभी पक्षो पर अत्यत सुन्दर सूक्तियाँ कही है। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' मे भी ऐसी ही सूक्तियाँ मिलती है। पर इनमे मानव-हित और समाज-कल्याण की शुद्ध भावनाओ का ही चित्रण हुआ है। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उनका यह चौपदा लीजिए :—

'मन्दिरों, मसजिदों या कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ कहाँ जायें।
वह तो फैले हुये जहाँ मे हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें॥'

इन चौपदो मे मुहावरो की भरमार से काव्य-लालित्य पर आघात अवश्य हुआ है, पर भाषा-लालित्य ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। काव्य मे मुहावरो के

प्रयोग पर इतना अधिक अधिकार हरिऔधजी के अतिरिक्त हिंदी के और किसी का नही है और वह इस क्षेत्र के अद्वितीय कलाकार है ।

'प्रिय-प्रवास' के हरिऔध मे कवित्व और भाषा दोनो की साधना एक साथ दृष्टिगोचर होती है । यह संस्कृत के वर्ण-वृत्तो मे खड़ीबोली का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है । इसमे कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन न लेकर कृष्ण का ब्रज से मथुरा-प्रवासकी कथा चित्रित की गई है। विशेषतया यह है कि इस छोटी-सी कथाके भीतर ही कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन और उसके माध्यम से अनेक आधुनिक सामाजिक, और राजनीतिक समस्याओ को झलका दिया गया है। कथा कहने का यह ढङ्ग अधिक मनोवैज्ञानिक है । एक छोर से दूसरे छोर तक ब्योरेवार कहानी कहने की अपेक्षा केन्द्रीय प्रसंग से आगे-पीछे हटकर कहानी कहने की शैली अधिक कलात्मक होती है । हरिऔधजी ने इस शैली को अपना कर हिंदी-महाकाव्य को एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया है । इसके साथ ही उन्होने अपने कृष्ण को युगानुरूप जन-नेता के रूप मे चित्रित किया है । इस प्रकार 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण 'भागवत' के कृष्ण से सर्वथा भिन्न है और राधा भी 'भागवत' की राधा न होकर आधुनिक युग की लोक-सेविका राधा है :—

'संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य में भी,
वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध रोगी जनों की।
दीनो-हीनों अबल विधवा आदि को मानती थीं,
पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवियों-सी अतः थी ॥'

हरिऔधजी का दूसरा महाकाव्य 'वैदेही वनवास' है। इसकी कथा इसके नाम से ही स्पष्ट है । हरिऔधजी ने इस कथा मे भी अनेक मौलिक परिवर्तन किये है । सीता-वनवास का समर्थन उन्होने इस प्रकार किया है :—

'आर्य जाति की यह चिर कालिक है प्रथा,
गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति ।
कुलपति - पावन - आश्रम मे हैं भेजते,
हो जिससे सब मंगल, शिशु हो शुद्ध मत ॥'

इसी प्रकार रावण को भी 'एक बदन होते भी जो दश बदन था' चित्रित

किया गया है और सीता के अपवाद के सबध मे कुछ राजनीतिक कारणो की उद्‌भावना की गई है। पौराणिक कथाओ को युग की माँग के अनुरूप काट-छाट कर सजाने सँवारने मे हरिऔधजी की कला अद्वितीय है।

हरिऔधजी ने अपने उक्त दोनो महाकाव्यो मे प्रकृति के चित्र भी उतारे है। 'प्रिय-प्रवास' मे प्रकृति का यथातथ्य चित्रण किया गया है :—

'दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥'

प्राचीन शैली के अनुसार यह चित्रण भी देखिए :—

'जम्बु अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली शिशपा इंगुदी॥'

इसकी अपेक्षा 'वैदेही-वनवास' के प्रकृति चित्रण अधिक काव्यमय, संश्लिष्ट और अलकृत है :—

'प्रकृति सुन्दरी विहँस रही थी, चन्दानन था दमक रहा।
परम दिव्य वनकान्त-अग मे, तारक-चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत-साटिका सिता की, वह लसिता दिखलाती थी।
ले लो सुधा सुधाकर-कर से, बसुधा पर बरसाती थी।'

'वैदेही-वनवास' के सम्बन्ध मे कुछ आलोचको का कहना है कि वह 'प्रिय-प्रवास' की तुलना मे अधिक सफल नही है। उनका यह आक्षेप किसी सीमा तक सत्य अवश्य है। 'प्रिय-प्रवास' मे कथानक की जैसी सुष्ठता है वैसी 'वैदेही-वनवास' मे नही है। 'प्रिय-प्रवास' के-से सस्कृत छद भी उसमे नही हैं। पर इन त्रुटियो के होते हुये भी वैदेही-वनवास मे काव्य सौष्ठव की कमी नही है। हरिऔध जी के दोनो महाकाव्य आधुनिक युग की बौद्धिक चेतना से सम्पन्न है। 'प्रिय-प्रवास' कृष्ण-काव्य के अन्वर्गत सुखान्त और 'वैदेही-वनवास' राम-काव्य के अन्तर्गत दुखात काव्य है। इन दोनो महाकाव्यो की रचनाकर हरिऔधजी ने स्वदेश के अतीत के दो महापुरुषो को लोक-सग्रही रूपमे चित्रित किया है और उनके आदर्शो पर चलने के लिए हम उत्प्रेरित किया है।

'पारिजात' में हरिऔधजी का दृष्टिकोण उक्त दोनो महाकाव्यो से भिन्न

है। इसमे उन्होने अपनी सभी मुक्तक रचनाओ का संग्रह किया है। विषय की दृष्टि से इसकी अधिकाश रचनाएँ दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारो से सम्पन्न है। इनके अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि इनमे हरिऔधजी की रहस्य भावना का प्रतिनिधित्व हुआ है। परन्तु उनकी रहस्य भावना मे वह गहनता और गभीरता नही है जो प्रसाद, पत आदि रहस्यवादी कवियो की रचनाओ मे मिलती है। हरिऔधजी का रहस्यवाद असीम के प्रति आश्चर्य और जिज्ञासा तक ही सीमित है।

इस प्रकार हम देखते है कि हरिऔधजी अपने सभी रूपो में एक दूसरे से भिन्न है, पर उन सब पर उनका समान अधिकार है। वह समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए है। उनकी प्रतिभा की धारा एक ही कवि-हृदय से निकल कर विविध दिशाओ मे प्रवाहित हुई है, पर उनका कही भी मेल नही हो सका है। यही हरिऔधजी के कवि-जीवन की विशेषता है।

हरिऔधजी की शैली

हरिऔधजी अपनी शैली के स्वय निर्माता हैं। प्रिय-प्रवास, वैदेही-वनवास, बोल-चाल, चौपदे, पारिजात, रस-कलस आदि से उनकी शैली के विविध उदाहरण चयन किये जा सकते है। भाषा की दृष्टि से उनकी शैली के चार रूप मिलते है · (१) उर्दू की मुहावरेदार शैली, (२) ब्रजभाषा की शृङ्गार-कालीन शैली, (३) सस्कृत-काव्य की शैली और (४) उच्च हिंदी की शैली। अपनी इन शैलियों को हरिऔधजी ने अपने पाडित्यपूर्ण व्यक्तित्व से चमकाया है। वृत्तो और विषय के अनुकूल भाषा का प्रयोग उनकी शैली की विशेषता है। इस विशेषता के कारण उनकी शैली स्वाभाविक, आकर्षक और सरस है। अलकारो के वह सफल प्रयोग-कर्त्ता है। भावो को उद्दीप्त करने मे उन्होने अनुप्रास उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, सदेह, श्लेष, यमक आदि अलकारो से सहायता ली है, पर इनके प्रयोग से उन्होने अपनी भाषा की स्वाभाविकता और उसके प्रवाह पर आच नही आने दी। यही कारण है कि उनकी रचनाओ में रस-परिपाक अत्यन्त सफल हुआ है। शृङ्गार, करुणा, वात्सल्य, शात आदि रसो के परिपाक मे हिंदी के वह कुशल कवि है। उनका 'रस-कलस' ब्रजभाषा-काव्य मे अपना निजी महत्त्व रखता है।

काव्व-शास्त्र की दृष्टि से उनकी शैली के मुख्यत तीन रूप मिलते है: (१) प्रबन्ध-काव्य, (२) प्रबन्ध मुक्तक और (३) मुक्तक। 'प्रिय-प्रवास' और 'वैदही वनवास' उनके प्रबध-काव्य है। 'प्रिय-प्रवास' मे द्रुतविलबित, मदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि संस्कृत-वर्ण वृत्तो का और वैदही-वनवास' में हिदी-छदों का प्रयोग हुआ है। प्रबध-मुक्तक छप्पय छद मे लिखे गये है। मुक्तको मे कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि छद मिलते है। चौपदो की रचना मे उर्दू-काव्य की शैली अपनाई गई है। इस प्रकार रस, छन्द, अलकार—सबकी दृष्टि से उनकी वर्णनात्मक शैली प्राणवान और सफल है।

हरिऔधजी की भाषा

हरिऔधजी भाषा के धनी है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली पर उनका पूरा और सफल अधिकार है। वह सरल-से-सरल और कठिन-से-कठिन भाषा लिख सकते हैं। ठेठ बोल-चाल की भाषा लिखने में हिंदी का कोई कवि उनकी टक्कर का नही है।

हरिऔधजी की ब्रजभाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। ब्रज से उनका सीधा संपर्क नही रहा, फिर भी उनकी ब्रजभाषा मे वह कृत्रिमता नही आने पाई जो प्राय संस्कृत के पडितो की ब्रजभाषा मे पाई जाती है। रसो के अनुकूल उन्होने अपनी ब्रजभाषा का रूप स्थिर किया है। वीर रस के वर्णन मे उनकी भाषा ओजपूर्ण और शृङ्गार के वर्णन मे उनकी भाषा माधुर्य-गुण-युक्त है। प्रसाद गुण तो उनकी भाषा मे सर्वत्र पाया जाता है। शृङ्गारी कवियो की भाँति शब्दो की तोड़-मरोड़ और व्यर्थ के शब्दो की ठूंस-ठाँस उनकी भाषा मे नही है। सस्कृत के तत्सम शब्दो को ब्रजभाषा के साँचे मे ढालकर उन्होने उन्हें माधुर बना दिया है। विदेशी शब्दो को उन्होने आवश्यकतानुसार ही अपनाया है। मुहावरो और लोकोक्तियो के प्रयोग से उन्होने अपनी ब्रजभाषा मे नई जान डालने की की सफल चेष्टा की है।

हरिऔध जी को खडीबोली के तीन रूप है (१) क्लिष्ट तत्सम-प्रधान खड़ीबोली, (२) सरल तत्सम-प्रधान खडीबोली और (३) ठेठ बोल-चाल की खड़ी बोली। क्लिष्ट तत्सम-प्रधान खड़ीबोली के भी दो रूप है। उसका एक रूप 'प्रिय-प्रवास' से यह है:—

'रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु-बिंबानना।
तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली॥'

और उसका दूसरा रूप 'वैदेही-वनवास' मे यह है—

'जटा जूट शिर पर था उन्नत भाल था,
दिव्य-ज्योति आँखों में थी वसी।
दीर्घ विलम्बित श्वेत श्मश्रु मुख सौम्यता,
थी मानसिक महत्ता की उद्बोधिनी॥'

इस प्रकार की भाषा के प्रयोग से हरिऔधजी ने अपने भाषा-पांडित्य का परिचय अवश्य दिया है, पर इसके साथ ही उन्होंने अपने पाठको का ध्यान नही रखा है। उसमे लम्बे-लम्बे सामासिक पदो की योजना कर उन्होने उसे और भी क्लिष्ट बना दिया है। इससे रस-परिपाक मे विशेष बाधा पड़ी है। परन्तु सर्वत्र उनकी भाषा का यह रूप नही है। अधिकांश इस प्रकार की भाषा उनकी रचनाओ मे मिलती है :—

'जो है अंत-विहीन अंत उसका कैसे किसी का मिले।
कैसे हो वह गीत गत रचके जो देव गोतीत है॥'

हरिऔधजी की मुहावरेदार ठेठ बोली सरल खड़ीबोली का सुन्दर रूप है और इस पर उनका अच्छा अधिकार है। इसमे उन्होंने उर्दू-फारसी और कहीं-कहीं अंगरेजी के शब्दो का भी प्रयोग किया है। वह खड़ीबोली के साथ ब्रजभाषा और अवधी के शब्दो को भी स्थान देने के समर्थक है। इससे उनकी भाषा मे ब्रजभाषापन और अवधीपन आ गया है। कहीं-कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी दिखाई देती हैं और मुहावरो का विकृत प्रयोग भी हुआ है। फिर भी उनकी खड़ीबोली उनके समय को देखते हुए अत्यन्त सशक्त है।

हरिऔधजी और गुप्तजी

खड़ीबोली के द्विवेदी-कालीन कवियो मे हरिऔधजी और मैथिलीशरण गुप्तजी का नाम साथ-साथ लिया जाता है। वास्तव मे दोनो अपने युग के प्रतिनिधि-कवि है। धार्मिक क्षेत्र मे हरिऔधजी के सिद्धान्त अधिक व्यापक है। वह मानवता के रूप मे अवतारवाद को स्वीकार करते है। वह ईश्वर को साकार रूप मे

स्वीकार नही करते। अपनी इस धारणा के कारण उन्होने 'प्रिय-प्रवास' में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप मे ही अकित किया है। इसी कारण उनमे लोक-सग्रह की भावना बहुत सबल है। गुप्तजी की धारणा इससे भिन्न है। गुप्तजी श्रीसम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव है। इसलिए पौराणिक अवतारवाद मे उनका अटूट विश्वास है। जो 'रमा है सब मे राम' वही निर्गुण से सगुण बनकर अपनी वत्सलता का परिचय देता है।

गुप्तजी की भक्ति-भावना उन्हे भक्त-कालीन कवियो में लाकर बिठा देती है। हरिऔधजी की विचार-धारा पर सन्त-कवियो का प्रभाव है। सिक्ख-धर्म में दीक्षित होने के कारण उनकी साहित्य-साधना सन्त-कवियो की साहित्य-साधना बन गई है। उनका काव्यगत् दृष्टिकोण उनकी धारणा के अनुकूल है। गुप्तजी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शो से ओत-प्रोत है। उनकी रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं मे उनका वही स्वर है जो 'रामचरित-मानस' मे तुलसी का। राष्ट्रीयता के नव जागरण काल में जन्म लेने के कारण जातीय तथा धार्मिक भावनाओ के साथ-साथ उन्होने राष्ट्रीय भावनाओ का भी समावेश ऐसी रचनाओ मे कर दिया है, पर गुप्तजी भक्त कवि नही, मुख्यत राष्ट्र-कवि है। हरिऔधजी सामाजिक प्रवृत्तियो के कवि है। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गुप्तजी का जितना मोह है, उतना हरिऔधजी का नही है। इसलिए जहाँ हरिऔधजी सुधारक और उपदेशक-से लगते है, वहाँ गुप्तजी हमारी राष्ट्रीय चेतना मे प्राण फूकते पाए जाते हैं।

साहित्य-साधना के क्षेत्र मे हरिऔधजी की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनो दिशाओ मे हुआ है। उनके नाटक और उपन्यास तथा हिन्दी-भाषा एव साहित्य पर उनकी विवेचना उनकी गद्य-शैली के द्योतक है। 'प्रिय-प्रवास' तथा 'वैदेही-वनवास' उनके दो महाकाव्य है। 'रस-कलस' उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। गुप्तजी ने एक महाकाव्य 'साकेत', और 'जयद्रथ-बध' आदि कई खण्ड-काव्यो तथा गीति-काव्यो की रचना की है। गद्य की ओर उनकी प्रतिभा उन्मुख नही हुई है। आलोचना भी उनका विषय नही है। वह केवल कवि है। उनके कथानको के आधार पौराणिक है। 'किसान' आदि उनकी स्वतत्र रचना के उदाहरण है। हरिऔधजी ने भी अपने दो महाकाव्यो की रचना पौराणिक

१६ : जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्म-सं० १९२३ मृत्यु सं० १९८९

जीवन-परिचय

कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म भादों सुदी ५, सं० १९२३ को काशी के एक अग्रवाल-परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री पुरुषोत्तमदास फारसी के अच्छे ज्ञाता और हिंदी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ फारसी तथा हिंदी-कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनकी मित्रता थी। इससे रत्नाकरजी को भी भारतेन्दु के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था।

रत्नाकरजी की शिक्षा काशी में ही हुई। आरंभ में उन्हें फारसी का अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिंदी भी सीखी। सं० १९४८ में उन्होंने फारसी लेकर बी०ए० की डिग्री प्राप्त की। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् सं० १९५७ के लगभग उन्होंने ने आवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी की। वहाँ का जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं था। इसलिए उन्होंने वहाँ से त्याग-पत्र दे दिया और काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर रहने के पश्चात् उन्होंने अयोध्या-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। सं० सेक्रेटरी बना १९६३ में उनके स्वर्गवास के पश्चात् अयोध्या की महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट लिया और अन्त तक वह इसी पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक काम करते रहे। आषाढ़ सौर ७, सं० १९८८ को हरिद्वार में उनका शरीरांत हुआ।

रत्नाकरजी की रचनाएँ

रत्नाकरजी आरंभ में फारसी के कवि थे। उनका उपनाम 'जकी' था और वह मिर्जा मुहम्मद हुसेन 'फायज' के शिष्य थे। आवागढ़ की नौकरी छोड़ने के बाद जब वह काशी आये तब उन्हें काशी के ब्रजभाषा-कवियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनके प्रभाव से उन्होंने फारसी का क्षेत्र त्याग कर ब्रज-भाषा के क्षेत्र में अपनी काव्य-प्रतिभा का उपयोग किया। यह उस समय की बात है जब द्विवेदी-युग (सं० १९५०-७५) में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली

को काव्य-भाषा बनाने के लिए आन्दोलन हो रहा था। रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा का समर्थन किया और उसीमे उन्होंने अपनी रचनाएँ की। उनका कविता काल स० १६५० से आरभ होता है। उस समय से अपनी मृत्यु तक उन्होने जिन काव्य-ग्रथो की रचना की वे इस प्रकार है :—

(१) **प्रबन्ध-काव्य**—हिंडोला (स० १६५१), हरिश्चन्द्र (स० १९५६), गगावतरण (स० १९८०), और कलकाशी।

(२) **काव्य-संग्रह**—समस्या पूर्ति (स० १९५१), जयप्रकाश सर्वस्व (स० १६५२), घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर (स० १६५४), गगा-विष्णु लहरी, रत्नाष्टक और वीराष्टक।

(३) **अनूदित ग्रन्थ**—समालोचनादर्श (स० १६५३)। यह अगरेजी-कवि पोप की प्रसिद्ध रचना 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का रोला छन्दा मे अनुवाद है।

(४) **संपादित ग्रथ**—चन्द्रशेखर-कृत 'हमीर हठ', कृपाराम-कृत 'हित-तरगिणी और दूलह-कृत 'कठाभरण'

(५) **टीका**—बिहारी-रत्नाकर।

'गगावतरण' अयोध्या की महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। इस पर अयोध्या की महारानी ने उन्हे एक हजार रुपया पुस्कार दिया था। यह पुरस्कार रत्नाकरजी ने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। इसी काव्य-पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भी उन्हें ५००) का पुरस्कार दिया था।

रत्नाकरजी की काव्य-साधना

रत्नाकरजी का काव्य-विषय शुद्ध पौराणिक है। 'उद्धवशतक', 'गगावतरण, 'हरिश्चन्द्र' आदि उनकी रचनाएँ पौराणिक कथाओ पर ही आधारित हैं। इन कथाओ मे भक्त-कवियो ने जहाँ अपनी भक्ति भावना का मिश्रण कर अपने भक्त हृदय का परिचय दिया है, वहाँ रत्नाकरजी ने इनमे भावो की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण कर अपनी कला-प्रियता का परिचय दिया है। इस प्रकार रत्नाकरजी हमारे सामने एक कलाकार के रूप मे आते है।

रत्नाकरजी की रचनाएँ दो प्रकार की है: (१) प्रबन्ध और (२) मुक्तक। उनके प्रबन्ध-काव्य मे 'हरिश्चन्द्र', 'गङ्गावतरण' तथा 'उद्धव-शतक' की गणना

की जाती है। 'हरिश्चन्द्र' मे सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है : 'गङ्गावतरण' मे सगर-सुतो-द्वारा पाताल-प्रवेश और स्वर्ग से गगा के आगमन की कथा है और 'उद्धव-शतक' मे गोपियो का उद्धव से सम्वाद है। इन समस्त प्रबन्ध-काव्यो मे रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा के शृङ्गारी कवियो की अपेक्षा अपनी भावुकता से अधिक काम लिया है। घटना और पात्रो का निर्वाह करने की चिन्ता मे शृङ्गारी कवियो ने प्रबन्ध-काव्य के भीतर जिन विषयो का समावेश नही कर पाया था, उन विषयो की ओर रत्नाकरजी ने ध्यान देकर एक बहुत बड़ी कमी को पूरा कर दिया है।

रत्नाकरजी ने मुक्तक काव्य की भी रचना की है। उन्होने फुटकल पदो मे ऋतु-सम्बन्धी अष्टक भी लिखे है जो ब्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन की तुलना में आगे बढ़े हुए है। इनमे उनका कलाविद् रूप अधिक स्पष्ट है। उन्होने समस्यापूर्ति भी की है। पर उनकी ऐसी रचनाओ से मन को उत्तेजना तो मिलती है, मनमे टीस उत्पन्न नही होती।

भावना के क्षेत्र मे रत्नाकरजी का महत्वपूर्ण स्थान है। वह भाव-लोक के कुशल चित्रकार है। उन्होने भावो का चित्रण एक फोटोग्राफर की भॉति किया है। इतना ही नही, भावनाओ के चित्रण के साथ ही उन्होने क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न प्रकार की बाह्य चेष्टाओ की भी अत्यन्त सुन्दर, सजीव और आकर्षक तसवीरें उतारी है। इसका कारण है, उनकी निरीक्षण-शक्ति और उस पर आधारित उनका अनुभव। वह किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नही खीचते। वह दृश्यो के चित्राकन मे अपनी निरीक्षण-शक्ति से काम लेते है। शृङ्गार-कालीन कवियोकी भॉति वह किसी शास्त्रीय काव्य-परपरा का ऑख मूँदकर अनुकरण नही करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने मे वह उन समस्त उपकरणो से काम लेते है, जिनकी उन्हे आवश्यकता पड़ती है। क्रोध आने पर मनुष्य की बाह्य आकृतियॉ कैसी भयकर हो जाती है, इसे जानने के लिए विश्वामित्र का यह चित्र लीजिए —

'यह लखि, ऋषि विकराल लाल लोचन करि बोले।
भृकुटी जुगुल मिलाय, किये नासापुट पोले॥'

पुत्रो की मृत्यु का समाचार सुनकर महाराज सगर की जो दशा हो गई है, उसका यह चित्र लीजिए :—

'भयो भूप जड़-रुप, अग के रग सिराये।
बज्राघात सहससाठ सगहि सिर आए ॥
कढ्यो कण्ठ नहि बैन, न नैननि आसु प्रकास्यौ।
आनन भाव-विहीन, गॉव उजड़ लौ भास्यौ ॥'

मथुरा से उद्धव को विदा करते समय कृष्ण के मन मे जो उथल-पुथल है और उसका जो प्रभाव उनकी बाह्य चेष्टाओ पर पड रहा है उसका सम्मिलित चित्र इन पक्तियो मे देखिए :—

'आइ ब्रज-पथ रथ उधौ कौ चढ़ाइ, कान्ह,
अकथ कथानि की व्यथा सौ अकुलात हैं।
कहै रत्नाकर बुझाय कछु, रोकैं पाय,
पुनि कछु ध्याइ उर धाइ उरझात हैं ॥
उससि उसॉसनि सौ, बहि बहि ऑसुनि सौ
भूरि भरे हिय के हुलास न उगात हैं।
सीरे तपे बिबिध सॅदेसनि की बातनि की
घातनि की झौक मैं लगेई चले जात हैं ॥'

उद्धव के ब्रज मे आने पर वियोगिनी गोपियो के उत्साह का वारपार नही है। उस समय का यह स्वाभाविक चित्र लीजिए :—

'भेजे मन-भावन के उद्धव के आवन की,
सुधि ब्रज-गॉवनि मै पावनि जबै लगी।
कहै रत्नाकर ग्वालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं ॥
उझकि-उझकि पद-कंजन के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।
हमकौ लिखो है कहा? हमकौ लिखो है कहा?
हमकौ लिखो है कहा? कहन सबै लगीं ॥'

रत्नाकरजी ने अनुभावो के चित्रण मे दो शैलियॉ अपनाई है। कही उन्होने अनुभावो का स्वतन्त्र रूप से चित्रण किया है और कही अनुभावो के साथ

अन्तर्द्वन्द्व को भी स्पष्ट झलका दिया है। जिन रचनाओ मे अनुभाव और अन्तर्द्वन्द्व एक साथ झलकाये गये है उनमे रत्नाकरजी की कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। इसी प्रकार अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण मे भी दो शैलियाँ अपनाई गई है। कही उसके चित्रण मे 'मूक भाव-व्यजना' की शैली अपनाई गई है और कही 'मुखर भाव व्यंजना' की। 'मूक भाव व्यंजना' की शैली वहाँ अपनाई गई है जहाँ रत्नाकरजी ने अन्तर्द्वन्द्व के वेग को कुछ सकेतो-द्वारा व्यक्त किया है। गोप गोपियाँ उद्धव-द्वारा कृष्ण के पास कुछ सदेश भेजना चाहती है, पर उस समय उनके मन की व्यथा इतनी गहन है कि वे केवल यही कह पाती है :—

'नाम को बताय औ जताइ गाम ऊधो ! बस—
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।'

इसके विरुद्ध मुखर भाव-व्यजना की शैली है जिसमे पात्र अपना सब कुछ खुले शब्दो मे कह देता है। गोपियाँ उद्धव से तर्क करते समय इसी शैली को अपनाती है। इसीलिए वे वाचाल दीख पडती है।

'भ्रमर-गीत' की परम्परा मे रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' एक विशिष्ट प्रबन्ध-मुक्तक है। इसमें जहाँ सूर की-सी दक्षता, नन्ददास की-सी तर्क-प्रणाली एवं शैली मे कथोपकथन की नाटकीय प्रबन्ध-पटुता, रीतिकालीन काव्यों की-सी अलंकार योजना और भाव-प्रवणता का साम्य है, वहाँ कथा के क्रमिक विकास का, प्रसंग के आरम्भ की मौलिकता का और गोपियो की आत्मसमर्पण की भावना का वैभिन्य भी है। इसमे कथा का आरम्भ एक बहते हुए कमल को लेकर हुआ है। ऐसी कल्पना हिंदी के किसी कवि की नही है। उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य भी स्पष्ट है। उद्धव मे ज्ञान की गरिमा है, प्रेम की पीड़ा नही है। कृष्ण कहते है :—

'आओ एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीत धारि लैहैं हम।'

ब्रज मे जाकर उद्धव ज्ञान का उपदेश देते-देते प्रेम मे मग्न हो जाते हैं। 'उद्धव-शतक' की सफलता इसी मे है। यह प्रेम की ज्ञान पर विजय है। 'भ्रमर-गीत' की इस इतिवृत्ति को लेकर रत्नाकरजी ने एक सफल प्रबन्ध-काव्य लिखा है।

रत्नाकरजी ने प्रकृति के भी अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। उनके प्रकृति चित्र कई प्रकार के है। उन्होने अपने प्रकृति-चित्रण मे बाह्य दृश्यो का ही प्रत्यक्षीकरण नही किया है, उन बाह्य दृश्यो-द्वारा उद्भूत प्रभावो को भी उन्होने चित्रित किया है। प्रकृति से उनका संपर्क रहा है और उसके व्यापारो का उन्हे अनुभव है। अपने इस अनुभव से उन्होने अपने प्रकृति-चित्रण मे पूरा लाभ उठाया है। प्रकृति का स्वाभाविक चित्र इन पक्तियो मे देखिए —

'छोटे-बड़े वृच्छनि की पॉति बहुत भाति कहूँ,
सघन समूह कहूँ सुखद सुहाए हैं।
कहै रत्नाकर बितान वन-बेलिनि के,
जहा-तहा बिबिध बिधान छबि छाए हैं॥'

प्रकृति का भावना-आरोपित चित्र इस उदाहरण मे देखिए .—

'बारिधि-बसन्त बढ्यौ चाव चढ्यौ आवत है,
बिबस बियोगिनि करेजो थामि थहरैं।
कहै रत्नाकर त्यो किंसुक-प्रसून-जाल,
ज्वाल बड़वानल की हेरि हियै हहरै॥'

प्रकृति का सश्लिष्ट चित्र देखना हो तो ये पंक्तियाँ लीजिए :—

'छिटकति सरद-निसा की चादनी सौं चारु,
दोपति के पुँज परै उचटि उछारे हैं।
स्वच्छ सुखमा के परिपूरित प्रभा के मनौ,
सुन्दर सुधा के फूटि फबत फुहारे हैं॥'

केन्द्रीय व्यापारो के स्पष्टीकरण-द्वारा प्रकृति-चित्रण भी लीजिए :—

'भूमि-भूमि झुकत उमंडि नभ-मडल मै,
घूमि-घूमि चहुँधा घुमड़ि घटा घहरैं।
कहै रत्नाकर त्यौ दामिनी दमकैं-दुरैं,
दिसि-विदिसानि दौरि दिव्य छटा छहरैं॥'

रत्नाकरजी काव्य-कला के पडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावो पर तो उनका इतना जोरदार अधिकार है कि वह

उनके प्रवाहमे आकर भी वर्ण्य-विषय से कभी नही भटकते। वह भावो के केन्द्रीय-करण के आचार्य है। उनकी विचार धारा समय की सीमा के भीतर बहती है, इसलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते है। उनकी कल्पनाएँ भी इसी प्रकार उनकी रचनाओ मे आई है। उनकी कल्पनाओ से उनकी रचनाओ को बल मिला है और उनकी अनूभूतियो को सौदर्य प्राप्त हुआ है रत्नाकरजी अपनी कल्पना के सहारे अपने भावो को तीव्रतर बनाकर उन्हे पाठक के हृदय मे उतारने की क्षमता रखते है। वह भाव-भूमि तक पाठको को पहुँचाकर स्वय भा कल्पना करने का उन्हे अवसर देते है। वह भावना की सीमा नही बाँधते। वह स्वय भावुक हैं और अपने साथ अपने पाठको को भी भावुक बनाते है।

रत्नाकरजी की शैली

रत्नाकरजी की शैली उत्कृष्ट और प्रवाहपूर्ण है। उन्होने जिन विधानों से अपने जीवन मे भाव ग्रहण किया है, उन्ही विधानो की अपसी रचनाओ में काव्योचित प्रतिष्ठाकर उन्होने अपनी शैली का आदर्श निश्चित किया है। हरिश्चन्द्र-काव्य का एक प्रसग लीजिए। नारद जब इंद्र-सभा मे पहुँचे तब उनके मुख पर प्रसन्नता के चिह्न देखकर इंद्र ने पूछा :—

'पुनि पूछ्यो सुर-राज, आज मुनि आवत कित तैं।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यो जो चित्त तैं॥'

भगवान् के इस प्रश्न के उत्तर मे नारदजी कहते है :—

'अहो सहसदग साधु! बात साँची अनुमानी।'

उक्त अवतरण से यह स्पष्ट है कि रत्नाकरजी मानवीय व्यापारो को परखने तथा उनका यथातथ्य चित्रण करने मे अत्यन्त कुशल है। यही उनकी शैली की विशेषता है। उनकी तरह अन्य कवियो ने भी इस शैली का अनुकरण किया है, पर उसमे वह रोचकता, वह स्वाभाविकता नही आने पाई है जो रत्नाकरजी की शैली मे है। रत्नाकरजी की दृष्टि अनुभावो के निरीक्षण में बहुत पैनी है। इसीलिए उनकी शैली मे स्वाभाविकता और भाव-प्रेषणीयता है। रत्नाकरजी की अधिकाश रचनाएँ इसी शैली में है। उनकी शैली भाषा और भावो का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करती है। शब्द की मौलिक शक्ति और उसकी काव्योप-

युक्तता परखने में वह अद्वितीय हैं। इसलिए उनकी भाषा में एक भी ऐसा शब्द नही मिलता जो व्यर्थ हो और भाव-व्यजना मे सहायक न हो। मुहावरो और कहावतो के प्रयोग से उन्होने अपनी भाषा-शैली को जो भाव-शक्ति प्रदान की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु इसके साथ ही उन्होने जहाँ लबे लबे समासो का प्रयोग किया है वहाँ उनकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट और अस्वाभाविक हो गई है। ऐसा प्रायः 'हिंडाला' और 'गगावतरण' मे ही हुआ है। देखिए :—

'पत्र-बीच ह्वै झलकति कहूँ कलिंद-नंदनी।
कोटि-कोटि-कलि-कलुष-करार-निगार-निकंदिनि ॥'
'सकल-रूप-ज'बन - अनूर - गुन - गर्व गस ली।
जुगुल-रसासव-मत्त, राग रङ्ग-रत्त रसाली ॥'

रत्नाकरजी ने तीन प्रकार की काव्य-शैलियो का प्रयोग किया है : (१) खड काव्य, (२) मुक्तक-प्रबन्ध और (३) मुक्तक। उन्होने भाव और प्रबन्ध-दोनो प्रकार के मुक्तक लिखे है। 'उद्धव-शतक' की शैली मुक्तक-प्रबध की शैली है। 'हरिश्चन्द्र' खड काव्य है। इन काव्यो मे गीति-तत्व भी है। इन्हे पढते समय उनकी ध्वनि हमको प्रभावित करती है। रस की दृष्टि से उन्होने शृंगार को प्रमुख स्थान दिया है। उसके दोनो पक्षा, संयाग और वियाग, का परिपाक उनकी रचनाओ मे हुआ है। इसके अतिरिक्त वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, शात, करुण, वात्सल्य आदि के उदाहरण भी उनके काव्य में मिलते है। उनकी रचनाएँ अलंकार के भार से दबी हुई नही है। अलकारो ने उनके काव्य की स्वाभाविक शोभा की वृद्धि की है। शब्दालकार और अर्थालकार दोनो के वह सफल प्रयोगकर्ता है। यमक, अनुप्रास, उपमा रूपक, श्लेष, असगति, आदि अलकारो ने उनके भावोको विशेष सादर्य प्रदान किया है। छन्दामे कवित्त सवैया और रोला प्रमुख हैं।

रत्नाकरजी की भाषा

रत्नाकरजी ने जिस समय कविता करना आरम्भ किया उस समय काव्य-भाषा ब्रज-भाषा थी, पर उसके विरुद्ध खड़ीबोली के पक्ष मे आदोलन खड़ा हो गया था। आचार्य द्विवेदीजी (स० १९२१-९५), प० श्रीधर पाठक (स० १९१६-८५) और प० नाथूराम 'शंकर' शर्मा (स० १९१६-८९) आदि खड़ीबोली के पक्षमें

थे और रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' (स० १६२५-७२) और रत्नाकरजी आदि ब्रज-भाषा के पक्ष मे थे। तर्क यह दिया जा रहा था कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए। ब्रज-भाषा के समर्थको का कहना था कि खडीबोली मे काव्य-सौदर्य की स्थापना नही हो सकती। रत्नाकरजी का यही कहना था। उन्होने 'समालोचनादर्श' की रचना खडीबोली के कवियो की खिल्ली उडाने के लिए ही की, परन्तु इससे खड़ीबोली की प्रगति पर आँच नही आई। आरम्भ मे जो कवि ब्रजभाषा में कविता करते थे वे खड़ीबोली मे कविता करने लगे और उनकी सख्या बढने लगी। इससे ब्रजभाषा का पक्ष निर्बल हो गया। लेकिन रत्नाकरजी टस-से-मस नही हुए। वह ब्रजभाषा मे ही कविता करते रहे।

रत्नाकरजी ब्रजभाषा की त्रुटियो से परिचित थे। भारतेन्दुजी ने उसकी अनेक त्रुटियो का सस्कार किया था, लेकिन उससे रत्नाकरजी को सतोष नही था। इसलिए उन्होने ब्रजभाषा को साहित्यिक ब्रजभाषा बनाने की भरपूर चेष्टा की। उन्होने एक ओर उसे रूढियो से मुक्त किया और दूसरी ओर उसे ब्रज की गलियो से निकालकर उसमे ऐसे शब्दो, मुहावरो और कहावतो को स्थान दिया जो उपेक्षित काव्य-शैलियो और युग की नवीन सामाजिक तथा साहित्यिक चेतनाओ को पूर्णत: अभिव्यक्त करने मे सफल हो सकें। उनकी इस प्रकार की चेष्टा से उनकी ब्रजभाषा ने एक सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। यही कारक है कि उनकी भाषा न तो सूर की ब्रजभाषा है, न शृङ्गारी कवि पद्माकर की ब्रजभाषा है और न स्वच्छन्द प्रेम के गायक घनानन्द की ब्रजभाषा है। रत्नाकरजी की ब्रजभाषा केवल उन्ही की ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है।

रत्नाकरजी भाषा के जौहरी है। विषय और भाव के अनुरूप वह अपनी भाषा का रूप स्थिर करने मे अपने युग के समर्थ कलाकार है। उनका शब्द-चयन उनके काव्य-हृदय का परिचायक है। शब्द के तीनो गुणो—प्रसाद, माधुर्य और ओज तथा शब्द की तीनो शक्तियो–अभिधा, लक्षणा और व्यजना-का स्वाभाविक प्रयोग जैसा उनकी भाषा मे देखने को मिलता है वैसा अन्य कवियो की ब्रजभाषा मे नही मिलता। एक उदाहरण लीजिए :—

'सुन सुरपति अति आतुरताजुत कह्यो जोरि कर।
'कौन भूप हरिचंद?' कहौ हमसहु कछु मुनिवर॥

'सुनहु सुनहु सुर-राज'—कह्यौ नारद उछाह सौं।
ताका चरचा करन माह चित चलत चाह सो ॥'

इस अवतरण मे भाषा का प्रसाद गुण देखने योग्य है। साथ ही अभिधा, लक्षणा और व्यजना— इन तीनो शब्द-शक्तियो के सहारे भाषा और भाव का जो सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है वह भी अत्यन्त प्रशसनीय है। 'हिंडोला' और 'समालोचनादर्श' मे ब्रजभाषा को रूढियो से मुक्त करने का जो प्रयत्न आरम्भ हुआ था वह 'हरिश्चन्द्र' तथा 'गङ्गावतरण' से होकर 'उद्धव-शतक' तक आते-आते सफल हो गया है। यही कारण है कि 'उद्धव-शतक' की भाषा 'हिडोला' की भाषा से पर्याप्त भिन्न है।

रत्नाकरजी की ब्रजभाषा अर्जित ब्रजभाषा है और वह उनके गहन अध्ययन का परिणाम है। श्रेष्ठ कवियो की ब्रजभाषा से उपयुक्त शब्द लेकर उन्होने उन्हे अपनी कला की खराद पर चढाया और चमकाया है। इसके साथ ही उन्होने उसे उर्दू और फारसी की चुलबुलाहट और रगीनी से सम्पन्न किया है और सस्कृत के अनेक तत्सम और तद्भव शब्दो से उन्होने उसका शब्द-भाडार विकसित किया है। प्रादेशिक बोलियो के शब्द भी उन्होने अपनाये हैं। काशी मे रहने के कारण उन्होंने वहाँ की बोली के शब्दो से भी भाव-प्रसरण मे सहायता ली है। हिरकि, बिसाही, उतान, खपायौ, झुरात, निबुकि, झमेला, लौकना, बतास, गोरू आदि इसी प्रकार के पूर्वी शब्द है, लेकिन इनके प्रयोग रत्नाकरजी की मजी हुई ब्रजभाषा मे खटते नही है। फारसी के ज्ञाता होते हुये भी उन्होने उसके शब्दो का धडल्ले से प्रयोग नहीं किया है। अमानत, दराज, मुगल, साकी आदि इने-गिने शब्द ही उनकी ब्रजभाषा मे मिलते है। मुहावरो और कहावतो के प्रयोग मे भी उन्होने इसी प्रकार की सावधानी से काम लिया है। उनके मुहावरे हिन्दी के मुहावरे है, उनकी कहावते हिंदी की कहावतें है और उनकी ब्रजभाषा हिंदी बोलने और समझने वालो को ब्रजभाषा है।

---

२० : मैथिलीशरण गुप्त

जन्म-सं० १९४३

जीवन-परिचय

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म, श्रावण शुक्ल २, चंद्रवार, सं० १९४३ को चिरगाँव, जिला झाँसी मे हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण 'कनकलता' उपनाम से कविता करते थे। राम के विष्णुत्व मे उनका अटल विश्वास था। वह प्राय. उन्ही के गीत गाते थे। उनके यहाँ भक्त और कवि बराबर आते-जाते रहते थे। ऐसे सात्विक वातावरण मे गुप्तजी ने जन्म लेकर अपने वंश का ही नही, अपनी जन्म-भूमि का भी मस्तक ऊँचा किया।

गुप्तजी आरभ मे अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए झासी गये, लेकिन वहाँ उनका मन नही लगा। इसलिए घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति काव्य की ओर झुकी और वह टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे। वह जो रचनाएँ किया करते थे वे प्राय' कलकत्त से निकलने वाले एक जातीय पत्र मे प्रकाशित होती थी, लेकिन आचार्य द्विवेदीजी के सम्पर्क में आने पर उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' मे प्रकाशित होने लगी। द्विवेदीजी सरस्वती-द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक नवीन युग की नीव डाल रहे थे। खडीबोली के वह आचार्य थे। अत: उन्होने गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओ की भाषा तथा भावो का परिशोधन किया। इससे गुप्तजी का उत्साह बढ गया। गुप्तजी द्विवेदीजी को अपना काव्य-गुरु मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। अपने ग्रामवासी मुंशी अजमेरीजी से भी उन्हे अधिक प्रेरणा मिली थी। इस समय गुप्तजी हिन्दी के प्रसिद्ध राष्ट्र-कवि है। भारतीय आन्दोलन के साथ-साथ उनकी कवित्व-शक्ति का विकास हुआ है। भक्ति के क्षेत्र मे वह भगवान् राम से और राजनीति के क्षेत्र मे महात्मा गाधी से अधिक प्रभावित है। स्वभाव से वह अत्यन्त सरल और मृदु भाषी है। वह राष्ट्र-प्रेमी है और अपने देश के गौरव के प्रति विशेष आस्था रखते है। इस समय वह भारतीय ससद के सदस्य हैं।

गुप्तजी की रचनाएँ

गुप्तजी का रचना-काल स० १९६४ से आरम होता है। उस समय वह बोल-चाल की भाषा मे इतिवृत्तात्मक कविताएँ लिखा करते थे। सं० १९६७ में उनका 'रग मे भंग' प्रकाशित हुआ। इसके'पश्चात् 'भारत भारती' हिन्दी-जगत् के सामने आई। इस काव्य-पुस्तक से उन्हे विशेष ख्याति मिली। नवयुवको ने इसका हृदय से स्वागत किया। अपनी इस रचना से प्रोत्साहित होकर उन्होंने कई काव्य-ग्रंथो की रचना की जिनकी सूची इस प्रकार है: —

(१) महाकाव्य—साकेत (स० १९८८), और जयभारत (स० २००७)

(२) खण्ड-काव्य—रग मे भग (सं० १९६७), जयद्रथ-बध (सं० १९६७), शकुन्तला (स० १९७७), वन-वैभव (स० १९८४), वक-सहार (स० १९८४), सैरिन्ध्री (स० १९८५), पचवटी (स० १९८२), विकट भट (स० १९८५), सिद्ध-राज (स० १९९३), नहुष (स० १९९७), हिडिम्बा (स० २००७) और विष्णु-प्रिया (स० २०१६)।

(३) मुक्तक काव्य—पद्य-प्रबन्ध (स०१९६९), भारत-भारती (स०१९६९), वैतालिक (स० १९७६), स्वदेश-सगीत (१९८२), झकार (स० १९८६), मंगल-घट (सं० १९९१), विश्व-वेदना (स० १९९९)।

(४) उद्‌बोधनात्मक काव्य—किसान (स० १९७६), पत्रावली (स० १९७८), हिन्दू (स० १९८४), शक्ति (स० १९८३), गुरुकुल (स०१९८५), द्वापर (स० १९९३), कुणाल-गीत (१९९८), काबा और कर्बला (स० १९९९), अजित (स० २००३), अर्जन और विसर्जन (सं० २००४), अजलि और अर्घ्य (स० २००७), पृथ्वी-पुत्र (स० २००७), प्रदक्षिणा (स० २००७), युद्ध (स० २००९), भूमि-भाग (स० २०१०)

(५) चम्पू—यशोधरा (स० १९७९)

(६) रूपक—अनघ (स १९८२

(७) अनूदित काव्य—विरहिणी बजागना (सं० १९७२), प्लासी का युद्ध (स० १९७७), गीतामृत (स० १९८२), मेघनाद-वध (१९८४), वीरागना (सं० १९८४), स्वप्न-वासवदत्ता (स० १९८६), और उमरखैयाम की रुबाइयाँ (सं० १९८८)

गुप्तजी ने अपने काव्य-जीवन के ५० वर्षो मे हिन्दी को जितने काव्य-ग्रथ दिए है उतने अबतक कोई भी आधुनिक कवि नही दे सका है। वह बराबर कुछ-न-कुछ लिखते ही रहते है। उनके पास लिखने के लिए अभी बहुत सामग्री है।

गुप्तजी की काव्य-साधना

द्विवेदी-युग के जिन कवियो ने हिन्दी-काव्य के इतिहास मे अमर स्थान प्राप्त किया है उनमे गुप्तजी का प्रमुख स्थान है। उन्होने आरभ से अब तक जो रचनाएँ की है उनमे से अधिकाश द्विवेदी-युग की काव्य-प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत है। इस दृष्टि से उनकी रचनाएँ दो वर्गो मे विभाजित की जा सकती है : (१) प्रबन्ध-प्रधान और (२) भाव-प्रधान। प्रबन्ध-प्रधान काव्य मे उनके उद्बोधनात्मक काव्य महाकाव्य, खड काव्य और आत्म-कथात्मक काव्य आते है। इन काव्यो मे भारत के गौरवमय अतीत का चित्रण किया गया है। गौरवमय अतीत के चित्रण के लिए गुप्तजी ने (१) रामायण, (२) महाभारत, (३) पुराण, (४) महात्मा बुद्ध के जीवन और (५) इतिहास से कथाओ का सचयन किया है और उन्हे आधुनिक वातावरण के अनुरूप चित्रित किया है। इसलिए उनके प्रबन्ध-काव्यो मे विषय की ही नही, भावो की भी विविधता है।

गुप्तजी के उद्बोधनात्मक काव्य मे 'भारत-भारती', 'किसान', 'हिन्दू', 'शक्ति' आदि का प्रमुख स्थान है। 'भारत-भारती' उनकी प्रथम देश-प्रेम-प्रधान रचना है। इसमे ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर भारतीय जनता को नवजागरण का सन्देश दिया गया है। इसके साथ ही अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेद-भावपूर्ण नीति और अँगरेजी शासन-कालीन विपन्नावस्था का वर्णन कर हमारे सामने यह समस्या रखी गयी है :—

'हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।'

'भारत-भारती' मे देश-प्रेम के प्रत्येक पक्ष पर विचार किया गया है। उसमे हिन्दू और मुसलमान दोनो के उद्धार की बात एक साथ सोची गई है। 'हिन्दू' इससे भिन्न रचना है। इसमे हिन्दुओ के सामाजिक पक्ष पर विचार किया गया है। बाल-विवाह, अछूतोद्धार आदि अन्य कुरीतियो से हिन्दू-समाज को जो क्षति पहुँची है उसका चित्रण कर गुप्तजी ने इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

सिक्ख, बौद्ध आदि सब को सगठित होकर कर्तव्य-पालन के लिए प्रोत्साहित किया है। मुसलमानो मे सामाजिक चेतना जाग्रत करने के लिए 'काबा और कर्बला' की रचना की गई है। इस प्रकार गुप्तजी हिन्दू और मुसलमान, दोनो के सामाजिक उद्धार की बात एक साथ सोचते है। इसी प्रकार उन्होने 'अर्जन और विसर्जन' मे ईसाई-सस्कृति का उद्‌घाटन किया है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति गुप्तजी की यह उदारता गाँधीवाद से प्रभावित है।

गुप्तजी के राम-काव्य मे 'पचवटी' और 'साकेत' का प्रमुख स्थान है। 'पंचवटी' खण्ड-काव्य है और 'साकेत' महाकाव्य है। इन दोनो काव्य ग्रन्थो में गुप्तजी ने नारी के दो रूपो का चित्रण किया है। नारी का एक रूप शूर्पणखा है और दूसरा उर्मिला। 'पचवटी' की शूर्पणखा मे भौतिकता है। वह काम-पीड़ित और निर्लज्ज है। इसलिए गुप्तजी ने राम के मुख से कहलाया है :—

'हा नारी! किस भ्रम मे है तू, प्रेम नहीं, यह तो है मोह,
आत्मा का विश्वास नहीं यह, है तेरे मन का विद्रोह।
विष से भरी वासना है यह, सुधापूर्ण वह प्रीति नहीं,
रीति नहीं, अनरीति और यह अति अनीति है, नीति नहीं॥'

'साकेत' गुप्तजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसकी कथा लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला की जीवन-कथा है। राम के साथ लक्ष्मण के वन चले जाने पर उर्मिला को १४-वर्ष तक जो वियोग-वेदना सहनी पड़ी उसी का इसमे चित्रण किया गया है। इसके साथ १४ वर्ष के भीतर अयोध्या (साकेत) और वनवास मे घटनेवाली घटनाओ को भी इसमे स्थान दिया गया है। इन्ही घटनाओ के बीच रखकर गुप्तजी ने उर्मिला का चरित्राकन किया है। उर्मिला की विरह-वेदना के चित्रण मे उन्होने उर्मिला के दोहरे व्यक्तित्व का समावेश किया है। उर्मिला का एक व्यक्तित्व तो वह है जब वह पति-वियोग मे तड़पती और हाहाकार करती है। उस समय उसकी विरह-वेदना अपनी-चरम सीमा पर पहुँच जाती है। लेकिन फिर भी विरह के प्रति उसका मोह बना हुआ है। वह कहती है :—

'दुख भी मुझसे विमुख हो करे न कहीं प्रयाण,
आज उन्हीं मे तो तनिक अटके हैं ये प्राण।'

उर्मिला की इस विरह-वेदना मे गुप्तजी ने भौतिक और अध्यात्मिक, दोनो पक्षो का अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया है। इसलिए वह अत्यन्त सयत और मर्यादा-पूर्ण है। उर्मिला का दूसरा व्यक्तित्व इन पंक्तियो मे देखिए :—

'यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन मे, यही आता है इस मन मे।'

उर्मिला का यह रूप एक कर्तव्य-परायण सती-साध्वी का रूप है। गुप्तजी ने इस रूप को झलकाने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उर्मिला की भाँति कैकेयी का चरित्र भी उन्होने स्पष्ट रूप से मुखरित किया है। राम के प्रति उनका वही दृष्टि-कोण है जो गोस्वामी जी का है, लेकिन उन्होने उसे प्रधानता नही दी है। उन्होने राम का मानवता की भूमि पर चित्रित किया है। यही कारण है कि हमे उनके इस काव्य मे गाँधीवाद के व्यावहारिक पक्ष की सर्वत्र गूंज सुनाई देती है।

गुप्तजी ने महाभारत की कथाओ के आधार पर जिन काव्यो की रचना की है उन्हे हम कृष्ण काव्य के अन्तर्गत स्थान दे सकते है। 'जयद्रथ-बध', 'बक-सहार', 'वन-वैभव', 'जयभारत', 'त्रिपथगा', 'द्वापर', 'सैरन्ध्री' आदि इसी प्रकार के काव्य है। इन सब मे 'द्वापर' का प्रमुख स्थान है। यह आत्मकथात्मक काव्य है। इसमे नन्द, यशोदा, राधा, बलराम, कुब्जा, सुदामा, उद्धव सब अपनी अपनी बातें इस प्रकार कहते है कि कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की एक-एक घटना छाया-चित्रो की भाँति सजग हो उठती है। इस प्रकार कथा मे आरंभ से अंत तक एक सूत्रता स्थापित हो जाती है। इसमे भी नारी-भावना को प्रधानता दी गई है। नारी-भावना के विविध रूपो का जैसा सुन्दर चित्रण इस काव्य मे हुआ है वैसा हिन्दी के किसी काव्य मे देखने को नही मिलता।

पौराणिक कथाओ के आधार पर लिखे हुए काव्यो मे 'चन्द्रहास' 'तिलो-त्तमा' 'नहुष' और 'शकुन्तला' प्रमुख है। इनमें से प्रथम दो रूपक है और अन्तिम दो खण्ड-काव्य है। इन खण्ड काव्यो का हिन्दी-जगत मे विशेष आदर है। इनमे

भी नारी-भावनाओ को खुलकर स्थान दिया गया है। दुष्यन्त के ध्यान मे डूबी शकुन्तला को इन पंक्तियो मे देखिए :—

'नाना दृश्य नये समक्ष उसके थे चित्तहारी वहीं,
आते थे पर लक्ष्य में न उसके वे एक कोई कहीं।
थे सर्वत्र विशाल नेत्र उसके दुष्यन्त को देखते,
पाण्डु-ग्रस्त समस्त वस्तु जग ज्यों पीत हो लेखते।'

बौद्ध-कालीन धारा मे गुप्तजी के दो काव्य 'अनघ' और 'यशोधरा' प्रसिद्ध है। 'अनघ' पद्य-बद्ध रूपक है। 'यशोधरा' प्रबन्ध-काव्य है और 'चपू' शैली मे लिखा गया है। 'साकेत' के पाश्चात् गुप्तजी का यही काव्य अधिक लोक-प्रिय है। इसमे भगवान बुद्ध और यशोधरा की कथा है। यशोधरा के मार्मिक भावो की व्यजना गीतो मे की गई है और कही-कही कथा-सूत्र गद्य मे है। इसमे भी नारी-भावना को ही प्रधानता मिली है। नारी के दो प्रमुख रूप है (१) पत्नी और (२) माता। इन दोनो रूपो के विकास मे ही नारी-जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है। 'यशोधरा' मे इन दोनो रूपो के अनेक सफल चित्र उतारे गये है। यशोधरा के पत्नीत्व का गर्व इन पक्तियो मे देखिए —

चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।
स्वामी! किन्तु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो!
पहले हो तुम यशोधरा के, पीछे होगे किसी परा के
मिथ्या भय हैं जन्म-जरा के, इन्हे न उनमे सानो!

यशोधरा का मातृत्व इन पक्तियो मे देखिए —

'ठहर, बाल गोपाल कन्हैया।
राहुल, राजा भैया!
कैसे धाऊँ, पाऊँ तुझको, हार गई मै दैया,
सद्द दूध प्रस्तुत है बेटा, दुग्ध-फेन-सी शैया।'

'गुरुकुल', 'पत्रावली', 'रग मे भग' आदि गुप्तजी के ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित काव्य है। 'गुरुकुल' मे सिक्ख-गुरुओ का चरित्रा-चित्रण किया गया है। 'पत्रावली' मे पृथ्वीराज, महाराणा प्रतापसिंह, औरगजेब, शिवाजी आदि

के पद्य-बद्ध पत्र है। 'रग-मे भग' गुप्तजी की प्रारभिक रचना है। इसमे राजपूत-युग की कथा है।

गुप्तजी के काव्य की जिन काव्य-प्रवृत्तियो का, अब तक, उल्लेख किया गया है उनमे दो भावो की प्रधान मिलती है : (१) सामाजिक भावना और (२) देश-प्रेम की भावना। सामाजिक भावना के अतर्गत गुप्तजी ने नारी-भावना को प्रधानता दी है और अतीत की विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियो के माध्यम से देश-प्रेम की भावना को झलकाया है। 'मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है' की गूज उनके काव्य मे सर्वत्र सुनाई देती है। भारत की पराधीनता के युग मे उनका यह चीत्कार किसी जोशीले नेता के भाषण से कम महत्व का नही था। इसलिए हम उन्हे अपना राष्ट्र-कवि मानते है। अपने देश का गौरव उन्होने सौ-सौ तरह से बखाना है।

गुप्तजी की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओ पर गाँधीवाद का यथेष्ट प्रभाव है। गाधीवाद के दो पक्ष है : (१) दार्शनिक और (२) व्यावहारिक। गुप्तजी ने गाधीवाद के व्यावहारिक पक्ष को ही अपनाया है :—

'आकृति वर्ण और बहु भेष, ये सब निज वैचित्र्य विशेष,
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष, देखो अहा! एक ही प्राण,
विश्व-बन्धुता मे ही त्राण।

* * *

'उत्पीड़न अन्याय कहीं हो, दृढ़ता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो, न क्रोध करो ।।'

* * *

'न तन-सेवा, न मन-सेवा न जीवन और धन-सेवा
हमे है इष्ट जन-सेवा सदा सच्ची भुवन-सेवा'

'झकार' मे गुप्तजी ने अपने मुक्तको को स्थान दिया है। इन मुक्तकों में वह अपनी अध्यात्मवादी भावनाओ के अत्यन्त सफल चित्रकार है। नारी-भावना, आर्य-सस्कृति प्रधान भावना, विभिन्न सम्प्रदायो के प्रति उदार भावना—इन सब प्रकार की भावनाओ के सम्यक समावेश से उनके काव्य सजग हो उठे है।

भाव व्यजना के साथ-साथ गुप्तजी ने वस्तु-व्यजना मे भी अपना काव्य-

कौशल दिखाया है। रूप, मानवीय परिस्थितियो और कार्य-व्यापारो के चित्रण मे उनकी वृत्ति खूब रमी है। 'पचवटी' मे शूर्पणखा का यह चित्र देखिए :—

'चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्य बदनी बाला।
रत्नाभरण भरे अगों मे ऐसे सुन्दर लगते थे,
ज्यो प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सो जुगनू जगमग करते थे।'

गुप्तजी ने प्रकृति के भी सुन्दर चित्र अंकित किये है। सूर्योदय का यह संवेदनात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर है। उर्मिला कहती है —

'सखि! नील नभस्सर से उतरा यह हँस अहा! तरता-तरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिन को चरता-चरता।'

इसी प्रकार 'पंचवटी' की 'चाँदनी रात' का यह दृश्य लीजिए —

'चारु चन्द्र की चचल किरणे खेल रही थीं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी अवनि और अम्बर-तल में॥
पुलक प्रकट करती थी धरणी हरित तृणों की नोकों से।
मानो तरु भी झूम रहे थे मन्द पवन के झोंकों से॥'

गुप्तजी ने प्रकृति-चित्रण की दो ही शैलियाँ अपनाई है। उन्होने प्रकृति का चित्रण या तो सवेदनात्मक रूप मे किया है या फिर भूमिका के रूप मे। वर्णनात्मक काव्य मे इन दोनो शैलियो का विशेष महत्व है।

गुप्तजी की शैली

अपने काव्य मे गुप्तजी ने तीन शैलियो को स्थान दिया है (१) प्रबंध-शैली, (२) गीति-शैली और (३) रूपक शैली। उनकी इन शैलियो पर द्विवेदी-युग का पूरा प्रभाव है। इनकी विशेषताएँ इस प्रकार है :—

(१) **प्रबन्ध-शैली**—गुप्तजी का अधिकाश काव्य इसी शैली मे है। 'रङ्ग मे भग', 'जयद्रथ-वध' 'साकेत' 'जयभारत' 'पंचवटी' आदि इसी शैली मे लिखे गए है। यह शैली तीन प्रकार की है : (१) खण्ड-काव्य, (२) महाकाव्य और (३) उद्‌बोधनात्मक-काव्य। इन तीनो प्रकार के काव्यो मे विषय का निर्वाह दो शैलियों मे किया गया है . .(१) वर्णनात्मक और (२) भावात्मक। गुप्तजी विस्तार-प्रिय

कवि हैं। उनमे न तो भावो का सकोच है और न विषय का। विस्तार मे जाने के कारण उनकी ये शैलियाँ कही-कही आवश्यकता से अधिक उपदेशात्मक हो गई हैं।

(२) **रूपक-शैली**—इस शैली मे गुप्तजी ने नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया है। कथोपकथन पद्य मे है, शेष गद्य मे। 'अनघ' इसका उदाहरण है। 'तिलोत्तमा' तथा 'चन्द्रहास' गीति-नाट्य शैली मे लिखे गए है। 'यशोधरा' चम्पू-शैली मे लिखा गया है।

(३) **गीति-काव्य शैली**—गुप्तजी ने आधुनिक और प्राचीन शैलियो के ढङ्ग पर गीत भी लिखे है। 'झंकार' 'मगल-घट', 'स्वदेश-सगीत' के गीतो मे भावनाएँ तो सगीतमय हो उठी है, पर स्वाभाविक अनुभूति-चित्रण की कमी है। शब्दो मे भी मिठास नही है। उनके गीतो मे भावो का स्वाभाविक प्रवाह है, पर विरह-गीतो और राष्ट्र-गीतो को छोडकर शेष मे तन्मयता का अभाव-सा है।

गुप्तजी ने अपने काव्य मे हिन्दी-छन्दो को ही मुख्यत अपनाया है। हिन्दी-छदो मे हरिगीतिका छद उन्हे अधिक प्रिय है। यह वर्णनात्मक कविता के लिए उपयुक्त होता है। इसी प्रकार अपनी भावात्मक कविता के लिए उन्होने अपने ढङ्ग के सुन्दर गीत लिखे है। उनके कोई-कोई गीत लम्बे अवश्य हैं, पर वे है बडे सुन्दर। उनमे वह भावो की गहराई तक उतरने मे सफल हो सके हैं।

गुप्तजी ने अपने काव्य मे शृङ्गार, करुण, शात और वीर रसो को प्रधानता दी है। करुण रस के जैसे उद्गार उनकी रचनाओ मे मिलते हैं वैसे हिन्दी के अन्य कवियो की रचनाओ मे कम मिलते है। भावो के प्रसरण और उनमे चमत्कार की प्रतिष्ठा करने के लिए उन्होने अलकारो का भी प्रयोग किया है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, भ्रांति, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि के सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओ से एकत्र किये जा सकते है। शब्द की तीनो शक्तियो—अभिधा, लक्षणा और व्यजना—से भी उन्होने काम लिया है। 'साकेत' मे इनके उत्कृष्ट उदाहरण मिलते है। इस प्रकार उनकी शैली कला की दृष्टि से सम्पन्न है।

गुप्तजी की भाषा

हिंदी-काव्य-जगत मे गुप्तजी का प्रवेश उस समय हुआ जिस समय खडी-बोली को काव्य-भाषा बनाने का आंदोलन चल रहा था। इस आदोलन मे पडकर

गुप्तजी ने खड़ीबोली को ही अपनाया। खडीबोली का आरम्भ मे जो रूप था उसमे भावो की सजीवता के लिए अधिक गुजाइश नही थी। इसलिए गुप्तजी ने घटनाओ के वर्णन मे ही उसका उपयोग किया, लेकिन ज्यो-ज्यो उन्हे भावो के चित्रण की आवश्यकता महसूस होती गई त्यो-त्या उन्हे उस खडीबोली मे उपयुक्त शब्दो और पदो का समावेश करने के लिए बाध्य होना पडा। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्होने अपनी खड़ीबोली को अपनी भाव-धारा के अनुकूल बना लिया। आरम्भ मे 'भारत-भारती' की भाषा मे जो रूखापन था वह 'पचवटी' तक पहुँचते-पहुँचते कम हो गया और उनकी भाषा का रूप अत्यत उज्ज्वल हो गया।

गुप्तजी को खड़ीबोली पर दो प्रभाव है (१) सस्कृत के तत्सम शब्दो का और (२) ठेठ बोल-चाल के शब्दो का। सस्कृत के सरल तत्सम शब्दो के प्रयोग से उनकी खडीबोली अत्यत सरस, स्वाभाविक और सुबोध हो गई है। उसमे प्रसाद, माधुर्य और ओज भी विषयानुसार पाया जाता है, लेकिन जहा उन्होने सस्कृत के क्लिष्ट तत्सम शब्दोका प्रयोग किया है वहा भाषा कृत्रिम हो गई है और उसका प्रवाह भी मन्द पड़ गया है। तुक के अधिक आग्रह के कारण उनकी भाषा मे कही-कही अप्रचलित शब्द भी मिलते है। अस्तुद, त्वेष, कल्प, जिष्णु आदि ऐसे ही शब्द है। तुक मे इनसे सहायता भले ही मिल जाय, पर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और लय मे इनसे अधिक बाधा पहुँची है। कुछ शब्दो का उन्होने सस्कृत-व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। सस्कृत का प्रभाव उनकी पद योजना पर भी है। शब्दो के लचर प्रयोग भी मिलते है, पर कम। कही-कही तद्भव और तत्सम शब्दो को जोड़कर भाषा का सौदर्य भी बिगाड़ा गया है। ऐसे स्थानो पर उनकी भाषा अत्यधिक शिथिल हो गई है और प्रवाह बिगड गया है।

गुप्तजी की भाषा पर दूसरा प्रवाह है प्रातीयता का। हिदी मे अनेक प्रातीय बोलियाँ हैं। उनके शब्दो का ग्रहण प्रायः वर्जित है, पर शब्द की उपयुक्तता की दृष्टि से इस नियम का सर्वथा त्याग नही किया जाता। गुप्तजी ने ऐसे शब्दो को भी अपनाया है। 'भर के', 'झीमना', 'छीटना', 'अफर', 'धड़ाम' आदि ऐसे ही शब्द है जो उनकी भाषा-प्रवाह मे बाधक है। कुछ क्रिया-रूप भी प्रातीय है। 'कीजो,' 'दीजो' 'दीजियो, 'हूजियो' आदि में साहित्यिकता कम, पण्डिताऊपन

अधिक है। उर्दू-फारसी के एकाध शब्द ही मिलते है और वे भी केवल तुक के आग्रह के कारण। उन्होने लोकोक्तियो और मुहावरो का प्रयोग भी किया है, पर कम। कही-कही उनका स्वाभाविक रूप भी बदल दिया है। इससे भाषा का सौदर्य नष्ट हो गया है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने प्रकृत रूप मे ही साहित्य की निधि है और उसी रूप मे उनका प्रयोग उचित है।

---

२१ : माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म-स० १९४५

जीवन परिचय

माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म चैत्र शुक्ल ११, स० १९४५ तदनुसार ४ अप्रैल सन् १८८८ ई० को मध्य प्रदेश के होशगाबाद जिलेके अन्तर्गत बाबई नामक ग्राम मे हुआ था। उनके पिता, प० नन्दलाल चतुर्वेदी, एक हिन्दी-विद्यालय में अध्यापन-कार्य करते थे। उन्ही की देख-रेख मे माखनलाल की शिक्षा आरम्भ हुई। मिडिल की परीक्षा पास करने के बाद माखनलाल ने स० १९६० मे नार्मल पास किया और फिर वह स० १९६१ मे मसन गाँव की पाठशाला मे अध्यापक नियुक्त हुए। अध्यापन-कार्य के साथ-साथ उन्होने सस्कृत, अग्रेजी, मराठी, गुजराती तथा बंगला का अध्ययन किया।

चतुर्वेदीजी बाल्यावस्था से ही साहित्य-प्रेमी है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओ का प्रौढ ज्ञान होने पर वह साहित्य-सृजन की ओर आकृष्ट हुए। उन दिनो खडवा से 'प्रभा' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। इससे उन्हे बहुत प्रोत्साहन मिला। ज्यो-ज्यो उनकी साहित्यिक अभिरुचि बढती गयी त्यो-त्यो अध्यापन-कार्य के प्रति वह उदासीन होते गये। अन्त मे उन्होने स० १९६९ मे नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। उस समय मध्य प्रदेश मे प० माधवराव सप्रे बड़े प्रतिष्ठित नेता थे। वह हिन्दी-

साहित्य-प्रेमी और राष्ट्रवादी थे। चतुर्वेदीजी की प्रारम्भिक रचनाओ की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। फलतः उन्होने चतुर्वेदीजी के सहयोग से 'कर्मवीर' नामक एक साहित्यिक पत्र निकालना आरम्भ किया। इस प्रकार 'कर्मवीर' द्वारा चतुर्वेदीजी जनता के सम्पर्क मे भी आ गये और सक्रिय रूप से राजनीति मे भाग लेने लगे। क्रान्तिकारी आदोलन से उनका सम्बन्ध स० १९६३ से ही स्थापित हो चुका था। इस आन्दोलन ने उनकी राष्ट्रीय चेतना को विकसित किया। गाधीजी का आन्दोलन आरम्भ होने पर वह उस ओर झुके। सं० १९७८ के राष्ट्रीय आदोलन मे भाग लेने के कारण उन्हे ८ महीने के लिए जेल जाना पडा। जेल से निकलने के बाद वह फिर राष्ट्रीय आन्दोलन मे सलग्न हो गए। 'कर्मवीर' बन्द होने के पश्चात् कुछ समय तक वह 'प्रभा' तथा कानपुर से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का भी सम्पादन करते रहे। 'कर्मवीर' से उन्हे विशेष मोह था। अब अवसर अनुकूल होने पर उन्होने पुनः उसे प्रकाशित करना आरम्भ किया। आजकल वह इसी पत्र का प्रकाशन कर रहे है।

चतुर्वेदीजी की रचनाएँ

चतुर्वेदीजी का रचना-काल स० १९७० से आरम्भ होता है। लेकिन उनकी रचनाओ की संख्या अधिक नही है। ग्रंथ-निर्माण की ओर उन्होने अधिक ध्यान नही दिया। वह अच्छे वक्ता और उच्चकोटि के सम्पादक है। सामयिक लेख तथा कविता लिखने मे ही उन्होने अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। माघ के 'शिशुपाल वध' (स० १९९८) का उन्होने हिन्दी मे अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त (१) हिमकिरीटनी (स० १९९८), (२) हिमतरगिनी (स० २००५), (३) माता (स० २००८), (४) समर्पण (स० २०१४), और (५) युग-चरण (स० २०१४) पाच मौलिक कविता-सग्रह प्रकाशित हुए हैं 'हिमकिरीटनी' पर उन्हे अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन से दो हजार रुपये का देव-पुरस्कार मिल चुका है और वह उसके सभापति भी रह चुके हैं।

चतुर्वेदीजी की काव्य-साधना

द्विवेदी-युग (स० १९५०-७५) के पूर्वार्द्ध मे जो राष्ट्रीय चेतना दबी हुई थी, वह उसके उत्तरार्द्ध मे गाधीजी के असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप उभर

आई और भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक जन-जीवन पर छा गई। जन-जीवन मे व्याप्त इस राष्ट्रीय चेतना मे ही उस समय की सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतनाएँ तिरोहित थी। नेताओ का यह विचार था कि देश के स्वतंत्र होते ही उसकी सारी समस्याएँ सुलझ जायँगी। इस विचार का हिन्दी के साहित्यकारो पर भी प्रभाव पडा। इसलिए उनका ध्यान अतीत की अपेक्षा वर्तमान की ओर केन्द्रित हो गया। साम्प्रदायिक भेद-भाव और समाज-सुधार की भावना से आगे बढकर उन्होने दलित-पीडित किसान-मजदूरो की करुण पुकारो, राष्ट्रीय सग्राम मे आहत वीर सेनानियो के हाहाकारो और अंगरेजी सरकार के अत्याचारो को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। स० १९७७-७८ के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनो मे जो उतार-चढाव आये उनके बाह्य प्रभावो से पलायन कर जब हिन्दी के कुछ युवक-कवियो ने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की काव्य-प्रवृत्ति को भारतीय सस्कृति के आधार पर ग्रहण किया तब भी इस राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव मन्द नही हुआ। उन दिनो जिन हिन्दी कवियो ने राष्ट्र-प्रेम के गीत गाए उनके दो वर्ग मिलते है. एक तो वे जिन्होने लोक-सग्रह के आधार पर जनता मे सामूहिक रूप से राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने की चेष्टा की है और दूसरे वे जिन्होने त्याग और उत्सर्ग की भावना के आधार पर वीर सेनानियों विद्यार्थियो, विद्वानो, किसानो, मजदूरो और नारियो को व्यक्तिगत रूप से क्रांति द्वारा परतन्त्रता की बेडियाँ काटने के लिए प्रोत्साहित किया है। चतुर्वेदीजी इसी दूसरे वर्ग के कवि है। उनकी देश-भक्ति की कविता मुख्यत क्रियात्मक है। उसमे नि स्वार्थ आत्मोत्सर्ग और आत्म-त्याग की भावना कूट-कूट कर कर भरी हुई है। इसी भावना मे उनके व्यक्तिवाद की परिणति हुई है। 'फूल की चाह' मे वह कहते है :—

> 'चाह नहीं', मै सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
> चाह नही, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
> चाह नहीं, सम्राटो के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
> चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
> 'मुझे तोड़ लेना बन-माली! उस पथ पर देना तुम फेंक।
> मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावे वीर अनेक॥'

'अमर राष्ट्र' मे उनका यह उद्घोष सुनिए :—

'सूली का पथ ही सीखा हूँ, सुविधा सदा बचाता आया ।
मै बलि-पथ का अंगारा हूँ, जीवन-ज्वाल जगाता आया ।।'

गाँधीजी के अहिंसावाद मे चतुर्वेदीजी की आस्था नही है । उनकी 'सिपाहिनी' अपने कृष्ण से कहती है :—

'किन्तु आज तो इस मुरली को रण-भेरी का डंका कर लो,
या कर लो पानीवाली तलवार, उदार ! मारलो, मरलो ।'

चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीय चेतना मे सर्वत्र विद्रोह की हुँकार है । दीन-दुखियो और दलित-पीड़ितो की हूक और वेदना का उनके हृदय पर इतना गहरा प्रभाव है कि वह उन्हे चैन नही लेने देता । इसलिए वह बार-बार क्रांति का आह्वान करते सुनाई देते है :—

'सूरज ! सावधान हो जाओ, मातृ-भूमि ! तुम धरलो धीर,
पश्चिम ! तू भी शीघ्र सभल ले, नीति बदल, बन जा गभीर ।

अपनी इस ललकार मे चतुर्वेदीजी ने अपने युग का पूरी तरह प्रतिनिधित्व किया है । गाधीजी के जीवन-काल मे ही उनके अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति बहुतो का विश्वास नही था । लार्ड कर्जन की बगाल-विभाजन की नीति (स० १९६२) के फलस्वरूप जिस क्रातिकारी दल का जन्म हो चुका था उसकी शाखाएँ देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई थी । चतुर्वेदीजी उस दल के प्रति पूरी सहानुभूति रखते थे और उससे उनका सम्बन्ध भी था । इसलिए वह मरने-मारने से डरनेवाले नही थे । उन्होने खुलकर अग्रेजी सरकार का विरोध किया । जनता की आह और कराह, उसकी बेबसी और वेदना उनके लिए असह्य थी । देखिए, राष्ट्र-देवता के लिए उनका यह कथन कितना मर्मस्पर्शी है :—

'मार डालना, किन्तु क्षेत्र में जरा खड़ा रह लेने दो ।
अपनी बीती श्रीचरणों में कुछ भी तो कह लेने दो ।।'

'अपनी बीती' का विवशतापूर्ण चित्र इन पक्तियो मे देखिए । 'कैदी और कोकिला' मे वह कहते हैं :—

'तुझे मिली हरियाली डाली, मुझे नसीब कोठरी काली।
तेरा नभ भर में संचार, मेरा दस फुट का संसार।
तेरे गीतों उठती आह, रोना भी है मुझे गुनाह।'

चतुर्वेदीजी ने देश के स्वतन्त्रता-संग्राम मे सब कुछ सहन किया है। लेकिन फिर भी उन्होने यही कामना की है :—

'माता! मेरे बधिकों का काली-मर्दन कल्याण करें,
किसी समय उनके हृदयों मे, मानवता का भाव भरे।'

साथ ही उनकी यह कामना भी कितनी सुन्दर है :—

'तू भुजा उठा दे हे जयी! जग चक्कर खाने लगे,
दुखियो के हिय शीतल बनें, जगती-तल हुलसाने लगे।'

चतुर्वेदीजी प्रेम के कवि है। उनका प्रेम मुख्यत राष्ट्र-कल्याण की ओर ही प्रवाहित हुआ है। शृङ्गार और अध्यात्म के क्षेत्र मे भी उन्होने अपने प्रेम का ही परिचय दिया है, लेकिन वह अपनी देश-प्रेम-प्रधान रचनाओ के कारण ही हिन्दी जगत मे प्रसिद्ध है। भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास मे उनकी इन रचनाओ का महत्वपूर्ण स्थान है।

चतुर्वेदीजी की शैली

चतुर्वेदीजी का काव्य मुक्तक-काव्य है। हृदयवादी कवि होने के कारण उन्होने भाव-मुक्तक ही लिखे है। उनके भाव-मुक्तक पाठ्य और गेय, दोनो प्रकार के है। गेय मुक्तको की अपेक्षा पाठ्य मुक्तक अधिक लम्बे हैं और उन पर उनकी वक्तृत्व-शैली की स्पष्ट छाप है। उनकी शैली मे पर्याप्त ओज रहता है। वह अपनी बात अपने ढग से कहते है। इसलिए उनकी शैली अत्यन्त स्वाभाविक है। कृत्रिमता उनकी शैली मे नाम मात्र को भी नही पाई जाती। शब्द-शिल्पी की अपेक्षा वह भाव-शिल्पी अधिक है। लक्षण और व्यजना की अपेक्षा उन्होने शब्दो की अभिधा-शक्ति से ही काम लिया है। इसीलिए उनकी भाषा मे सादगी है। किसी बात को घुमा-फिराकर कहने की उनमे आदत नही है। उनके मुक्तको मे न तो कल्पनाओ की विपुल सृष्टि है और न भावनाओ की विविधता। उनके गीत अधिक सुन्दर हैं।

चतुर्वेदीजी मुख्यतः रसवादी कवि हैं। वीर, शृङ्गार और शान्त के वह

अच्छे कवि है। राष्ट्रीय चेतना-प्रधान रचनाओ मे वीर, प्रेम-प्रधान रचनाओ मे शृङ्गार और अध्यात्म-प्रधान रचनाओ मे शान्त का अच्छा परिपाक हुआ है। इनके वर्णन मे उन्होने अलकारो से सहायता नही के बराबर ली है। उपमा आदि साधारण अलकार ही उन्होने प्रयुक्त किये हैं। उनके छन्द नवीन है। कही-कही उनमे न्यून-पदत्व दोष मिलता है। कुल मिलाकर उनकी शैली मे भावना के वेग के अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

चतुर्वेदीजी की भाषा

चतुर्वेदीजी की भाषा साहित्यिक खड़ीबोली है। उसमे सस्कृत के सरल और परिचित तत्सम शब्दो के साथ-साथ फारसी के चलते हुए शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। कही-कही तुक के आग्रह के कारण ठेठ बोली के 'बिराये', टाँकी', आदि शब्द भी उसमे आ गये है। बेकाबू, बावला, राजी, काफिला, खजाना, जोर आदि फारसी के शब्दो के प्रयोग से उनकी भावना को बल मिला है। कष्ट झेलना, टूट पडना, बोझ ढोना, चूर-चूर होना आदि मुहावरे भी उनकी भाषा मे पाये जाते है। हृदय के स्थान पर 'ही' का प्रयोग भी उन्होने किया है। इस प्रकार उनकी भाषा विशुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली नही है, लेकिन वह सरल, सुबोध और प्रसाद तथा ओज गुणो से युक्त है।

चतुर्वेदीजी भावुक कवि है। भावावेश मे आने पर ही वह कविता करने के लिए लेखनी उठाते है। उस समय उनके पास जैसी भाषा होती है उसीमे वह अपने भाव गूँथते चलते है। भावो के प्रवाह मे उन्हे भाषा का ध्यान नही रहता। यह बात नही कि भाषा पर उनका अधिकार नही है। जिस समय वह बोलते हैं उस समय उनकी भाषा का प्रवाह देखने योग्य होता है। गद्य-रचना मे भी उनकी भाषा उनका साथ देती है। 'साहित्य-देवता' (स० २०००) उनका गद्य-काव्य है। इसकी भाषा मे पर्याप्त लालित्य है। काव्य मे यह लालित्य इसलिए नही आ पाया हैं कि उसमे उनकी भाषा भावो के प्रवाह का वेग नही सभाल सकी है। यही कारण है कि वह कही-कही अस्पष्ट भी हो गये हैं।

---

२२ : जयशंकर प्रसाद

जन्म-सं० १६४६ : मृत्यु-सं० १६६४

जीवन-परिचय

जयशकर प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य परिवार मे माघ शुक्ल १२, सबत् १९४६ को हुआ था। उनके पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था। काशी मे वह 'सुघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। इसीसे लोग प्रसादजी को भी 'सुघनी साहु' कहते थे। वह दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री शम्भूरत्न था। पिता की मृत्यु (सं १९५८) के पश्चात् श्री शम्भूरत्न को ही गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन करना पड़ा। घर का प्रबन्ध तो हो जाता था, लेकिन दूकान पर बैठनेवाला कोई न था। प्रसादजी उस समय काशी के क्वीस कालेज मे सातवी कक्षा के विद्यार्थी थे। उन्हे कालेज से उठाकर उनके बड़े भाई ने उन्हे दूकान का काम सौपा और घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबंध कर दिया। प० दीनबन्धु ब्रह्मचारी प्रसादजी को वेद और उपनिषद् पढाते थे। अग्रेजी शिक्षा का भी उचित प्रबध था। बौद्ध कालीन इतिहास, पुराण, स्मृति आदि गहन विषयो के साथ प्रसादजी हिंदी-साहित्य का भी अध्ययन करते जा रहे थे। उस समय उनके तीन काम थे : कसरत करना, अध्ययन करना और दूकान की देख-रेख रखना। दूकानदारी से उन्हे विशेष प्रेम नही था, पर बड़े भाई के कहने से वह वहाँ बैठा करते थे। वहाँ बैठे-बैठे वह पुराने बहीखाते के पृष्ठो पर समस्यापूर्ति किया करते थे। एक दिन जब इस बात की सूचना उनके बड़े भाई को मिली तब उन्होने प्रसादजी को इस कार्य के लिए बहुत डाँट-फटकार बताई। भाई के कहने से उन्होने दूकान पर कविता करना बन्द कर दिया, लेकिन अवकाश मिलने पर वह गुप्त रूप से कविता करते रहे। कुछ दिनो बाद जब आने-जानेवाले कवियो-द्वारा प्रसादजी की समस्यापूर्ति की प्रशसा होने लगी तब शम्भूरत्नजी ने उन्हे कविता करने की पूरी स्वतत्रता दे दी और फिर थोड़े दिनो बाद ही वह इस असार ससार से बिदा हो गये।

भाई की मृत्यु से प्रसादजी का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। जीवन की

अत्यधिक कठोर परिस्थितयो तथा ऋण के कारण वह अधिक चिन्तित रहा करते थे। ऐसी दशा मे उन्हे अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग बेच कर ऋण-मुक्त होना पड़ा। इस प्रकार ऋण-भार से मुक्त होने पर उन्होने साहित्य-सेवा की ओर ध्यान दिया। उनके समय मे अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र पत्रिकाओ मे एकमात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था। सरस्वती-सम्पादक प० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रसादजी का मत-भेद था, इसलिए प्रसादजी को उक्त पत्र-द्वारा प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना नही थी। ऐसी स्थिति मे उनके आदेशानुसार उनके भाजे श्री अंबिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया। इसी मासिक पत्र से प्रसादजी के साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। यह स० १९६७ की बात है।

प्रसादजी सरल, उदार, मृदु भाषी, स्पष्ट वक्ता और साहसी व्यक्ति थे। दानशीलता उनमे बहुत थी। उन्होने अपनी कहानी अथवा कविता के लिए पुरस्कार के रूप मे कभी एक पैसा नही लिया। हिंदुस्तानी एकेडेमी से ५००) का और काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से २००) का जो पुरस्कार उन्हे मिला था उसे भी उन्होने नागरी-प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। कवि-सम्मेलन मे जाकर कविता पाठ करना अथवा किसी संस्था का सभापति होना उन्हे स्वीकार नही था। उनकी मनोवृत्ति धार्मिक थी। वह शिव के उपासक थे। जीवन का इतना संयम-शील रखने पर भी मृत्यु की भयानक चोट से वह न बच सके। २८ जनवरी सन् १९३७ को वह बीमार पड़े और २२ फरवरी को डाक्टरो ने यह कह दिया कि उन्हे राजयक्ष्मा हो गया है। इस रोग की सूचना पाकर वह अपने जीवन से उदासीन हो गये और अन्तत. कार्तिक शुक्ल, एकादशी, स० १९९४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रसादजी की रचनाएँ

प्रसादजी हिंदी-साहित्य के निष्णात पडित और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उन्होंने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाया था। आरम्भ में उन्होने ब्रजभाषा मे कविताएँ लिखी, लेकिन वह अधिक दिनो तक काव्य की इस पिटी-पिटाई शैली पर न चल सके। उन्होने नाटक, उपन्यास, काव्य, निबन्ध,

आलोचना — इन सब विषयो मे उत्कृष्ट रचनाएँ की। काव्य की दृष्टि से उनकी रचनाओ का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है —

(१) चम्पू—उर्वशी (सं० १९६३-७५), बभ्रुवाहन (स० १९६८)

(२) महाकाव्य—कामायनी (सं० १९९२)

(३) गीति-नाट्य—करुणालय (सं० १९७० ८५)

(४) मुक्तक-प्रबन्ध—प्रेम-राज्य (सं० १९६८), प्रेम-पथिक (सं० १९७१) महाराणा का महत्व (स० १९७५ ८५) और आँसू (स० १९८२ ८८)

(५) मुक्तक-संग्रह—शोकोच्छ्वास (स० १९६१), कानन-कुसुम (स० १९६९:७५:८४), चित्राधार (स० १९७५ ८५), झरना (स० १९७५ ८५) और लहर (स० १९९०)।

इस सूची मे कई काव्य-ग्रथो के सामने दो दो और तीन-तीन सम्वत दिये गये हैं। 'कानन-कुसुम' का प्रथम सस्करण स्वतत्र रूप से प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उसका परिवर्द्धित सस्करण 'चित्राधार' के प्रथम सस्करण के साथ प्रकाशित हुआ और फिर उसका सशोधित सस्करण स्वतत्र रूप से निकला। यही बात 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम-पथिक' के सम्बन्ध मे कही जाती है। इनमे सशोधन और परिवर्द्धन नही किया गया। शेष सभी काव्य-ग्रथोमे प्रथम सस्करण के पश्चात् सशोधन और परिवर्द्धन हुये है। इसलिए उनके सम्वत् अलग-अलग दे दिये गये है। 'चित्राधार' मे दस गद्य-पद्य रचनाएँ छपी थी और उसके दो सस्करण हुये थे।

प्रसादजी की काव्य-प्रतिभा का विकास

खड़ीबोली के तृतीय उत्थान-काल के कवियो मे प्रसादजी का सर्वोच्च स्थान है। उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास धीरे-धीरे हुआ है। सं० १९६५ के आस-पास हिंदी-जगत मे उनका प्रवेश हुआ। उस समय वह ब्रजभाषा मे कविता करते थे। द्विवेदीजी के प्रभाव से उन्होने खड़ीबोली को अपनाया और फिर वह उसमे रचनाएँ करने लगे। लेकिन उन्होने द्विवेदी कालीन नीतिवादी इतिवृत्तात्मक शैलीको नही अपनाया। वह बंगला की गीति-काव्य-शैली से अधिक प्रभावित थे। इसलिए वह उसी ओर झुके। 'करुणालय', 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम' और

'महाराणा का महत्त्व' मे उन्होने वही शैली अपनाई। यहाँ तक (सं० १९७५) पहुँचकर उनके कवि-जीवन के दो प्रारम्भिक अध्याय समाप्त हो गये।

प्रसादजी के कवि-जीवन का तीसरा अध्याय 'झरना' (स० १९७५) के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। हिंदी-काव्य-साहित्य मे उनकी यह अभिनव रचना थी। इसमे उन्होने 'कानन-कुसुम' आदि की शैली से भिन्न स्वच्छदतावाद की काव्य-शैली अपनाई। स्वच्छदतावाद की काव्य-शैली हिंदी-जगत के लिए सर्वथा नवीन नही थी। इस शैली मे उनके पूर्व पं० श्रीधर पाठक (पं० १९१६-८५) आदि रचनाएँ कर चुके थे। प्रसादजी की इस शैली मे उनके अपनेपन के अतिरिक्त यदि कोई उल्लेखनीय विशेषता थी तो वह यह कि इसमे छायावाद के अंकुर वर्तमान थे। इस काव्य के पश्चात् सात वर्ष तक वह नाटक और छायावाद की साधना मे सलग्न रहे। फलस्वरूप सं० १९८२ मे उनकी प्रौढ रचना 'आँसू' का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ। उस समय तक हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओमे छायावादी रचनाएँ अवश्य प्रकाशित होने लगी थी, लेकिन काव्य-सग्रह के रूप मे किसी की रचना सामने नही आई थी। छायावादी काव्य मे 'आँसू' का ही प्रथम स्थान था। इसके पश्चात् स० १९८४ मे 'झरना' का और फिर स० १९८८ मे 'आँसू' का सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण निकला। इस प्रकार प्रसादजी को छायावाद की भाव भूमि पर उतरने मे लगभग १३-१४ वर्ष लग गये।

'आँसू' के द्वितीय सस्करण के पश्चात् स० १९९० मे 'लहर' का प्रकाशन हुआ। इसके प्रकाशन से प्रसादजी के कवि-जीवन का चौथा और अतिम अध्याय प्रारम्भ हुआ। इसमे उन्होने अपना रहस्यवादी दृष्टिकोण व्यक्त कर अपनी काव्य-प्रतिभा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया और फिर इसके दो वर्ष बाद ही स० १९९२ में वह हमे 'कामायनी' जैसा अद्भुत महाकाव्य देने मे समर्थ हुये। यह महाकाव्य छायावाद-रहस्यवाद-युग की अभूतपूर्व देन है। इसके मुकाबले का महाकाव्य हिंदी मे अब तक नही लिखा गया है।

प्रसादजी की काव्य-प्रवृत्तियाँ

सं० १९१४ के प्रथम स्वतंत्रता-सग्राम के विफल होने पर जब सम्पूर्ण देश एक शासन-सूत्र मे बँध गया और पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के

शिक्षित भारतीयो का सम्पर्क स्थापित हुआ तब उसके प्रभाव से उन्होने भी अपने देश, समाज और साहित्य के उत्थान पर ध्यान देना आरम्भ किया। पहले देश-व्यापी सामाजिक आदोलन आरम्भ हुए। इन आदोलनो से देश मे सामाजिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ और अपनी मातृ-भाषा की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ। इससे सामाजिक आदोलन के साथ-साथ मातृ-भाषा के क्षेत्र मे भी आदोलन आरम्भ हो गये। इसी बीच स० १९४० मे इडियन नेशनल काग्रेस का जन्म हुआ।

आरम्भ मे इण्डियन नेशनल काग्रेस का रूप प्रतिक्रियावादी नही था, लेकिन ज्यो-ज्यो इसके तत्वावधान मे राजनीतिक सुधारो और अधिकारो की माग होती गई त्यो-त्यो इसका रूप उग्र होता गया। प्रसादजी ने जिस समय लेखनी उठाई उस समय इसमे पर्याप्त उग्रता का समावेश हो चुका था। पकड़-धकड़ आरम्भ हो गई थी और देश-भक्त जेलो मे बन्द किये जा रहे थे। सामाजिक आदोलन भी अपनी चरम सीमा पर थे। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, सनातन-धर्म आदि अनेक सामाजिक आदोलन भारतीयो मे नई चेतना और साहस का सचार कर रहे थे। इन सब आदोलनो से बाह्य प्रभावो को ग्रहण कर द्विवेदी-युग (स० १९५०-७५) के कवि अपनी नीतिवादी इतिवृत्तात्मक रचनाओ मे सलग्न थे। प्रसादजी की काव्य-वृत्ति इन सब के अनुकूल नही थी। अपने देश से उन्हे प्रेम था। वह उसकी स्वतन्त्रता के पोषक थे। वह समाज-सुधार के भी पक्ष मे थे। पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्ति से भी वह प्रभावित थे। लेकिन फिर भी वह इन सबको अपने काव्य मे स्थान न दे सके।

प्रसादजी का विरोध द्विवेदी-युग के काव्य-विषय से उतना नही था जितना उसकी नीतिवादी शैली से था। अँगरेजी कवि कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ आदि कवियो की रचनाओ के प्रभाव से बगला-काव्य मे 'प्रकृति-प्रेम-सबन्धी' नवीन उद्भावनाओ और कल्पनाओ की जो सृष्टि हो रही थी, वह उन्हे अधिक प्रिय थी। इसलिए उन्होने उस काव्य-शैलीको अपनी सास्कृतिक चेतना के आधार पर अपनाकर अतुकात छन्दो मे गीतो की रचना की। इस चेष्टा मे उन्हे आरम्भ मे सफलता नही मिली, लेकिन ज्यो-ज्यो उनका अभ्यास बढ़ता गया त्यो-त्यो उनके मुक्तको में प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, मानव-प्रेम आदि से सबंध रखनेवाली अनुभूतिया जोर

पकडती गयी । उनके प्रकृति-प्रेम ने ही आगे चलकर छायावाद और रहस्यवाद का रूप धारण किया। इस दृष्टिसे 'झरना', 'आँसू' और 'लहर' उनके प्रतिनिधि काव्य-ग्रंथ है । इन्ही काव्य-ग्रन्थो के आधार पर वह छायावाद-रहस्यवाद-युग के प्रवर्तक माने जाते है। हिन्दी-काव्य को द्विवेदी युग की नीतिवादी इतिवृत्ति-मूलक भावना से मुक्त कर उसे स्वच्छन्दतावाद की प्रौढ भाव-भूमि पर अग्रसर करनेवाले वह हिंदी के प्रथम कवि हैं।

प्रसादजी यान्त्रिक सभ्यता के घोर विरोधी है । इस सभ्यता का जनक है–पूँजीवाद। पूँजीवादमे हृदय-पक्षकी अपेक्षा बुद्धि-पक्ष का प्राबल्य अधिक रहता है। इसलिए यान्त्रिक सभ्यता मानव-समाज मे शोषण, उत्पीडन, अहकार, स्वार्थ-साधन, सत्ता-मद और वर्ग-भेद उत्पन्न कर उसे विनाश के पथ पर अग्रसर कर देती है । प्रसादजी ने अपने युग मे यह सब देखा और इन अमानवीय मान्यताओ से प्रभावित होकर उन्होने अपने काव्य मे इनके प्रति विद्रोह किया और इनके स्थान पर सहानुभूति, प्रेम, सहयोग आदि उच्च भावनाओ की स्थापना की। इस दृष्टि से 'कामायनी' उनका प्रतिनिधि महाकाव्य है । इसमे मनु को इडा (बुद्धि) और श्रद्धा (हृदय) के बीच डगमगाते हुये दिखाकर अन्त मे उन्हे श्रद्धा (हृदय) के प्रेम-बन्धन मे बँधा हुआ दिखाया गया है । इस प्रकार प्रसादजी ने अपनी संस्कृति के अनुरूप श्रद्धा की विजय दिखाकर वास्तव मे मानवता की विजय घोषित की है। आज के प्रतिस्पर्धापूर्ण राष्ट्रो के लिए 'कामायनी' का यह सन्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

धार्मिक क्षेत्र में प्रसादजी शैव-दर्शन से प्रभावित है। शैव-दर्शन के अनुसार जीव को तब तक विश्राम नही मिलता जबतक उसका पुनः अपने आनन्दमय स्थान मे प्रवेश नही होता । अत उसमे प्रवेश पाने के लिए उसे सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए । लेकिन उसके प्रयत्न मे बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष की प्रधानता होनी चाहिए । मनु को आनन्द-लोक मे ले जानेवाली श्रद्धा ही है।

प्रसादजी की काव्य-साधना

प्रसादजी मूलत. कल्पना और भावना के कवि है । अपनी समस्त रचनाओ मे उन्होने अपने कवि-हृदय को ही प्रधानता दी है । उनके नाटको के सुन्दर गीत उनके कवि-हृदय के ही परिचायक है। उपन्यासो और कहानियो की भाषा मे भी

गद्य-काव्य का-सा लालित्य है। अपनी कल्पना और भावना के स्पर्श से उन्होंने अपनी समस्त कृतियो मे काव्य-सौदर्य का विधान किया है। भावना के क्षेत्र मे वह मुख्यत: प्रेम और सौन्दर्य के कवि है। सौदर्य के भौतिक आकर्षण की उन्होने अवहेलना नही की है, लेकिन उसको ऐन्द्रिकता के भार से ग्रसित नही किया है। देखिए, नारी-सौंदर्य का यह चित्र कितना दिव्य है .—

'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।'

गर्भवती 'श्रद्धा' का चित्र देखिए —

'केतकी गर्भ-सा पीला मुह, आखों मे आलस-भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी कपित लतिका-सी लिये देह।'

इसी के साथ चिंतित मनु का भी चित्र देख लीजिए :—

'तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान।
नीचे प्रलय-सिंधु-लहरों का, होता था सकरुण अवसान।'

प्रसादजी के काव्य मे उनकी प्रेम-भावना ने कई रूप धारण किये हैं। सबसे पहले उनका देश-प्रेम इन पक्तियो मे देखिए। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में 'कर्नीलिया' गाती है :—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन-हरियाली पर, मगल कुंकुम सारा।'

प्रसादजी राष्ट्र-प्रेमी होने के साथ-साथ मानवता-प्रेमी भी थे। इसलिए वह पूंजीवादी सभ्यता-द्वारा उत्पन्न शोषण, उत्पीड़न, युद्ध, जन-सहार आदि के विरोधी और विश्व-शाति के पक्षपाती थे। 'जिओ और जीने दो' उनका आदर्श था : —

'क्यों इतना आतङ्क ठहर जाओ गर्वीले।
जीने दे सबको, फिर तू भी सुख से जीले॥'

इस आदर्श की स्थापना और पूँजीवादी सभ्यता का सस्कार करने के लिए उन्होने करुणा का आह्वान किया है .—

'करुणा-कादम्बिनी ? बरसो,
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम प्रचार रहे जगती तल दया-दान दर से।
मिटे कलह, शुभ शाति प्रकट हो अचर और चर से॥'

वैज्ञानिक अन्वेषणो के कारण विश्व पर जो आतक छा गया है उसे दूर करने के लिए प्रसादजी यह सुझाव देते है :—

'शक्ति के विद्युत-कण जो व्यस्त-विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय॥'

'आँसू' प्रसादजी का वेदना-प्रधान काव्य है। इसमे उनका अपना वैयक्तिक जीवन पारिवारिक क्लेशो तथा विश्व-वेदना की चोट खाकर द्रवित हो उठा है। करुण रस की जैसी धारा इसमे बहाई गई है वैसी अन्यत्र देखने को नही मिलती। उदाहरणार्थ निम्न पक्तियाँ लीजिए —

'वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कही न दिया दिखाई, विश्राम कहा जीवन में।
चुन-चुन ले रे कन-कन से जगती की सजग व्यथाएँ,
रह जायेंगी कहने को जन-रजन-करी कथाएँ॥'

प्रसादजी ने अपने काव्य मे नारी-भावना को भी स्थान दिया है। इस दृष्टि से उनका महाकाव्य 'कामायनी' सर्वोत्तम है। 'कामायनी' मे 'श्रद्धा' नारी का प्रतीक है। नारी अपने इसी रूप मे पुरुष की चिरसगिनी है। वह (श्रद्धा) पुरुष (मनु) के नीति-च्युत हो जाने पर भी उसका साथ नही छोडती और उसको कल्याण का मार्ग दिखाती है। इस प्रकार पुरुष के जीवन मे नारी ही सौदर्य, सतुलन और शक्ति का विधान करती है। नारी मे इस गुण का आविर्भाव आत्मसमर्पण-द्वारा होता है। वह अपना सब कुछ खोकर पुरुष के जीवन को सार्थक करती है। इसी लिए प्रसादजी ने कहा है —

'नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत-नग पग-तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥'

प्रसादजी प्रकृति-प्रेमी भी हैं। उनके प्रकृति-प्रेम ने ही उनके काव्य का

शृङ्गार किया है। लेकिन उनके प्रकृति-चित्रण की शैली सर्वथा भिन्न है। उन्होने प्रकृति मे अपने भावो की छाया देखी है और वह उससे अपना संबंध जोड़ने के लिए आकुल हो उठे है। 'लहर' से सूर्योदय का यह सुन्दर चित्र लीजिए —

'अन्तरिक्ष मे अभी सो रही हैं ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज बात,
लेते अगड़ाई नीड़ों मे अलस बिहग मृदु गात।
रजनी-रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी? तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला॥'

प्रकृति का यह चित्रण हिंदी मे छायावाद कहा जाता है। लेकिन जब प्रकृति प्रेम ईश्वरोन्मुख हो जाता है तब उसे रहस्यवाद की सज्ञा दी जाती है —

'सर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका,वह अस्तित्व कहाँ॥
हे विराट! हे विश्व-देव! तुम हो, ऐसा होता है भान।
मन्द समीर धीर-स्वर-सयुत यही कर रहा सागर गान॥'

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसादजी अपने कवि-रूप मे अत्यन्त समर्थ है। उन्होने हिंदी काव्य को जिन भावो, विचारो और कल्पनाओ से सम्पन्न किया है उनका स्थायी महत्व है। आजकी यात्रिक सभ्यता मे पीड़ित और शोषित मानव को उन्होने 'कामायनी' द्वारा जो सदेश दिया है वह अमर है।

प्रसादजी की शैली

प्रसादजी की शैली ठोस, स्पष्ट, परिष्कृत और स्वाभाविक है और वह उनके विषय, उनके गभीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। इसलिए समस्त आधुनिक साहित्य मे उनका एक वाक्य भी छिप नही सकता। वह अपने प्रत्येक पद मे बोलते हुए-से जान पड़ते है। छोटे-छोटे पदो मे गम्भीर-भाव भर देना और फिर उनमे सगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। विषय के अनुसार वह अपनी शैली मे कही गम्भीर और कही सहृदय हैं। देश-प्रेम की भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी

शैली मे समा जाता है। चित्रोपमता उनकी शैली की विशेषता है। उनके शब्द-चित्र बडे सार्थक और मनमोहक होते है।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से उनकी शैली पाँच प्रकार की है : (१) मुक्तक काव्य, (२) प्रबन्ध-काव्य, (३) गीति-नाट्य, (४) चपू और (५) मुक्तक-प्रबन्ध। 'लहर' और 'झरना' मुक्तक-काव्य के उदाहरण है। 'कामायनी' प्रबन्ध-काव्य है। 'करुणालय' गीति-नाट्य है। 'उर्वशी' चपू है और 'आँसू' मुक्तक-प्रबन्ध है। इसमे मुक्तक छन्दो के माध्यम से वेदना को प्रबन्धात्मक रूप दिया गया है। 'प्रेम-पथिक' छोटा खण्ड-काव्य है। इन सभी काव्यो मे हिन्दी के आधुनिक छदो के अतिरिक्त कवित्त, ताटक, रोला, सार, रूपमाला, आँसू और अनुकान्त छद अपनाये गये है। उर्दू के छद और बगला के 'पयार' छद का भी उन्होने [illegible] किया है।

प्रसादजी हिन्दी के रसवादी कवि है। इसलिए उनकी रचनाओ मे शृङ्गार, वीर, करुण, शान्त, वात्सल्य आदि के सुन्दर उदाहरण मिलते है। इन रसो के अतिरिक्त अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप देने मे भी उनकी कला अद्वितीय है। "चिन्ता" का यह मूर्त-चित्र देखिए :—

'हे अभाव की चपल बालिके! री ललाट की खल रेखा!
हरी-भरी सी-दौड़-धूप ओ जल-माया की चल-रेखा॥'

प्रसादजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार है। भाव-अनुभावो के चित्रण के साथ-साथ उन्होने अपनी भाषा का भी शृङ्गार किया है। भाषा का शृङ्गार करने मे उन्होने दो युक्तियो से काम लिया है (१) लक्षणा के प्रयोग-द्वारा और (२) अलंकारो के प्रयोग-द्वारा। लक्षणा का प्रयोग इन पंक्तियो मे देखिए :—

'जगी वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोती शीतल जल मे।'

*   *   *

'मुझको काँटे ही मिले धन्य हो सफल तुम्हे ही कुसुम कुज।'

प्रसादजी ने अलकारो के प्रयोग मे भी अपनी भाषा को [illegible]-सवारा है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास आदि अलकारो का [illegible] प्रयोग उनकी भाषा मे पाया जाता है। इनके अतिरिक्त विशेषण-विपर्यय के उदाहरण भी उनकी रचनाओ मे यत्र-तत्र मिलते है :—

'हिंसक हुंकारों से नत मस्तक आज हुआ कलिंग।'

इसमें 'हिंसक' वास्तव मे, 'सैनिको' का विशेषण है, लेकिन इसका प्रयोग 'हुंकारो' के विशेषण के रूप मे हुआ है। इन विशेषताओं के साथ ही प्रसादजी की शैली मे यत्र-तत्र व्याकरण-सबधी अनेक दोष हैं। छन्दो मे न्यून पदत्व-दोष भी पाया जाता है।

प्रसादजी की भाषा

प्रसादजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है। यह हमे दो रूपों मे मिलती है : (१) सरल और (२) क्लिष्ट। आरभ मे उनकी रचनाओ की भाषा प्राय: सरल थी, लेकिन ज्यो-ज्यो उनका अध्ययन बढता गया और भावो मे परिपक्वता आती गयी त्यो-त्यो उनकी भाषा गभीर होती गयी। इसीलिए बाद की उनकी सस्कृत-गर्भित भाषा मिलती है। मनोभावो का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गभीर विषयो के विवेचन मे ही उन्होने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। पर उसकी स्वाभाविकता और प्रवाह मे बाधा नही पड़ी है। उनकी इस भाषा मे प्रयत्न नही है। सस्कृत-साहित्य के ग्रंथो के गंभीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारो का अनुगमन करती है। उनका शब्द-चयन अद्वितीय है। उनकी रचनाओ मे एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा होता है। उनके वाक्य उनकी विचार-धारा के साथ-साथ चलते है और विचारो की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। उनकी रचनाओ मे गूढ वाक्य प्राय: सूत्र की भाँति प्रतीत होते हैं। मुहावरो का उनकी रचनाओ मे अभाव है, लेकिन इनके स्थान पर उनमें उन्होने स्वाभाविक संगीत का विधान किया है। इस सगीत मे अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठको को बरबस अपनी ओर खीच लेती है। इसीलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नही करते।

का उन्हें बचपन से शौक है। अपने गुरु की प्रेरणा से वह चौथी कक्षा से ही सवैया, घनाक्षरी आदि रचने लगे थे। उसी समय उनका पहला लेख अलीगढ से निकलने वाले पत्र 'शिक्षा-प्रभाकर' मे प्रकाशित हुआ था। इससे उन्हे बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ मारवाड़ से हुआ। वहाँ रहकर उन्होंने अनेक कविताएँ तथा पुस्तकें लिखी। स १९९८ से 'हिन्दी-मन्दिर' और प्रेस का काम बन्द करके वह सुलतानपुर (अवध) मे मकान बनवाकर रहने लगे। इधर कुछ दिनो से वह कोइरीपुर मे रहते है।

त्रिपाठीजी की रचनाएँ

त्रिपाठीजी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक है। उनका रचनाकाल स० १९६७ से आरम्भ होता है। उनकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की है। उन्होने अनेक विषयो पर कुछ न-कुछ लिखा है। वह कवि, नाटककार, उपन्यासकार— सब एक साथ है। हिन्दी मे बाल-साहित्य को उनसे विशेष प्रोत्साहन मिला है। कोष आदि की भी उन्होने रचना की है। यहाँ हम उनकी सपूर्ण रचनाएँ न देकर केवल सपादित और मौलिक काव्यो पर विचार करेंगे —

(१) **मुक्तक काव्य**—कविता-विनोद (स० १९७१) और मानसी (स० १९८४)।

(२) **मुक्तक-प्रबन्ध**—क्या होम रूल लोगे? स० १९७५)।

(३) **खण्ड-काव्य**— मिलन (स० १९७५), पथिक (स० १९७८) और स्वप्न (सं० १९८६)।

(४) **सपादित-काव्य**—कविता-कौमुदी प्रथम भाग (स० १९७४) द्वितीय भाग (स० १९७७, तृतीय भाग (स० १९७८) और चतुर्थ भाग (स० १९८०), रहीम ग्राम-गीत (स० १९८२), सोहर (स० १९९४), घाघ और भड्डरी (स० १९८८), रामचरितमानस (सं० १९९३), मारवाड़ के मनोहर गीत सुदामाचरित, पार्वती मगल, चिन्तामणि, सुकवि-कौमुदी, शिवा-बावनी और भूषण ग्रथावली (स० १९७४)।

त्रिपाठीजी की काव्य-साधना

खडीबोली के द्वितीय उत्थान-काल के कवियो मे त्रिपाठीजी का महत्त्व-

पूर्ण स्थान है। उनकी हिन्दी-सेवा दो रूपों में व्यक्त हुई है (१) संकलन के रूप में और (२) मौलिक काव्य के रूप में। संकलन के रूप में 'कविता-कौमुदी' के चार भाग और 'ग्राम-गीत' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। हिन्दी के अनेक भूले-भटके कवियों, उर्दू के शायरों और संस्कृत-काव्य के उन्नायकों को 'कविता-कौमुदी' ने स्थान देकर उन्होंने हिन्दी के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसी प्रकार उनके 'ग्राम-गीतों' का संग्रह हिन्दी के लोक-साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। आज भारत के प्रत्येक प्रदेश में लोक गीतों की चर्चा बड़े जोर से हो रही है लेकिन जिस समय त्रिपाठीजी ने इस ओर कदम उठाया था उस समय वह अपने इस क्षेत्र के प्रथम प्रवर्तक थे। उन्होंने भारत की विभिन्न बोलियों के लोक-गीतों का संग्रह कर अन्य प्रादेशिक साहित्यकारों का ध्यान इनके महत्त्व की ओर आकृष्ट किया। फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में लोक-गीतों के उत्कृष्ट संग्रह प्रकाशित हो गये। इस दृष्टि से त्रिपाठीजी की सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं।

मौलिक-कवि के रूप में त्रिपाठीजी ने हमें तीन खण्ड-काव्य और दो मुक्तक काव्य-संग्रह दिये हैं। इन रचनाओं में वह एक आदर्शवादी कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने देश, अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता के प्रति उनका विशेष अनुराग है। इन सबका समावेश उन्होंने अपने काव्यों में राष्ट्रीय भावना के अन्तर्गत किया है। 'मिलन', 'पथिक', और 'स्वप्न' उनके तीन खण्ड-काव्य हैं। इनकी रचना उस समय की गई है जब महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप सम्पूर्ण देश राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था। त्रिपाठीजी ने इसी मूल भावना का चित्रण तीन आदर्शोन्मुखी काल्पनिक कथाओं के माध्यम से किया है। इनके पात्र उनकी देश-प्रेम-भावना के प्रतीक बनकर ही सामने आते हैं। इसलिए इन पात्रों में सामाजिक चेतना का विकास नहीं हो पाया है। वास्तव में ये गढ़े-गढ़ाये पात्र हैं जो युग की चेतना के प्रतीक बनकर चमक उठे हैं। काल्पनिक कथानकों में भी विविधता नहीं है। समान उद्देश्य होने के कारण उनकी रोचकता कम हो गई है। 'पथिक' और 'मिलन' की अपेक्षा 'स्वप्न' के कथानक में मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व का समावेश होने से उसका महत्त्व बढ़ गया है। अन्त की दृष्टि से त्रिपाठीजी के तीनों काव्य मंगलमय हैं। उनमें कवित्व भी पाया जाता

है। त्रिपाठीजी प्रकृति के अच्छे चित्रकार है। प्रकृति का यथावथ्य काव्यमय चित्रण करने मे उनकी कला अत्यन्त सराहनीय है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ लीजिए.—

'प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रग-विरग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।'
छिटक रही थी दिव्य चाँदनी, पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना मे पत्ते हिलते थे, जल छुप-छुप करता था॥

'स्वप्न' मे त्रिपाठीजी ने प्रकृति की उत्फुल्लता मे किसी रहस्यमय की कल्पना की है :—

'घन मे किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस हँस कर।
किसके लिए उषा उठती है, प्रतिदिन कर शृङ्गार मनोहर॥'

मानवीय मुद्राओ के अकन मे भी त्रिपाठीजी सिद्धस्त है। देखिए —

'बाहु-बद्ध कर पद-स्तंभ को, चिन्ता-ग्रसित अधीर।
घुटनो मध्य चिबुक रख कपित थर-थर अबल शरीर॥'

'पथिक' मे त्रिपाठीजी ने विरह-वेदना का सजीव चित्रण किया है। ज्येष्ठ मास मे पथिक की पत्नी की चिन्ता इन पंक्तियो मे देखिए :—

'हवा हो गई प्राण-हारिणी, हुए जल स्थल ताते।
मेरे पथिक सघन छाया मे, होगे कहाँ जुड़ाते॥'

और बरसात के दिनो मे वह सोचती है —

'रिमझिम बरस रहे सावन-घन, उमड घुमड़ अलबेले।
तरु-तल कहीं बिताने होगे, मेरे पथिक अकेले।'

'स्पप्न' मे राष्ट्रीयता का यह उद्धव घोष सुनिए :—

'देश आत्मा-बलिदान तुम्हारा, माँग रहा है आज वरबर।
दिग्विजयी वीरो के वंशज युवको! उठो सगठित होकर।'

'मानसी' और 'कविता-विनोद' त्रिपाठीजी के मुक्तक काव्य-संग्रह हैं। इनमे भावपरक और विचारपरक दोनो प्रकार की रचनाएँ मिलती है। सूक्ति और नीति के पद विचारपरक हैं, शेष भावपरक। भावपरक रचनाओ मे देश-प्रेम और भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान मिला है। त्रिपाठीजी का देश-प्रेम इन पंक्तियो मे देखिए :—

'विजयी बली जहा के बेजोड़ सूरमा थे।
गुरु द्रोण भीम, अर्जुन, वह देश कौन-सा है ?'
जिसमे दधीचि दानी हरिश्चन्द्र, कर्ण-से थे।
सब लोक के हितैषी, वह देश कौन-सा है ?'

स्वदेश-प्रेम' की निम्न पंक्तियाँ भी अत्यन्त सुन्दर है

'शोभित हैं सर्वोच्च मुकुट से, जिनके दिव्य देश का मस्तक।
गूज रही है सकल दिशाए, जिनके जय-गीतो से अब तक ॥'

त्रिपाठीजी देश-प्रेम को मानवता के विकास मे भी सहायक मानते है, क्योकि उसमे त्याग की भावना रहती है। त्याग से आत्मा का विकास होता है और आत्मा के विकास से मानवता विकसित होती है —

'देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है, अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें, मनुष्यता होती है विकसित ॥'

देश-प्रेमी और मानव-प्रेमी होने के साथ-साथ त्रिपाठीजी ईश्वर-प्रेमी भी है। उनका भगवान महलो और मदिरो मे निवास नहीं करता। वह दीन-दुखियो के हृदय मे निवास करता है। इसलिए उसे वहाँ खोजना चाहिए —

'मैं ढूढता तुझे था जब कुञ्ज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन मे।
तू आह बन किसी का मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन मे ॥'

त्रिपाठीजी की रचनाओ पर गांधीवाद के व्यावहारिक पक्ष का पूरा प्रभाव है। त्याग और सेवा उनके काव्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ है। प्रेम का वास्तविक रूप इन्ही प्रवृत्तियो को जीवन मे उतारने से सफल होता है —

'सच्चा प्रेम वही है, जिसकी तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥'

त्रिपाठीजी की शैली

त्रिपाठीजी अपने समय के अच्छे शैलीकार है। विषय और भाव के अनुरूप उनकी शैली बदलती रहती है। इसलिए उनकी शैली स्वाभाविक और स्वच्छ है।

अपनी बात को वह घुमा-फिराकर कहना नहीं जानते। उन्होंने अधिकांश शब्द की अभिधा शक्ति से ही काम लिया है। शब्द की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग उन्होंने यत्र तत्र प्रकृति-चित्रण में ही किया है। इससे उनकी शैली में सरलता आ गई है। हिन्दी के वह उपत्र गितावादा कवि है। उन्होंने अपने मन-बहलाव के लिए नहीं, जन-जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कविताएँ लिखी हैं। इसलिए उन्होंने सर्वत्र अपनी भाषा को सरल, उपयोगी और प्रभावोत्पादक बनाने की चेष्टा की है।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से त्रिपाठीजी की शैली दो प्रकार की है. वर्णनात्मक और (२) भावात्मक। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग खण्ड-काव्यों में किया गया है। इनमें त्रिपाठीजी ने जो विषय उठाये हैं उनका उन्होंने सजीव चित्रण किया है। कथा-प्रवाह के बीच कहीं कहीं भावात्मक शैली भी मिल जाती है, लेकिन इस शैली का प्रयोग मुख्यतः मुक्तकों में ही हुआ है। त्रिपाठीजी ने अपने इन काव्यों में हिन्दी के प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के छन्दों का अधिकार-पूर्वक प्रयोग किया है। उर्दू-छंदों को हिन्दी के साँचे में ढालने में भी उन्हें सफलता मिली है।

त्रिपाठीजी रसवादी कवि हैं। शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का उन्होंने अत्यन्त मर्यादित चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त वीर, शान्त, करुण आदि रसों के परिपाक में भी उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उन्होंने अपने भावों पर पूरा नियन्त्रण रखा है। इसलिए वह भाव और भाषा के बीच सामंजस्य स्थापित करने में सफल हुए हैं। भाव और भाषा का जैसा सुन्दर संतुलन उनकी रचनाओं में पाया जाता है वैसा उनके समय के अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं मिलता। अपनी भाषा को सजाने-सँवारने और भावों को उद्दीप्त करने के लिए उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि हिन्दी के सरल अलंकारों का ही प्रयोग किया है। अलंकारों के बोझ से उनकी कविता बोझिल नहीं है। उसमें स्वाभाविक रूप से ही अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

त्रिपाठीजी की भाषा

त्रिपाठीजी की भाषा साहित्यिक खड़ीबोली है और उस पर उनका अच्छा अधिकार है। ब्रजभाषा, अवधी, उर्दू, फारसी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती

आदि भाषाओ के वह अच्छे जानकार है, इसलिए उन्होने इन सब भाषाओ से प्रेरणा ग्रहण की है भाषा के क्षेत्र मे जहाँ अधिकतर कवि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण व्याकरण के नियमो की उपेक्षा कर देते है वहाँ वह उसकी छोटी से-छोटी भूलो को भी सहन करने के लिए तैयार नही है। वह व्याकरण के नियमो से बधी हुई भाषा के पक्षपाती है। उनकी भाषा की यह विशेषता उन्हे छंदबेगों के कवियो मे बहुत ऊँचा उठा देती है उनकी रचनाओ मे न तो अनावश्यक शब्दो की ठूँस-ठाँस है और न पद रचना ही शिथिल है। शब्दो के काव्योचित सुन्दर प्रयोग से उनकी भाषा सरस, सुबोध, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो गई है।

त्रिपाठीजी ने अपनी भाषा मे सस्कृत के प्रचलित तत्सम शब्दो का ही प्रयोग किया है। इनके साथ कही-कही बोल-चाल और फारसी के शब्द भी आ गये हैं। फारसी के शब्द—चमन, वतन, ख्याल आदि उनकी भाषा मे इस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं कि उनके विजातीय होने का आभास नही होता। सस्कृत के तत्सम शब्द सरल और क्लिष्ट, दोनो प्रकार के है। जहाँ क्लिष्ट तत्समो का अधिक प्रयोग हुआ है वहाँ उनकी भाषा क्लिष्ट अवश्य है, लेकिन उसने भावो के प्रसार पर आघात नही किया है। त्रिपाठीजी गभीर विषयो का प्रतिपादन करते समय भी अपनी भाषा पर अधिकार रखते है। यही कारण है कि उन्होने क्लिष्ट भाषा का यत्र-तत्र ही प्रयोग किया है और वह भी विवश होकर। उनकी रचनाओ मे प्राय सरल तत्सम-शब्द-प्रधान भाषा ही मिलती है। सरल-से-सरल भाषा का प्रयोग उन्होने अपने बाल-साहित्य मे किया है। इन तीनो प्रकार की भाषाओ मे उन्होने अपने विषय और भाव के अनुसार ही प्रसाद, माधुर्य अथवा ओज गुण को स्थान दिया है।

२४ : ठाकुर गोपालशरण सिंह

जन्म-स० १९४८

जीवन-परिचय

ठाकुर गोपालशरण सिह का जन्म पौष-शुक्ल प्रतिपदा स० १९४८, तद्नुसार १ जनवरी सन् १८९२ ई० को रीवाँ राज्यातर्गत नईगढी मे हुआ था। उनकी माता का नाम श्रीमती प्रभुराज कुँअरि और उनके पिता का नाम ठाकुर जगद्बहादुर सिंह था। उनके पिताजी सस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उनकी देख-रेख मे गोपालशरण सिंह की शिक्षा आरम्भ हुई। हिंदी की साधारण योग्यता हो जाने पर उन्हे संस्कृत का अभ्यास कराया गया। १३ वर्ष की अवस्था मे उन्होने अंगरेजी पढना आरभ किया। इसी वर्ष उनके पिता का देहान्त हो गया, पर वह बराबर पढते रहे। स० १९६७ मे उन्होने मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह प्रयाग आए और म्योर सेंट्रल कालेज मे पढने लगे। कुछ समय तक यहाँ पढने के पश्चात् कई कारणो से उन्हे कालेज की पढाई से हाथ खीच लेना पड़ा। ऐसी दशा मे उन्होने घर पर ही कई विषयो की योग्यता प्राप्त की।

ठाकुर साहब बचपन से ही कविता-प्रेमी है। १०-११ वर्ष की अवस्था से ही वह हिन्दी के प्राचीन कवियो की रचनाएँ बड़े चाव से पढा करते थे। सस्कृत मे भी उनकी अभिरुचि काव्य की ही ओर विशेष रूप से थी। फलतः कालेज छोड़ने के पश्चात् वह काव्य-रचना की ओर आकृष्ट हुए। पहले उन्होने ब्रजभाषा मे कविता करना आरम्भ किया, पर जब खड़ीबोली से उनका सम्पर्क हुआ तब वह बोल-चाल की भाषा मे कविता करने लगे। इस दिशा मे उन्हें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके सहयोग से 'सरस्वती' मे उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रही। स० १९७३ के बाद जब इलाके का प्रबन्ध उनके हाथ मे आ गया तब ५-६ वर्ष तक उन्हें 'सरस्वती' की सेवा से विश्राम लेना पड़ा, पर प्रबन्ध के कार्य में सुगमता होते ही उन्होने फिर कविता करना आरंभ किया। तब से अब तक वह बराबर कविता कर रहे हैं।

ठाकुर साहब की रचनाएँ

ठाकुर साहब की रचनाएँ हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ठ स्थान रखती हैं। उनका रचना-काल स० १९५८ है। उस समय से अब तक उन्होंने कई कविता-पुस्तको की रचना की है। वह मूलत कवि हैं और इसी रूप मे वह हिन्दी मे सम्मानित है। गद्य वह बहुत कम लिखते है। अब तक की उनकी रचनाएँ इस प्रकार है :—

(१) महाकाव्य—जगदालोक (स० २००९)

(२) मुक्तक-काव्य—माधवी (स० १९९५), कादबिनी (स० १९९४) ज्योतिष्मती (स० १९९५), मानवी (स०१९९५), सचिता (स०१९९६), सुमना (स० १९९८), सागरिका (स० २००१), विश्वगीत (स० २००२), प्रेमाजलि (स० २००८) और ग्रामिका (स० २००८)

इनमे से 'ग्रामिका' और 'जगदालोक' उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत है। 'आधुनिक कवि' भाग ४ मे भी उनकी चुनी हुई कविताएँ सगृहीत है। इसमे दी हुई प्राय. वही रचनाएँ है जो उनके अन्य मुक्तक-काव्य-सग्रहो मे मिलती है। इसकी विशेषता केवल इसलिए है कि उन्होंने अपनी उत्कृष्ट कविताओ के साथ ही इसमे अपना काव्यगत दृष्टिकोण भी व्यक्त किया है।

ठाकुर साहब की काव्य-साधना

खड़ीबोली के द्वितीय उत्थान-काल के कवियो मे ठाकुर साहब का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के वह हृदयवादी कवि है उनमे जब भावो का उद्रेक होता है तब वह उन्हे कविता के माध्यम से व्यक्त करने लगते हैं। यही कारण है कि उनकी काव्य-सरिता किसी सुनिश्चित पथ का अनुसरण नही करती। यह विशेषता हिन्दी के बहुत कम कवियो मे देखने को मिलती है।

ठाकुर साहब की प्रारम्भिक कविताएँ 'माधवी' और 'सचिता' मे संगृहीत है। इन कविताओ में वह 'प्रेम और उल्लास' के कवि ज्ञात होते है। यही 'प्रेम और उल्लास' उनके कवि-जीवन का सबल है। उनकी रचनाओ के विविध विषय है, लेकिन उन सब विषयो मे उन्होंने अपने 'प्रेम और उल्लास' का ही चित्रण किया है। इसीलिए वह मूलतः प्रेम और उल्लास' के कवि हैं। प्रकृति, परिवार, समाज

राष्ट्र, ब्रज—इन सबसे उन्हें प्रेरणा मिली है और इनका, किसी न-किसी रूप में उन्होंने चित्रण किया है। इन सभी विषयों पर आधारित उनकी रचनाओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक आग्रह है। इसलिए हिन्दी के वह यथार्थवादी कवि माने जाते है। उन्होंने पृथ्वी पर रहकर पृथ्वी की ही बातें की हैं और यही उनकी कामना भी है —

'पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे।'

ठाकुर साहब के मुक्तक ही हिन्दी-जगत में अधिक लोक-प्रिय हैं। विषय के अनुसार इनका विभाजन इस प्रकार हो सकता है —

(१) प्रकृति-चित्रण—ठाकुर साहब ने दो दृष्टियों से प्रकृति का चित्रण किया है (१) उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत और (२) स्वतन्त्र रूप से। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का यह चित्रण लीजिए :

'सह रहे ठौर-ठौर कलित जलाशयों में,
मोह रहे मन को निकुन्ज पुंज प्यारे हैं।
फूल रहे कमनीय केतकी, कदम्ब, कुन्द,
भूल रहे जिन पर भृंग मोद धारे हैं॥
बोल रहे कोकिल हैं ललित लताओं पर,
डोल रहे मोर मंजु रत्न को उघारे हैं।
किन्तु प्राण प्यारे! दृश्य प्यारे ये तुम्हारे बिना,
प्यारे हमें होकर भी लगते न प्यारे हैं॥'

बसन्त का यह स्वतंत्र चित्रण भी अत्यन्त आकर्षक है :—

'विश्व-वाटिका के शृङ्गार, ऐ कुसुमाकर शोभागार
वन-विहगावलि डोल-डोल कर,
वर वचनावलि बोल-बोल कर,
सुमनावलि उर खोल-खोल कर,
मधुपावलि मधु घोल-घोल कर,
करती है स्वागत-सत्कार,
हे कुसुमाकर शोभागार!'

(२ शिशु-जीवन—परिवार मे शिशु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। माता-पिता की आशाएँ-आकाक्षाएँ उसी मे केन्द्रित रहती है। उसकी क्रीड़ाएँ इतनी लुभावनी होती है कि मनुष्य उनके प्रभाव से अपना सब कुछ भूल कर हाथी-घोड़ा तक बन जाता है। ठाकुर साहब ने शिशु की दुनिया मे इन्ही भावो का यथार्थ चित्रण किया है —

'माना सदा जाता रजनीश है खिलौना वहाँ,
बनता तमाशा वहाँ नित्य अशुमाली है।
डाले हुये पैर का अँगूठा मुख मे मयङ्क,
आता वहाँ याद शिशु-रूपी वनमाली है॥
लाली अनुराग की सदैव रहती है वहा,
रखने उजाला वहाँ चन्द्र-मुखवाली है।
बनते मनुज भी है हाथी और घोड़ा वहा,
शिशु ' सुबन्धु' तेरी दुनिया निराली है।

(३) नारी-जीवन—ठाकुर साहब ने नारी-जीवन के विविध रूपो के अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र उतारे है। 'मानवी' मे उनकी इसी प्रकार की रचनाएँ संगृहीत है। इनमे नारी-जीवन के दो चित्र अकित किये गये है (१) सौभाग्य शालिनी दुलहिन के रूप मे और (२) समाज-द्वारा उपेक्षिता के रूप मे। नारी-जीवन के इन दोनो रूपो से वह प्रभावित है। नारी के प्रति उनका यह दृष्टिकोण कितना भव्य है :—

'हे स्वामिनी जगत के उर की, प्रेम-राज्य की रानी।
युग युग के अगणित क्लेशो की तू है करुण कहानी।
मानव-कुल की शक्ति-दायनी तू है भव्य भवानी।
बनती है तू विश्व-विजयिनी, ले आखो मे पानी॥'

नारी के प्रति अपनी इन पूत भावनाओ-द्वारा ठाकुर साहब ने मनुष्य की उस विकृत भावना का सस्कार किया है जिसका प्रवेश श्रृङ्गार-काल के दरबारी कवियो ने अपनी जीविका के मोह मे पड़कर हिंदी काव्य मे कर दिया था। इस दृष्टि से ठाकुर साहब की 'मानवी' मे संगृहीत रचनाएँ अत्यन्त उच्चकोटि की है,

इनमें नारी के कष्टपूर्ण जीवन के प्रति उन की आत्मा हाहाकार कर उठी है :—

'चुकती है नहीं निशा तेरी, है कभी प्रभात नहीं होता।
तेरे सुहाग का सुख बाले! आजीवन रहता है सोता॥
हैं फूल फूल जाते मधु में, सुरभित मलयानिल बहती है।
सब लता-वल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाई रहती है॥
सब आशाएं-अभिलाषाएँ, उर-कारागृह मे बन्द हुईं।
तेरे मन की ज्वालाएं मेरे मन में छन्द हुईं॥'

(४) सामाजिक भावना—ठाकुर साहब ने अपनी रचनाओं मे यत्र-तत्र सामाजिक भावना को भी स्थान दिया है। पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि के वह विरोधी और स्त्री-शिक्षा के समर्थक है। साथ ही अछूतों के प्रति भी उनके हृदय मे विशेष प्रेम है। उनकी इस भावना पर द्विवेदी-युग के समाज-सुधार-आंदोलन का पूरा प्रभाव है। दहेज-प्रथा का कुप्रभाव इन पंक्तियों मे देखिए :—

'भगवान हिन्दू-जाति का उत्थान कैसे हो भला।
नित यह कुरीति दहेजवाली घोंटती उसका गला॥
सुकुमारियाँ वे भोगती हैं यातना कितनी बड़ी।
जो पूर्ण यौवन-काल में भी हैं बिना ब्याही पड़ी॥'

आजकल आधुनिक नारी को अनेक प्रकार की जो यातनाएँ सहन करनी पड़ रही है उनका मूल कारण शिक्षा का अभाव है। ठाकुर साहब कहते है :—

'आज अविद्या-मूर्ति-सी हैं सब श्रीमतियाँ यहाँ।
दृष्टि अभागी देख ले उनकी दुर्गतियाँ यहाँ॥'

(५) ग्राम-जीवन—ठाकुर साहब ने अपनी रचनाओं मे ग्राम-जीवन के सुखद और दुखद दोनों प्रकार के चित्र उतारे है। उन पर ग्राम के पवित्र और त्यागमय जीवन का विशेष प्रभाव है। निम्न पंक्तियों मे ग्राम का महत्त्व देखिए: —

'दया-क्षमा, ममता आदिक हैं तेरे रत्नों के भंडार,
है निर्मल जल शुद्ध वायु ही तेरे जीवन के उपहार।
छल से रहता दूर, किन्तु तू बल-पौरुष में है भरपूर,
तेरे जीवन-धन हैं जग में जब किसान एवं मजदूर।'

(६) **देश-प्रेम**—ठाकुर साहब ने अपनी रचनाओं में देश-प्रेम को भी स्थान दिया है। परतन्त्रता के युग मे देश की जो दयनीय दशा थी उसी का उन पर प्रभाव है और इसी प्रभाव के अन्तर्गत उन्होंने अपना देश-प्रेम व्यक्त किया है। अपने देश का भव्य अतीत स्मरण करते हुए वह कहते :—

'गौतम, कणाद से जहाँ हुये थे ज्ञानी।
जिसमें दधीचि शिव सदृश हुए थे दानी॥
जो मानी गई सदैव विश्व की रानी।
था जग में कोई देश न जिसका सानी॥
जिसके अधीन थीं ऋद्धि-सिद्धियाँ सारी।
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी॥'

(७) **भक्ति-भावना**—ठाकुर साहब अपनी भक्ति-भावना में कृष्ण-भक्तों से अधिक प्रभावित हैं। वह कृष्ण-भक्त है। इसलिए उन्होंने ब्रज की भक्ति-भावना-पूर्ण अच्छी झाँकियां अंकित की है। ब्रज की एक झाँकी लीजिए :—

'देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है।
फूली-फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं को दिव्य देह की ही आती है॥
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनाती सदा,
कूक-कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी-भरी दृग-सुखदाई, मन-भाई मंजु,
यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है॥'

अपनी भक्ति-भावना के अन्तर्गत ठाकुर साहब ने रहस्य-भावना को भी स्थान दिया है। लेकिन उनकी रहस्य-भावना मे केवल साधारण कुतूहल ही है। 'प्रश्न' शीर्षक कविता मे उनकी यही भावना व्यक्त हुई है। भक्त-कवियो का दैन्य-निवेदन, मोह-माया से विरक्त होने की उत्कट कामना आदि को उनकी रचनाओ मे विशेष स्थान मिला है। इसी प्रसंग मे उनकी प्रेम की अनेक उक्तियाँ अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है :—

'योंही दुख दारुण तू नित्य मुझे देता रह,
कौन कहता है नहीं तुझे अधिकार है।
प्यारा मुझको है निज दुखमय जीवन ही,
क्योंकि यह तेरे प्रेम का ही उपहार है ॥'

* * *

'जानता नहीं क्या उर-कुँज में छिपा है वह,
क्यों सदा पुकारता उसी को कठ-कीर है।
एक दुख भी है उसे भूलने न देती कभी,
धन्य धन्य धन्य मेरे मानस की पीर है ॥'

ठाकुर साहब की सम्मति मे ईश्वर अनुभूति का विषय है। इसके साथ ही वह मुक्ति का द्वार ससार मे ही मानते है और यह स्वीकार करते है कि ईश्वर की अनुभूति जीवन की दुखद घड़ियो मे ही होती है। इसलिए 'मानस की पीर' से उन्हे विशेष मोह है।

ठाकुर साहब की शैली

ठाकुर साहब की शैली मे अपनत्व अधिक है। वह अपनी बात अपने ढङ्ग से अपनी व्यावहारिक भाषा मे कहते है। काव्य मे उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। वह जिनके लिये लिखते है उनकी योग्यता का ध्यान रखते हैं। वह चाहते है कि उनकी रचनाओ का पढकर लोग उनसे प्रेरणा ग्रहण करें। प्रभाववादी कवि होने के कारण वह उन्ही विषयो और उनसे सम्बन्धित मुख्य भावो का चित्रण करते हैं जिनसे वह स्वय प्रभावित है। इसीलिए उनके मुक्तको मे भावो की विविधता कम, भावो का उत्कर्ष ही अधिक पाया जाता है। एक बात को कई तरह से प्रभावोत्पादक शैली मे कहने की उनकी कला निराली है।

ठाकुर साहब यथार्थवादी कवि है। उन्होने सर्वत्र वर्णनात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। भावो का यथार्थ वर्णन उनके काव्य की विशेषता है। काव्य-शैली को दृष्टि से उन्होने मुक्तक और प्रबन्ध—दोनो प्रकार के काव्यो की रचना की है। मुक्तको मे प्रबन्ध-मुक्तक कम, भाव-मुक्तक ही अधिक है। 'जगदालोक' गाधीजी के जीवन से सबधित प्रबध-काव्य है। इन सभी काव्यो मे कवित्त, सवैया,

कुंडलिया, आदि छंदो के अतिरिक्त हिन्दी के नवीन छंद भी अपनाये गये हैं। ठाकुर साहब के कवित्त और सवैये खडीबोली के अनन्य उदाहरण है। इनमे उन्होने ब्रजभाषा का संपूर्ण आकर्षण भर दिया है।

ठाकुर साहब रसवादी कवि है। रसो के आयोजन और उनके परिपाक मे उन्हे अच्छी सफलता मिली है। शब्दो की मुख्यता अभिधा शक्ति से काम लेने के कारण उनके रस-परिपाक मे कही नाम-मात्र को भी बाधा नही पडी है। शृङ्गार, करुण, शान्त, वात्सल्य आदि रसो के परिपाक से उनकी रचनाएँ समर्थ है। भाषा का सौदर्य बढाने और भावो का उत्कर्ष दिखाने के लिए उन्होने अलकारो का भी प्रयोग किया है। अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि हिन्दी के सरलतम अलकार ही उनकी रचनाओ मे प्रयुक्त हुए है। इसलिए उनकी शैली प्रभावोत्पादक और स्वाभाविक है।

ठाकुर साहब की भाषा

ठाकुर साहब की भाषा शुद्ध साहित्यिक खडीबोली है। उसमे सस्कृत के सरलतम तत्सम शब्दो का ही प्रयोग हुआ है। इसलिए उनकी भाषा का रूप सर्वत्र व्यावहारिक है। उनकी व्यावहारिक भाषा मे उर्दू-फारसी के शब्दो को स्थान नही मिला है। उन्होने हिन्दी मे प्रयुक्त होनेवाले शब्दो को ही अपनाया है और उन्हीं के माध्यम से अपने भावो का चित्रण किया है। उनका शब्द-चयन सुन्दर, काव्योचित और अर्थ-गौरव से सपन्न होता है। शब्दो का विकृत रूप उनकी भाषा मे कही भी नही पाया जाता। वह रस और भाव के अनुकूल ही अपनी भाषा का रूप निश्चित करते है। व्यर्थ और भरती के शब्द उनकी भाषा मे नही है। उनकी भाषा व्याकरणपरक, प्रवाहमय, स्वाभाविक और प्रसाद-गुण से युक्त है।

ठाकुर साहब की भाषा के दो रूप है एक तो वह जिसमे खडीबोली का विशुद्ध व्यावहारिक रूप है और दूसरा वह जिसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो का खुलकर प्रयोग किया गया है। प्रसाद गुणयुक्त दोनो है, पर पहली भाषा की अपेक्षा दूसरी भाषा विचारो की गम्भीरता के फलस्वरूप संस्कृत-गर्भित होने के कारण कुछ क्लिष्ट है। पहली भाषा का यह उदाहरण लीजिए :—

'तू कभी नहीं कुछ कहती है, चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रस-धारा बहती है, पर तू प्यासी ही रहती है।।'

इसकी तुलना मे दूसरी भाषा का यह रूप देखिए :—

'गति से प्रगति, प्रगति से अवगति, अवगति से चिंतन ।
निखिल-निरीक्षण, मनन-विवेचन, पठन और पाठन ।
ज्ञान-जलधि-मन्थन, है अनन्त जीवन ।'

ठाकुर साहब की यह भाषा विचार-प्रधान है । इसमे उनका चिंतन और प्रयत्न है । जीवन-दर्शन के विवेचन मे उन्होने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है । इसमे मुहावरो के प्रयोग के लिए विशेष गुँजाइश नही है, लेकिन पहले प्रकार की भाव-प्रधान भाषा मे मुहावरो का अच्छा प्रयोग हुआ है ।

---

२५ : सियारामशरण गुप्त

जन्म-सं० १९५२

जीवन-परिचय

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियारामशरण गुप्त का जन्म भाद्रपद १५, सवत् १९५२ को चिरगाँव (झाँसी) के वैश्य-कुल मे हुआ था । उनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय पाठशाला मे हुई । कुछ दिनो तक इस प्रकार विद्याध्ययन करने के पश्चात् जब उन पर गार्हस्थ्य जीवन का भार आ पड़ा तब उन्होने स्कूल की पढाई छोड़ दी और घर पर ही सरस्वती की अराधना करने लगे । इस प्रकार थोड़े ही समय मे उन्होने हिन्दी-साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया । उनके बड़े भाई, मैथिलीशरण गुप्त, उस समय तक हिंदी मे अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे । इसलिए उनके ससर्ग से उनकी रुचि भी कविता की ओर अग्रसर हुई । धीरे-धीरे वह कविता करने लगे । उनकी पहली कविता काशी से प्रकाशित होनेवाले 'इन्दु' नामक मासिक पत्र मे प्रकाशित हुई । इससे उन्हे विशेष प्रोत्साहन मिला । बाद को 'सरस्वती' मे भी उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगी । इस दिशा मे उन्हे आचार्य द्विवेदीजी तथा स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी से बहुत प्रोत्साहन मिला । हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार मुशी अजमेरीजी से उनके कुटुम्ब

का अत्यधिक सम्बन्ध था। मुंशीजी संगीत-कला प्रेमी तथा मर्मज्ञ साहित्यिक थे। उनका भी सियारामशरण पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सियारामशरण ने स्वाध्याय के बल पर बगला, अगरेजी, सस्कृत, गुजराती तथा मराठी भी सीखी। इस प्रकार स्वाध्याय एवं कवियो तथा साहित्यकारो के ससर्ग से उन्होने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया और धीरे-धीरे नवीन धारा के कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

सियारामशरण हिन्दी के मौन-साधक है। वह स्व प्रदर्शन से दूर रहते है। उनके रहन-सहन मे बहुत सादगी है। वैष्णव-धर्म मे उनकी पूरी आस्था है और राम के वह सच्चे उपासक है। श्वास-राग से पीडित रहने के कारण वह कुछ अस्वस्थ्य रहने लगे है। इसलिए वह बाहर कम निकलते है।

सियारामशरणजी की रचनाएँ

सियारामशरण का रचना काल स० १६६७ से आरम्भ होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य के भिन्न-भिन्न अगो की ओर समान रूप से उनकी दृष्टि गई है। इस प्रकार वह हिन्दी के एक सफल साहित्यकार हैं। कवि के रूप मे उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं —

(१) काव्य-रूपक—उन्मुक्त (स० १६६७)

(२) अनूदित-काव्य—गीता-सवाद (सं० २००५)

(३) खण्ड-काव्य—मौर्य-विजय (सं० १६७१) और नकुल (सं० २००३)

(४) प्रशस्ति-काव्य जय हिंद (सं० २००५)

(५) कथा-काव्य—अनाथ (स० १९७४), आर्द्रा (स० १९८४) और मृण्मयी (स० १६६३)

(६) मुक्तक-प्रबन्ध—बापू (सं० १९६४) और आत्मोत्सर्ग (स० १९८८)

(७) मुक्तक-काव्य—विषाद (स० १६८५), दूर्वादल (स० १६८६), पाथेय (स० १६६०), दैनिका (स० १६९६ और नोआखाली (स० २००३)

सियारामशरणजी की काव्य-साधना

आचार्य द्विवेदीजी से प्रोत्साहन पाकर जिन कवियो ने खड़ीबोली मे कविता करना आरम्भ किया उन्हे हम दो श्रेणियो मे विभाजित कर सकते है: एक तो वे जिन्होने तत्कालीन काव्य की मूल-भावना—नैतिकता और आचार-निष्ठा—को

अपनाकर अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया और दूसरे वे जिन्होने उसकी उपेक्षा कर अपने काव्य मे अनुभूतियो का चित्रण करने के लिए अपना स्वतन्त्र मार्ग निश्चित किया। सियारामशरणजी इसी दूसरी श्रेणी के कवि है। काव्य के क्षेत्र मे वह द्विवेदी-युग और रहस्यवाद-युग के बीच की कड़ी है। उनकी रचनाओ पर चार स्पष्ट प्रभाव है · (१) व्यक्तिगत जीवन के अभावो का प्रभाव, (२) समष्टि-गत जीवन के अभावो का प्रभाव, (३) गाधीवाद का प्रभाव और (४) सन्तो की मुक्ति-साधना का प्रभाव। प्रथम दो मूलतः भावना के प्रभाव क्षेत्र है और अतिम दो विचार के।

सियारामशरणजी के व्यक्तिगत जीवन मे दो बड़े अभाव हैं (१) स्वास्थ्य-सुख का अभाव और (२) दाम्पत्य-प्रेम का अभाव। निरन्तर श्वास-रोग से पीड़ित रहने और यौवन-काल मे ही दाम्पत्य-प्रेम से वचित हो जाने के कारण उनकी मानसिक व्यथा ने उनके काव्य मे करुणा का रूप धारण कर लिया है। उनकी यही व्यक्तिगत करुणा पराधीन भारत के जन-जीवन की विषमताओं—अछूतो की दुर्दशा, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अँगरेजो के अत्याचार, सामाजिक रूढियो मे जकड़ी हुई नारी की विवशता, दहेज-प्रथा के घातक परिणाम, पुलिस तथा जमीदारो की क्रूरता आदि का स्पर्श पाकर तीव्रतर हो उठी है। डा० नगेन्द्र के शब्दो मे 'समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है, और कवि के हृदय मे केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नही, वरन समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है।' करुणा के इस क्रमश विकसित स्रोत का उद्गम है 'विषाद' (स० १९८२)। इसमे सगृहीत रचनाएँ सियारामशरणजी ने अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् लिखी थी। अत इन रचनाओ को हम 'शोक-गीत' भी कह सकते है। इनमे उनकी व्यक्तिगत वेदना का तीव्र स्वर है :—

'बार बार मन में लाता है तेरा स्मरण विषाद,
क्षण भर को ही वहाँ तुझे क्या आती है कुछ याद !
कभी कल्पना पहुँचाती है क्या तुझ तक यह बात—
मैं इस समय कर रहा हूँगा नीरव अश्रु-निपात ?'

व्यक्तिगत वेदना के इस करुणा-भरे स्वर ने 'आर्द्रा' (सं० १९८४) की

"एक फूल की चाह' शीर्षक कथा-काव्य मे यह मर्मस्पर्शी रूप धारण किया है :—

'बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की था ढेरी।
अन्तिम बार गोद में बेटी! तुझको ले न सका मै हा!
एक फूल, माँ का प्रसाद, भी तुझको दे न सका मैं हा!'

यह सवर्णों के अत्याचार से पीड़ित एक अछूत की आह है। 'आर्द्रा' की प्राय सभी रचनाएँ कथात्मक है और गार्हस्थिक तथा सामाजिक जीवन की किसी-न-किसी मर्मस्पर्शी समस्या का उद्घाटन करती है। इनके सभी पात्र प्रतिनिधि मानव-चरित्र है और स्वतन्त्र रूप से अपनी भूमिका मे विचरण तथा प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन करते है। सियारामशरण ने एक निरपेक्ष कलाकार की तरह प्रतिनिधि मानव-चरित्रो का निर्माण किया है। ये सभी पात्र शोषित-पीड़ित हैं और सामाजिक रूढ़िया, मानव की अतृप्त आकाक्षाओ और सवर्णों के अत्याचारो के शिकार है। 'अनाथ', 'आत्मोत्सर्ग', 'दैनिकी,' 'नाआखाली' आदि भी सामाजिक धरातल पर 'करुणा' से ओत-प्रोत रचनाएँ है। 'उन्मुक्त' मे यह करुणा विश्वजनीन हो गई है —

'हाय री मेरी जगती
इतनी सुन्दर, तदपि घृणित-सी तू क्यो लगती ?'

सियारामशरणजी मूलत. गाधीवाद से प्रभावित कवि हैं। 'विषाद' में यदि उनकी व्यक्तिगत व्यथा की अभिव्यक्ति मिली है तो 'आर्द्रा', 'अनाथ', 'दैनिकी' आदि मे गाधीवाद से प्रभावित उनकी सामाजिक और विश्व-व्याप्त व्यथा को। सामाजिक और विश्व-व्याप्त व्यथा के उन्ही लोक-स्वीकृत अगो पर उन्होने चोट की है जिनका गाधीवाद से सीधा सम्बन्ध है और जिनसे मुक्त होने पर ही मानवता का विकास सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह कि उन्होने अपनी करुण-रस-प्रधान रचनाओ मे गाधीवाद के तत्व-चिंतन को भावनात्मक रूप दिया है और इसमे उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनका 'दर्देदिल' गाधीवाद के तत्त्व-चिंतनका स्पर्श पाकर विश्व का 'दर्देदिल' बन गया है।

सियारामशरणजी ने गाधीवाद के तत्व-चिन्तन को विचारात्मक रूप भी दिया

है। इस दृष्टि से उनका 'उन्मुक्त' गीत नाट्य प्रतिनिधि काव्य है। इसकी रचना में उन्हे गाधीजी के अहिसावाद से प्रेरणा मिली है। इसमे विश्व युद्ध से त्रस्त मानव के लिए एक सदेश है :—

'हिसानल से शान्त नही होता हिसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी मगल है।
मिला हमे चिर सत्य आज यह नूतन होकर—
हिसा का है एक अहिसा ही प्रत्युत्तर।'

गाधीवाद द्वारा समिथत मानव-वाद का सबल आधार यह है :—

'नही कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्रधनुष मे,
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष-पुरुष मे।
बाहर के आभास, एकता ही अन्तगत।'

'बापू' की ये पक्तियाँ भी गाँधीवादा स्वर से ध्वनित हो उठी हैं .—

'अन्त, अरे कौन कहाँ कैसा अन्त!
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का।
आद्यक्षर है नव्य-भव्य जीवन का—
जिसके निमित्त सब धीर-धनी भिक्षुक हैं।'

'रोगी सत्याग्रहियो को गाधीजी कर्म-मार्ग से विरक्त कर ज्ञान-मार्ग तक ही सीमित रखते थे।' सम्भवत इसीलिए सियारामशरणजी मे 'भुक्ति' की अपेक्षा 'मुक्ति' की साधना अधिक है। उनकी इस साधना को सन्तो की वाणी से विशेष बल मिला है। काव्य के क्षेत्र मे इसकी अभिव्यक्ति रहस्यवाद के रूप मे हुई है। रहस्यवाद विचारात्मक अथवा भावात्मक होता है। सियारामशरणजी का रहस्य-वाद भावात्मक है। इस दृष्टि से 'दूर्वादल' और 'पाथेय' की रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। 'पाथेय' की 'पूजन' कविता मे वास्तविक रहस्यवाद का समावेश है .—

'पद-पूजन का भी क्या उपाय? तू गौरव-गिरि उतुङ्ग काय।
तू अमल-धवल है, मै श्यामल,
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल,
यह हूँ नीचे का मैं तृण-दल,

पहुँचूं उन तक किस भाति हाय, तू गौरव-गिरि उत्तुङ्ग काय ।'

'अमर' शीर्षक कविता मे आत्मा की अमरता का जयघोष सुनिए :—

'अमर हूँ मैं ओ कराल काल, कर सकेगा तू क्या मेरा ?
रहूँगा जीवित मैं चिर काल, व्यर्थ यह भ्रू कुंचन तेरा ।'

सियारामशरणजी हिन्दी के अन्तर्मुखी कवि हैं । उन्होंने अपनी रचनाओ मे भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि पर मानव की प्रतिष्ठा की है । 'मौर्य-विजय' अपने साथ लेकर जब से वह हिंदीके काव्य-क्षेत्र मे उतरे है तब से बराबर, रोग-ग्रस्त होने पर भी, वह हमे कुछ-न-कुछ देते रहे है । 'जय हिंद' मे १५ अगस्त, १९४७ के स्वतन्त्रता-दिवस के पुण्य अवसर पर लिखी गई उनकी भारत-वन्दना हिन्दी की अमर रचना है । यह सच है कि उन्होंने अपनी रचनाओ-द्वारा हमे किसी नई भाव-भूमि का दर्शन नही कराया, लेकिन इससे कोई इन्कार नही कर सकता कि उन्होंने जन-जीवन और गाधीवाद से जो कुछ प्राप्त किया है उसकी अभिव्यक्ति मे नयापन लाने की उन्होंने सफल चेष्टा की है ।

सियारामशरणजी की शैली

सियारामशरणजी की शैली उनके व्यक्तित्व से प्रभावित है । प्रेय की अपेक्षा उनकी रचनाओ मे श्रेय का चिन्तन अधिक है । इसलिए उनकी शैली में निर्झरणी का-सा वेग नही है, उसमे समतल भूमि पर बहनेवाली सरिता का मन्द मन्द प्रवाह है । काव्य-गुणो से उनके चिंतन का प्रभाव उनकी शैली पर ही नही, उनकी भाषा पर भी पड़ा है । उनमे न तो कला की आग्रहपूर्ण रंगीनी है और न काव्य-गुणो की सबल प्रतिष्ठा । इसलिए वह प्राय गद्यात्मक-सी हो गई है । लेकिन जहा वह चिंतन छोड़कर भाव-विभोर हो उठे हैं वहाँ उनकी भाषा-शैली में प्रवाह, कलात्मकता और समृद्धता की कमी नही है ।

काव्य-शैली की दृष्टि से सियारामशरणजी ने दो शैलियो का प्रयोग किया है : (१) प्रबन्ध और (२) मुक्तक । प्रबन्ध-काव्यो मे 'मौर्य-विजय' ऐतिहासिक खण्ड-काव्य है और 'नकुल' पौराणिक । इनके अतिरिक्त 'बापू' और 'आत्मोत्सर्ग' मुक्तक प्रबन्ध, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक, 'आर्द्रा' मे काव्य-बद्ध काल्पनिक सामाजिक लघु कथाएँ, 'अनाथ' मे ग्राम-जीवन का चित्रण और 'मृण्मयी', 'दैनिकी', 'दूर्वादल;

'नोआखाली' आदि मे छोटे-बडे अनेक मुक्तक संगृहीत हैं। 'मौर्य-विजय' छप्पय छन्द मे और शेष सभी हिन्दी के नवीन तुकाव और अतुकात छन्दो मे लिखे गये हैं।

रस की दृष्टि से सियारामशरण का काव्य अधिक समृद्ध नही है। उनकी अधिकाश रचनाएँ करुण और शात रस मे पाई जाती हैं। इन दोनो रसो के परिपाकमे उन्हे पूरी सफलता मिली है। शृङ्गार की ओर उनका आग्रह नही है। अवसर आने पर भी वह या तो उससे बचकर निकल गये है या फिर उस पर क्षण मात्र के लिए दृष्टि डालकर उसके प्रति विरक्त हो गये है। 'बापू' मे शात और करुण के अतिरिक्त अन्यत्र शृङ्गार, वीर, रौद्र और भयानक रसो के भी उदाहरण मिलते है। इन रसो मे भावो को काव्योचित ढङ्ग से प्रभावशाली बनाने के लिए शब्द-शक्तियो और अलकारो का स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। शब्द-शक्तियो में लक्षणा की अपेक्षा अभिधा और व्यजना का अधिक प्रयोग हुआ है। अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, विशेषण विपर्यय, श्लेष, रूपक, विरोधाभास आदि के सुन्दर उदाहरण मिलते है।

सियारामशरणजी की भाषा

सियारामशरणजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खडीबोली है। इस भाषा के दो रूप है. (१) सरल और (२) सस्कृत-गर्भित। सरल साहित्यिक खडीबोली मे बोलचाल की भाषा के साथ सस्कृत के सरलतम तत्समो का प्रयोग हुआ है.—

'इस वन में, इस वनस्थली मे मै जब आई,
मैया की-सी गोद यहाँ आते ही पाई।'

इस भाषा की तुलना मे सस्कृत-गर्भित भाषा का यह रूप लीजिए:—

'अचल प्रतिष्ठ हे! तुम्हारे पुण्य-सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्त के समस्त प्रभ्रमित स्रोत,
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम ओत-प्रोत।'

सियारामशरणजी ने विचारो और भावो के अनुरूप ही अपनी भाषा का रूप स्थिर किया है। 'बापू' की भाषा सस्कृत-गर्भित होने के कारण अधिक क्लिष्ट है। इसमे ओज गुण भी पाया है। इसके अतिरिक्त अन्य रचनाओ मे विचारो के

उतार-चढाव के अनुरूप सरल और क्लिष्ट भाषा पाई जाती है। इन दोनो भाषाओं मे फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग नही के बराबर है। लेकिन 'आत्मोत्सर्ग' की भाषा मे महबूब, खूब, खुदा, नमकहराम आदि शब्दो का खुलकर प्रयोग हुआ है। विषय के अनुसार भाषा होने से उसमे ये शब्द अधिक जँचते है। अधिकाश चिन्तनमय शैलो होने के कारण उनकी भाषा मे मुहावरो के प्रयोग नही हो पाये है। फिर भी यत्रतत्र सूक्तियो-द्वारा उसमे चमत्कार उत्पन्न करने की सफल चेष्टा की गई है।

---

२६ : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म-स० १९५३

जीवन-परिचय

निरालाजी के पिता प० रामसहाय त्रिपाठी गढकोला, जिला उन्नाव के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और बगाल के मेदिनीपुर मे महिषादल राज्य के अन्तर्गत सरदार थे। इस छाटे-से राज्य मे उनके पौरुष के कारण उनका बड़ा सम्मान था। उनके दूसरे विवाह से माघ सुदी ११, स० १९५३ को निरालाजी का जन्म हुआ। निरालाजी एकलौते पुत्र थे। पैसे की कमी नही थी। इसलिए निरालाजी का पालन-पोषण बड़े ठाठ से हुआ। उनकी शिक्षा बगला-माध्यम से हुई। राजपरिवार की ओर से उन्हे सगीत की शिक्षा मिली। मैट्रिक तक पढकर उन्होने स्कूल की पढाई छोड़ दी और स्वाध्याय-द्वारा सस्कृत-साहित्य, दर्शन-शास्त्र, अग्रेजी-साहित्य तथा बगला-साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया।

१३ वर्ष की अवस्था में ही निरालाजी का विवाह हो गया था। उनकी पत्नी मनोहरा देवी पढी-लिखी थी। वह नित्य 'रामचरितमानस' का पाठ किया करती थी। इसका प्रभाव निरालाजी पर भी पडा। उन्होने भी 'मानस' का अध्ययन किया। इस प्रकार वह हिन्दी-साहित्य के सपर्क मे आये। कविता करने का उन्हें विद्यार्थी-जीवन से ही शौक था। बगला मे वह अच्छी कविता करते थे। संस्कृत

मे भी उन्होने कविता की थी। हिन्दी मे उस समय तक खड़ीबोली काव्य-भाषा बन चुकी थी और कई अच्छे कवि अपने-अपनी रचनाओ-द्वारा उसकी श्रीवृद्धि कर चुके थे। निरालाजी ने भी हिंदी मे कविता करना आरभ किया और आचार्य द्विवेदीजी से प्रोत्साहन पाकर वह आगे बढे। इसी बीच उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। माँ पहले ही चल बसी थी। इसके बाद पिता भी दिवगत हुए। परिवार का भार सँभालने के लिए निरालाजी महिषादल राज्य मे नौकरी करते थे। पत्नी के वियोग से वह इतने व्यथित हुए कि फिर वह नौकरी न कर सके।

नौकरी छोड़ने के बाद निरालाजी का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। वह कलकत्ता चले आये। उन दिनो रामकृष्ण-मिशन, कलकत्ता से 'समन्वय' का प्रकाशन होता था। आचार्य द्विवेदीजी के प्रभाव से निरालाजी उसके सपादक हो गये। 'समन्वय' सेठ महादेवप्रसाद के प्रेस मे छपता था। इसी प्रेस से 'मतवाला' नाम का एक और पत्र प्रकाशित होता था। 'मतवाला' का उस समय हिन्दी-जगत मे अच्छा स्थान था। इसलिए निरालाजी 'समन्वय' का सपादन-भार त्यागकर 'मतवाला' के संपादकीय विभाग मे कार्य करने लगे। इसके एक वर्ष बाद वह कलकत्ता छोड़कर लखनऊ चले आये, लेकिन अधिक दिनो तक वहाँ उनका जी नही लगा। वहाँ से वह प्रयाग आये। इस समय वह प्रयाग मे ही रहते है। शरीर और मन—दोनो से वह शिथिल हो गये हैं। उनका साहित्यिक जीवन समाप्त प्राय है। उनकी ५५ वी वर्षगाँठ के अवसर पर काशी, कलकत्ता तथा भारत के अन्य बड़े-बड़े नगरो में जो साहित्यिक समारोह हुए वही उनके जीवन के संबल है।

निरालाजी की रचनाएँ

निरालाजी हिन्दी के युग-प्रवर्तक कलाकार है। उनका रचना-काल सं० १९७२ से आरम्भ होता है। 'जूही की कली' (स० १९७३) उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे से है। इसका प्रकाशन 'मतवाला' के अठारहवें अक (स० १९८०) मे हुआ। इसके प्रकाशन से हिन्दी-जगत का ध्यान निरालाजी की ओर आकृष्ट हो गया। निरालाजी मूलत कवि है। उपन्यास, कहानियाँ आदि भी उन्होने लिखी हैं। लेकिन इस नाते वह हिन्दी-जगत में प्रसिद्ध नही हैं। अपनी देन से उन्होने काव्य के क्षेत्र को जितना समृद्ध किया है, उतना इन क्षेत्रो को नही। वह अपने कवि-रूप में ही महान है। उनके काव्य-ग्रंथ इस प्रकार हैं :—

(१) खंड-काव्य—तुलसीदास (स० १९९५)

(२) मुक्तक-काव्य—अनामिका (स १६८०), परिमल (सं० १६८७), गीतिका (सं० १६६३), अनामिका नवीन (सं० १६६४), कुकुरमुत्ता (स० १६६८), विनय-खड (स० २०७०), अणिमा (सं० २०००), बेला (स० २००३), नए पत्ते (सं० २००३) आराधना (स० २००४), अर्चना (सं० २००४) और गीत-गुंज (स० २०१५)।

निरालाजी की काव्य-साधना

निरालाजी स्वभावत क्रांतिकारी है। रूढियो के प्रति क्राति करने में ही उनके काव्य का निर्माण हुआ है। उन्हे किसी प्रकार का बधन न तो जीवन मे पसन्द है और न काव्य मे। वह भारतीय सस्कृति और सभ्यता के विरोधी नही है, लेकिन उसमे जो रूढियाँ है उनके प्रति उन्होने अपने जीवन मे खुलकर विद्रोह किया है। उनकी इस विद्रोही प्रवृत्ति का प्रमाण उनकी कविताओ से भी मिलता है। उनकी कविताओ मे नई उपमाएँ है, नई कल्पनाएँ है, नये विषय है, नये भाव है और इन सबके अतिरिक्त अभिव्यक्ति की नई शैली है जिसके निर्माण मे पिंगल के नियमो को तोड़-फोड़ कर संगीत को स्थापना की गई है। इस प्रकार उन्होंने हिंदी काव्य को प्राचीन रूढियो से मुक्तकर एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर उसे उन्मुख किया है। उनकी इन काव्यगत क्रातिकारी प्रवृत्तियो पर रीझकर प० सुमित्रा-नन्दन पंत ने लिखा है —

> 'छंद बध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
> अचल रूढियों की, कवि! तेरी कविता-धारा
> मुक्त, अबाध, अमंद रजत निर्झर-सी निसृत
> गलित ललित आलोक राशि चिर अकलुष अविजित!'

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निरालाजी का कविता-काल दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है (१) स० १६७२ से स० १६६५ तक और (२) स० १६६५ से अब तक। स० १६७२ से स० १६९५ तक की रचनाओ का सकता अध्ययन से निरालाजी की सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, और दार्शनिक प्रवृत्तियो का पूरा परिचय मिलता है। लेकिन सं० १६६५ के बाद की उनकी रचनाएँ 'कुकुरमुत्ता', 'नए पत्तो' आदि पूर्व-स्तर की रचनाएँ नही है। इनमे उन्होने अपनी

मानसिक अस्वस्थता के कारण 'प्रगतिशील कविता के प्रभाव ग्रहण किये' है। यहाँ हम उनकी सभी काव्य-प्रवृत्तिय' पर सक्षेप मे विचार करेगे :—

(१) **दर्शन और रहस्यवाद**—दर्शन के क्षेत्र मे निरालाजी अद्वैतवादी हैं। 'पचवटी-प्रसङ्ग' मे उन्होने भगवान राम के मुख से ब्रह्म और जीव की जो व्याख्या कराई है वह उनके दार्शनिक विचारो का सार है। इसके अतिरिक्त 'मैं और तुम', 'जागरण', 'कण' आदि मे भी उनकी अद्वैत-भावना व्यक्त हुई हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

'जग का एक देखा तार।
कठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहु रग निर्मित एक सुन्दर हार।
एक ही कर से गुंथा, उर एक शोभा-भार।'

यहाँ भेद मे अभेद की स्थापना-द्वारा निरालाजी ने अपनी अद्वैत-भावना का जो परिचय दिया है उसने काव्य के क्षेत्र मे रहस्यवाद का रूप धारण कर लिया है। लेकिन यह उनके चिन्तन का क्षेत्र है। अनुभूति के क्षेत्र मे उनके रहस्य-वाद ने भावात्मक रूप धारण कर लिया है और उसकी अभिव्यक्ति शृङ्गार के माध्यम से हुई है। निम्न पक्तियो मे कवि की आत्मा अभिसारिका का रूप धारण कर अपने प्रिय (परमात्मा) से मिलने जा रही है। उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्र लीजिए :—

'मौन रही हार।
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार।
कण-कण कर-कङ्कण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन-रणन नुपुर उर लाज लौट रंकिणी॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ।
उन चरणो को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ॥
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार।'

(२) **भक्ति-भावना**—निरालाजी अद्वैतवादी होते हुए भी भक्त है। भक्त मुक्ति की इच्छा नही करता। मुक्ति मे जीव ब्रह्म होकर आनन्द-स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार वह आनन्द प्राप्ति से वंचित रह जाता है। भक्ति में उसे

आनन्द की प्राप्ति होती है। निरालाजी मे भुक्ति-भावना है। इसलिए वह भक्त बने रहना पसन्द करते है। 'भर देते हो' उनका प्रसिद्ध भक्ति-गीत है। इसमें उनकी भक्ति-भावना का अच्छा विकास हुआ है —

'भर देते हो
बार-बार प्रिय ! करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।'

विपत्ति और सकट के क्षणो मे निरालाजी ने भक्तो की भाँति ही भगवान का स्मरण किया है :—

'डोलती नाव, प्रखर है धार, संभालो जीवन-खेवन हार।'

(३) प्रकृति-प्रेम और छायावाद – निरालाजी प्रकृति-प्रेमी भी हैं। अपने प्रकृति-प्रेम को उन्होने छायावाद की शैली के अन्तर्गत चित्रित किया है। परी के रूप मे संध्या-सुन्दरी का यह चित्रण लीजिए :—

'दिवसावसान का समय
मेघ मय आसमान से उतर रही है—
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गंभीर, नही है उसमें हास-विलास।'

(४) देश-प्रेम—निरालाजी ने अपनी रचनाओ मे यत्र-तत्र अपने देश-प्रेम का भी परिचय दिया है। 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'जागो फिर एक बार' 'शक्ति-पुजा' आदि इस दृष्टि से उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। राजपूती शौर्य के पतन पर उनका क्षोभ इन पंक्तियों मे देखिए :—

'भारत के उर के राजपूत, उड़ गये आज वे देवदूत।
जो रहे शेष, नृप-वेश सूत, बन्दीगण।'

'जलद के प्रति' में उनकी यह हुँकार भी सुन लीजिए :—

'वज्रघोष से ऐ प्रचण्ड ! आतंक जमानेवाले।

कंपित जगम—नीड़-विहङ्गम ऐ न व्यथा पानेवाले ॥
भय के मायामय आँगन पर गरजो विप्लव के नव जल-धर।'

निरालाजी की देश-प्रेमपूर्ण रचनाओ मे उनका सपूर्ण पौरुष जाग उठा है। पराधीनता के दिनो मे लिखी हुई उनकी यह कविता उनके पौरुष और दृढ निश्चय की द्योतक है :—

'क्लेद युक्त अपना तन दूँगा, मुक्त करूँगा तुझे अटल।
तेरे चरणों पर देकर बलि, सकल श्रेय-श्रम-सिंचित फल ॥'

(५) प्रेम का आदर्श—निरालाजी ने अपनी कई रचनाओ में नारी-पुरुष-प्रेम का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। उनके प्रेम का आदर्श यह है :—

'प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिससे ससारियों के सारे क्षुद्र मनावेग, तृण-सम बह जाते हैं'

* * *

'दिव्य देह धारी ही कूदते हैं इस में प्रिये ! पाते हैं प्रेमामृत, पीकर अमर होते हैं।'

* * *

'एक अनुभव बहता रहे उभय आत्माओं में।'

प्रेम मे दो आत्माओ के एकीकरण के पक्ष मे वह नही है। वह प्रेम में दोनों की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करते है, क्योंकि प्रेमानन्द की प्राप्ति इसी दशा मे सभव है। अपने इस प्रेमादर्श के अनुकूल ही उन्होने नारी और पुरुष के बीच प्रवाहित होनेवाले प्रेम का वर्णन किया है। अपने इस प्रकार के वर्णन में उन्होने नारी-पुरुष-प्रेम को सभी रूढियो से मुक्त कर एक सहज मानवीय धरातल पर चित्रित किया है और नारी के व्यक्तित्व के गौरव को समान भाव से उभारा है। यही उनके नारी-पुरुष-प्रेम-वर्णन की विशेषता है।

(६) उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति—निरालाजी सहृदय कवि है। भारत के शोषित, पीड़ित और दलित वर्ग के प्रति उनका हृदय करुणा से भरा हुआ है। उनकी 'विधवा', 'खडहर के प्रति' और 'भिक्षुक' शीर्षक कविताएँ इसी श्रेणी मे आती हैं। इनमे प्रतीक-योजना-द्वारा निरालाजी ने अपने हृदय की सारी करुणा उँडेल दी है। 'विधवा, की ये पंक्तियाँ लीजिए :—

'वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शांत-भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताडव की स्मृत-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है'

इसी प्रकार 'भिक्षुक' का कारुणिक चित्र भी 'कलेजे के दो टूक' करने में समर्थ है। निरालाजी की यह सवेदना विधवाओं और भिखारियो तक ही सीमित नही है, उसका क्रमश विकास हुआ है। 'विधवा' यदि सामाजिक रूढियो में जकड़ी हुई होने के कारण उनमे करुणा की धारा प्रवाहित करती है तो 'भिक्षुक' आज के पूँजीपति के स्वार्थ का शिकार होने के कारण। 'खडहर के प्रति' शीर्षक कविता मे उन्होने अन्योक्ति-द्वारा आज के मानव की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर गहरा व्यग किया है :—

'अथवा
'हो मलते-कलेजा पड़े, जरा-जीर्ण,
निर्निमेष नयनों से
बाट जोहते हो तुम मृत्यु को
अपने सतानों से बूँद भर पानी को तरसते हुए?'

निरालाजी की दृष्टि मे आज के मानव की स्वार्थपरता का मूल कारण उसका भौतिक दृष्टिकोण है। 'भगवान बुद्ध के प्रति' शीर्षक कविता मे उन्होने इस दृष्टिकोण की खरी आलोचना की है और उनकी करुणा का आवाहन किया है। इस प्रकार उनकी समवेदना सामाजिक स्तर से ऊपर उठकर पीड़ित विश्व के प्रति जाग उठी है।

(७) प्रगतिवाद का प्रभाव—निरालाजी की स० १९९५ के बाद की रचनाएँ इस प्रभाव के अन्तर्गत आती है। इनमे न तो कोई काव्य-चमत्कार है और न भाषा की कारीगरी। इस प्रकार की रचनाएँ निरालाजी की मानसिक अस्वस्थता की द्योतक है। निम्न पंक्तियों मे उन्होने पूँजीपतियों के विरुद्ध अपनी खीज को प्रतीक-योजना-द्वारा व्यगपूर्ण शैली मे व्यक्त किया है :—

'अबे, सुन बे गुलाब।
भूल मत, गर पाई खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डार पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट।'

निरालाजी की शैली

निरालाजी ने अपनी शैली का निर्माण अपने ढङ्ग से किया है। स्वतन्त्र प्रकृति के कवि होने के कारण उन्होंने अभिव्यक्ति की किसी विशिष्ट प्रणाली के भीतर अपनी भावनाओ को बाँधना स्वीकार नही किया है। इसलिए उनकी शैली किसी से मेल नही खाती। उनकी शैली की विशेषता उनके स्वच्छद छद मे देखी जा सकती है। इस प्रकार के छदो के वह पहले प्रयोग करता है। 'परिमल' की भूमिका मे उन्होने लिखा है—'मनुष्यो की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यो की मुक्ति कर्मो के बधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदो के शासन से अलग हो जाना।' अपने इस दृष्टि कोण के कारण ही वह हिन्दी के 'युग-प्रवर्तक' कवि कहे जाते है। उनका मुक्त-काव्य हिन्दी मे आज के कवियो का पथ-प्रदर्शक है। लेकिन जब पहले-पहल इसका आयोजन हुआ था तब किसी ने उनके स्वच्छंद छद को 'रबड़ छद' कहा और किसी ने 'केचुआ छद'। उस समय लोगो की ऐसी धारणा थी कि इस प्रकार के छदो का निर्माण मनमाना, होता है, परन्तु यह बात नही है। सस्कृत के वर्ण-वृत्त अतुकान्त होते है। उन्हे हम स्वच्छद छद नही कह सकते। वे वर्ण के नियमो से बधे होते है। स्वच्छद छद मे न तो वर्णों का कोई नियम होता है और न मात्राओ का। उसका निर्माण कवि के भावो के उतार-चढाव के अनुसार होता है। इसलिए भावो का स्वाभाविक प्रवाह बनाये रखना और उन्हे स्पष्ट करते रहना ही इस प्रकार के छद का मुख्य ध्येय है। लय और ताल के अनुसार उसमे संगीतात्मकता का विधान करना इसकी एक विशेषता है। इस विशेषता के कारण स्वच्छंद छद अपने मे पूर्ण और सुपाठ्य हो जाता है। निरालाजी ने गीत, मुक्तक, प्रबन्ध—सब कुछ प्राय. इसी शैली मे लिखा है और इसमे उन्हे अच्छी सफलता मिली है।

निरालाजी हिन्दी के श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला का उत्कर्ष उनके

कथन मे दिखाई देता है। वह सीधे अपनी बात को कहना नही जानते। वक्रता-पूर्ण व्यंजना उनके स्वाभाव की एक विशेषता है। अपनी इस विशेषता के कारण उन्होने अपनी रचनाओ मे उपमानो का अत्यन्त सुन्दर आयोजन किया है। अना-वश्यक अलकारो का योजना उनकी रचनाओ मे नही है। उनके साग रूपक बहुत ही सुन्दर बन पड़े है। अनुप्रास से भी उन्हे प्रेम है। सन्देह, यमक, विशेषण-विपर्यय आदि के भी सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओ मे मिलते है। इसके साथ ही भावनाओ का मानवीकरण करने मे भी वह सिद्धहस्त है। शब्द-शक्तियो मे उन्होने अभिधा और व्यजना से अधिक काम लिया है। शब्दो के लाक्षणिक प्रयोग उनकी रचनाओ मे कम मिलते है। रस की दृष्टि से निरालाजी ने शात, शृङ्गार, वीर, रौद्र, करुण आदि का सफल निर्वाह किया है।

निरालाजी की भाषा

निरालाजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है। इस पर संस्कृत का अधिक और बगला तथा फारसी का अपेक्षाकृत कम प्रभाव है। इन तीनो भाषाओ के शब्दो का मेलकर उन्होने अपनी खडीबोलो मे त्रिवेणी प्रवाहित की है। सस्कृत के शब्दो के साथ बगला के शब्द आसानी से मेल खा जाते है, लेकिन फारसी के शब्द उनकी भाषा मे कही तो मेल खा जाते है, और कही अनुपयुक्त प्रतीत होते है।

सस्कृत के तत्सम शब्दो की दृष्टि से निरालाजी की भाषा के दो रूप्र है. (१) सरल और (२) क्लिष्ट। उनकी सरल भाषा का यह उदाहरण लीजिए :—

'दो टूक कलेजे के करता पछताना पथ पर आता।'

इस प्रकार की प्रसादपूर्ण भाषा मे सरल भावो की व्यजना हुई है। इसके साथ ही इसकी सहायता से मनमोहक शब्द-चित्र भी प्रस्तुत किये गये है। लेकिन यही भाषा गभीर भावो की व्यजना मे गभीर हो गई है '—

गंध व्याकुल-कूल उर-सर
लहर-कच-कर-कमल मुख पर
हर्ष अलि हर स्पर्श-शर सर,
गूंज बारबार ! (रे कह)

इसकी तुलना मे निरालाजी की सस्कृत-गर्भित भाषा अत्यत क्लिष्ट और दुरूह है :—

'रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल वानर-दल-बल,
मूर्छित-सुग्रीवांगद—भीषण गवाक्ष-गय-नल ।'

'शक्ति-पूजा' को यह भाषा शक्तिमयी और ओजपूर्ण है। निरालाजी अपनी ओजपूर्ण भाषा के लिए प्रसिद्ध है । उनकी भाषा का यह गुण उनके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप है । इस विशेषता के साथ ही उनकी भाषा मे कई दोष भी हैं। व्याकरणपरक होने पर भी उनकी भाषा स्पष्ट नही है । उसमे विभक्तियो और क्रिया-पदो के लोप बहुत खटकते है । साथ ही लम्बे सामासिक पदो के प्रयोग से वह अस्वाभाविक-सी हो गई है ।

---

२७ : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्म-स० १९५४

जीवन-परिचय

प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म उज्जैन के निकट शुजालपुर परगने के भ्याना नामक ग्राम मे मार्गशीर्ष पूर्णिमा, सवत् १९५४ तदनुसार ८ दिसम्बर, १८९७ ई० को हुआ था। उनके पिता प० जमुनाप्रसाद शर्मा साधारण स्थिति के ब्राह्मण थे। वल्लभाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण वह उदयपुर-राज्यान्तर्गत वैष्णवो के प्रधान तीर्थ श्रीनाथद्वारा मे रहते थे । इसलिए कुछ बड़े होने पर नवीनजी भी अपनी माता के साथ वहाँ जाकर रहने लगे । वहाँ शिक्षा का कोई प्रबन्ध नही था । इसलिए कुछ दिनो बाद वह अपनी माताके साथ वहासे अपने गाँव चले आये। १० वर्षकी अवस्थासे उन्होंने पढना-लिखना आरम्भ किया । शुजालपुर से अगरेजी मिडिल पास करने के बाद हाईस्कूल की शिक्षा के लिए वह उज्जैन चले गये और माधव कालेज में प्रविष्ट हुए । सं० १९७४ मे उन्होने इस कालेज से मैट्रीकुलेशन पास किया । इसी वर्ष वह काग्रेस का अधिवेशन देखने के लिए लखनऊ गये । वहाँ विद्यार्थीजी से

उनका परिचय हुआ। इस परिचय का उन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह फिर उज्जैन मे न रह सके।

उज्जैन से नवीनजी कानपुर गये। वहाँ वह श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ रहने और क्राइस्ट चर्च कालेज मे पढने लगे। जिस वर्ष वह बी० ए० में थे उसी वर्ष असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। बहुत से विद्यार्थी कालेज छोड़कर देश-सेवा मे लग गये। नवीनजी पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उन्होने कालेज छोड़ दिया और विद्यार्थीजी के साथ राष्ट्रीय कार्य मे लग लगे। राष्ट्रीय कार्य करते हुए नवीनजी को कई बार जेल जाना पड़ा। अपनी जेल-यात्राओ मे उन्होने 'विस्मृता उर्मिला' को पूर्ण किया। इन घटनाओ से स्पष्ट है कि वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही साहित्य और राष्ट्र का कार्य करते रहे है। उनके जीवन पर श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का विशेष प्रभाव पड़ा है। विद्यार्थीजी के १५ वर्ष के पुनीत सहयोग एवं साहचर्य ने उनके उत्साह को कार्य रूप में परिणत किया है और वह जो कुछ है वह विद्यार्थीजी का ही प्रसाद है। इस समय वह भारतीय ससद के सदस्य हैं।

नवीनजी की रचनाएँ

नवीनजी नवीन धारा के प्रथम उत्थान के कवि हैं। उनका रचना-काल स० १९७४ से आरम्भ होता है। उनकी पहली रचना 'सतू' नाम की कहानी 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई थी। इसके बाद उनकी एक कविता 'जीव और ईश्वर से वार्तालाप' मुरादाबाद से प्रकाशित होनेवाली 'प्रतिभा' पत्रिका मे छपी। इस तरह धीरे-धीरे उन्होंने काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया। उन्हाने कई राष्ट्रीय भावना-प्रधान कविताएँ लिखी। 'विस्मृता उर्मिला' (सं० १९८६) के पश्चात् 'कुँकुम (स० १९८६) उनकी प्रारम्भिक रचनाओ का सग्रह है। 'अपलक' (स० २००८) मे उनके उन गीता का सग्रह है जिनका जन्म अधिकाश जेला मे हुआ है। इन गीतो मे प्रिय की स्मृति ने उन्हे प्रेरणा दी है। इनमे करुणा और कसक के साथ कवि की बेबसी का सजीव चित्रण है। 'क्वासि' (स० २००९) और 'रश्मि-रेखा' (स० २०१३) उनकी नवीनतम रचनाएँ है।

नवीनजी की काव्य-साधना

नवीनजी हिन्दीके भावुक और स्वच्छन्दतावादी कवि हैं। ठाकुर गोपाल शरण

सिंह की भाँति उनकी रचनाओ का कोई विशिष्ट उद्देश्य नही है। उनके मन में जो भाव आते हैं उनको वह अपने शब्दो का परिधान पहनाकर काव्य का रूप दे देते है। इसलिए उनकी रचनाएँ प्रायः भाव-प्रधान है। उनकी भाव-प्रधान रचनाओको हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है : (१) राष्ट्र-प्रेम-प्रधान, (२) विचार-प्रधान और (३) प्रणय-प्रधान।

(१) **राष्ट्र-प्रेम-प्रधान रचनाएँ**—राष्ट्रीय चेतना के क्षेत्र मे वह प० माखन लाल से विशेष प्रभावित हैं। इसलिए उनकी रचनाओ मे भी क्रांति का उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है। उन्होने जिस समय कविता करना आरम्भ किया उस समय देश मे गाधीजी का असहयोग आन्दोलन पूरे वेग पर था। नवीन जी ने उसमे भाग लिया और पकड़े गये। बन्दी के रूप मे उन्होने जो कुछ अनुभव किया उसकी अभिव्यक्ति इन पक्तियो मे देखिए :—

'ताला-कुंजी, लालटेन, जॅगला कैदी ये सब है ठीक।
खींच चुकी है नौकरशाही अपने सर्वनाश की लीक॥
तेरी चक्की के ये गेहूँ पिसते हैं पिस जाने दो।
चक्की पिसवानेवालो को मिट्टी मे मिल जाने दो॥'

ऐसो सामयिक रचनाएँ लेकर नवीनजी हमारे सामने आये और उन्होने हमें प्रभावित किया, लेकिन आजादी के दीवानो की इस उमङ्ग पर चौराचौरी के हत्याकाड ने तुषारपात कर दिया। फलस्वरूप गाधीजी ने सत्याग्रह-आदोलन बन्द कर दिया। आन्दोलन के बन्द होने से देश मे निराशा छा गई। नवीनजी आन्दोलन जारी रखने के पक्ष मे थे। इसलिए उनका हृदय विद्रोह कर उठा। अपने 'पराजय-गीत' मे उन्होने इस विद्रोह-भावना का चित्रण इस प्रकार किया है :—

'अरे पराजित ओ रण-चण्डी के कुपूत हटजा, हटजा।
अभी समय है कह दे, माँ-मेदिनी जरा फटजा, फटजा॥'

'विप्लव-गायन' मे यह विद्रोह-भावना और भी तीव्रतर हो उठी है :—

'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये॥

प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुँआँधार नभ में छा जाये॥'

नवीनजी की क्रांति-भावना का आधार देश की पराधीनता ही नहीं; उस पराधीनता से उत्पन्न श्रमजीवियों की दुर्दशा भी है :—

'जिनके हाथों में हल बक्कर, जिनके हाथों में धन है।
जिनके हाथों में हँसिया है वे भूखे हैं, निर्धन हैं॥'

इसलिए क्रान्ति-द्वारा इस दुनिया का अन्त कर नवीनजी एक ऐसी दुनिया का निर्माण करना चाहते है जिसमे मानव की प्रतिष्ठा हो.—

'हे मानव ! कब तक मेटोगे यह निर्मम महा भयकरता,
बन रहा आज मानव देखो मानव का ही भक्षण करता।
है दुनिया बहुत पुरानी यह, रच डालो दुनिया एक नई,
जिसमें सर ऊँचा कर विचरें इस दुनिया में बेनाज कई।'

(२) विचार-प्रधान—नवीनजी की इन पक्तियो मे आज के मानव के लिए जीवन-जागृति का एक नूतन सदेश है, लेकिन वह इस सदेश की उपेक्षा कर भौतिक उन्नति के साधनो मे लगा हुआ है। उसमे पृथ्वी आकाश-पाताल—सब छान डाले है, लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नही है। वह इतना भूतग्रस्त है कि भौतिकता का उत्क्रमण करने मे वह असमर्थ हो रहा है। उसकी विवशता का चित्र 'रहस्य उद्घाटन' शीर्षक कविता की इन पक्तियो मे देखिए :—

'यो इन्द्रियगण की परिगणना, यो मन का घटना सश्लेषण,
हिय को जँचे अधूरे ये सब, ये जग के सब रूप विशेषण।
किन्तु क्या करे ? थक कर बैठे क्या यह मानव हिय-हारा-सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे करे क्रमित यह बेचारा-सा ?
भूतग्रस्त है जो, वह कैसे भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, सोच रहा है यो अपने मन॥'

नवीनजी को विश्वास है कि एक दिन आज का जड़-ग्रस्त मानव अपनी भौतिक सीमाओ से ऊपर उठकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करेगा और तब ऐसे ससार का निर्माण होगा जिसमें मानव की पूरी प्रतिष्ठा होगी।

क्रांति की ज्वाला है तो दूसरी ओर प्रेम का उफान । यदि प्रेम से अत्याचार और उत्पीडन का अन्त नही होता तो नवीनजी तलवार का उपयोग उचित समझते है । यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है । अपनी इसी विशेषता के कारण वह गुप्तजी से भिन्न राष्ट्र-कवि है ।

गुप्तजी आदर्शवादी राष्ट्र कवि है । सस्कृति-शून्य राष्ट्रीयता के वह पोषक नही हैं । इसलिए वह अपनी राष्ट्रीयता को देश के प्राचीन गौरव के आवरण से ढके रहते है । अपने इस दृष्टिकोण से बधे रहने के कारण उनकी राष्ट्र-चेतना मे उग्रता नही है । वह गाधीवाद के समर्थक है । उनमे नीति और आदर्श का मेल है । नवीनजी का व्यक्तित्व इससे सर्वथा भिन्न है । वह गुप्तजी की तरह फूँक-फूँक कर चलनेवाले राष्ट्र-प्रेमी नही है । उनके लिए वर्तमान का महत्व है, भूत का नही । वह पीछे मुड़कर देखना पसद नही करते । वह वर्तमान की समस्याओ को वर्तमान की निश्चित मर्यादाओ के अनुसार हल करना चाहते हैं । उन पर न तो गाँधीवाद का प्रभाव है और न प्राचीन आदर्शो का । गुप्तजी की तरह वह गाधीवादी भी नही है, पर लोक-कल्याण का भाव उनमे अवश्य हैं । उन्होने 'स्व' का ही चित्रण किया है और वर्तमान से प्रेरणा पाकर वर्तमान के ही गीत गाये हैं । गुप्तजी की तरह हृदय को कुरेद-कुरेद कर उन्होने कविता नही की है । उनकी कविता निर्झरणी की भाँति प्रवाहित हुई है ।

नवीनजी की शैली

नवीनजी की शैली अत्यन्त स्वाभाविक और अलकार-हीन है । उनके पास भावो का अपरिमित कोश है, लेकिन उन भावो को काव्योचित ढग से सजाने-सँवारने की कला उनमे नही है । कला-विहीन होने के कारण उनकी कविता नंगी-उघारी-सी लगती है । भाषा मे शब्दो की अभिधा-शक्ति से ही काम लिया गया है । उसमे लक्षणा अथवा व्यजना से जो काव्य सौंदर्य स्थापित किया जाता है उसका सर्वथा अभाव है । शब्द-चयन भी सुन्दर नही है । स्थान स्थान पर शब्दो का अटपटापन भावो और सगीत के प्रवाह मे बाधक होता है । इन अभावो का समावेश नवीनजी की शैली मे अनायास ही हो गया है । उनमे भावो का आवेश इतना

अधिक है कि उनकी भाषा उसे सँभाल नही पाती और वह अपने साथ कला को भी बहा ले जाती है।

नवीनजी ने हिन्दी के नवीन छदो मे प्राय: गीत ही लिखे है जिनमे वीर, रौद्र, करुण अथवा शृङ्गार रस पाया जाता है। प्रणय के गीतो मे करुण और शृङ्गार रस का परिपाक हुआ है। करुण और शृङ्गार के गीत तो अच्छे लगते हैं, लेकिन 'विप्लव गीत' अथवा 'पराजय गीत' वास्तव मे गीत नही है। ये भाव-प्रधान कविताएँ है जो लबी होने पर भी नही अखरती। लेकिन प्रणय-सबधी गीतो मे बार बार एक ही भाव को भिन्न-भिन्न शब्दो मे दुहराने से जो दीर्घता आ गई है वह अधिक खटती है। गीत की एक सीमा होती है। उस सीमा के भीतर ही गीत वास्तव मे गीत कहे जा सकते है। गीतो मे अधिक विस्तार देने से उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है और उनकी सरसता जाती रहती है।

नवीनजी की भाषा

नवीनजी की भाषा खड़ीबोली है। उसमे कलात्मक प्रयास का अभाव है। शब्द-चयन भी शिथिल है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ 'पे' 'फुहियाँ', 'छिन', 'छेड़ो हो', 'टुक', 'हिय', 'पेखो', 'दूजे', 'निरगुन' आदि शब्द कविता की सारी सरसता अपहरण कर लेते है। इसी प्रकार अरबी-फारसी के शब्द 'वर्क', फर्क', 'जरा', 'अरमान', 'अजब', 'लबा रिश्ता', 'गोया', 'तोबा', 'शोला', 'बारिश' आदि के प्रयोग से खड़ीबोली की पवित्रता नष्ट हो गई है। साथ ही 'बादल से उमड़े मदिरा बाला', 'धूल उड उठे दाएँ-बाएँ', 'गर्जन उठ धाए' 'सहे न सहेगा' 'आन पधारी' आदि मे मुहावरो के अनुचित प्रयोग मिलते है। 'बिदिया' शीर्षक कविता भाव और कल्पना की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है, लेकिन भाषा की दृष्टि से यह भी शिथिल रचना है। इसकी ये पक्तियाँ लीजिए :—

> 'क्या सुन्दर साज सजा है मृदु नयनों की गाँसी का;
> है खूब इकट्ठा सामाँ इन प्राणों की फाँसी का।'

नवीनजी के पास कल्पना की प्रचुर शक्ति है, भावो का अमित कोश है, लेकिन उनके पास भाषा नही है। लगता है, भाषा के अभाव मे उनके भाव और उनकी कल्पनाएँ अभिव्यक्ति पाने के लिए छटपटा रही है। उनकी हाल की रचनाओ

सं० १९७६ ई० मे पंतजी को अपना कालेज जीवन समाप्त कर देना पड़ा। इसके पश्चात् वह घर चले गये और वहाँ उन्होने स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना आरम्भ किया। उनका अध्ययन कई दिशाओ मे हुआ। अगरेजी तथा अन्य विदेशी साहित्यकारो के काव्यो, बगला के साहित्यिक ग्रन्थो और सस्कृत के काव्यो का मनन करने से उनकी प्रतिभा को पर्याप्त बल मिला। कविता करने की ओर उनकी प्रवृत्ति आरभ से ही थी। अध्ययन से उनकी प्रतिभा जाग उठी और फिर वह साहित्य-सेवा मे लग गये। आज वह अपनी कृतियो से हिन्दी का भाडार भर रहे है। संगीत से उन्हे विशेष प्रेम है। मद्रास मे रहकर उन्होने उदयशंकर के चलचित्र 'कल्पना' मे भी कार्य किया है। 'लोकायन' सस्कृति-पीठ के निर्माण और सङ्गठन मे उन्होने पर्याप्त सहयोग दिया है। 'रूपाभि' के वह सपादक रह चुके है। इस समय वह प्रयाग मे है और रेडियो-विभाग मे उच्च पद पर आसीन है।

पंतजी की रचनाएँ

पतजी का रचना-काल स० १९७५ से आरभ होता है। उस समय से अब तक उन्होने हमे विविध प्रकार की रचनाएँ दी है। गद्य और पद्य दोनो मे उनकी समान पहुँच है। 'गद्य-पथ' (स० २०१०) मे उनके कई निबन्ध सगृहीत हैं। उन्होने कहानियाँ भी लिखी है जिनका सग्रह 'पाँच कहानियाँ (स० १९९३) के नाम प्रकाशित हो चुका है। लेकिन उनका यह वास्तविक क्षेत्र नही है। वह मूलत कवि है। उनके काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार है :—

(१) **खण्ड-काव्य**—ग्रन्थि (सं० १९८३)

(२) **रूपक**—ज्योत्सना (सं० १९९६), रजत-शिखर (सं० २००८), शिल्पी (सं० २००९), उत्तर-शती (स० २०१०)।

(३) **मुक्तक-काव्य**— उच्छ्वास (स० १९७९), वीणा (स० १९८२), पल्लव (स० १९८४), गुंजन (सं० १९८?), युगान्त स० १९९४), युग-वाणी (सं० १९९६), ग्राम्या (स० १९९७), स्वर्ण-धूलि (स० २००४), स्वर्ण-किरण (सं० २००४), मधुज्वाल (स० २००५), युग-पथ (सं० २००६), उत्तरा (स० २००६), अतिमा (सं० २०१२) और वाणी (स० २०१४)

(४) संकलन—पल्लविनी (स० १९९७), आधुनिक कवि (स० १९९८) रश्मि-बंध (सं० २०१५) और चिदम्बरा (स० २०१६)

इन रचनाओ के अतिरिक्त पतजी ने उमर खय्याम की रुबाइयो का हिन्दी-रूपान्तर किया है।

पंतजी की काव्य-साधना

हिन्दी के छायावादी-कवियो मे पतजी एक ऐसे कवि है जिन्होने प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण कर काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया है। वह प्रकृति की गोद मे जन्मे और बड़े हुए है। 'वीणा' में संगृहीत उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ उनके प्रकृति-प्रेम के उल्लास से भरी हुई है। साथ ही उनमे प्रकृति और मानव-जीवन के प्रति एक कैशोर जिज्ञासा और रहस्य-भावना भी है जिसे 'पल्लव' मे पूर्णता प्राप्त हुई है। 'पल्लव' मे उनकी प्रकृति-प्रेम की भावना सौंदर्य-प्रधान हो गई है। इसके बाद उनकी काव्य-साधना जीवन-दर्शन की ओर अग्रसर होती है। इसकी सूचना 'पल्लव' मे संगृहीत 'परिवर्तन' शीर्षक कविता से मिलती है। इस रचना पर स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन का प्रभाव है। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द का जीवन-दर्शन अभावात्मक नही है। इसलिए पतजी नियतिवादी और निराशावादी होने से बच गये है।

पतजी की अगली रचना 'गुँजन' मे उनका 'आत्म-चिन्तन' है। जीवन मे व्याप्त हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि को स्वीकार करते हुए उनका 'आत्म-चिंतन' उनमे समन्वय स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ है। साथ ही मानव-कल्याण के प्रति उनकी बौद्धिक सहानुभूति है। इस दृष्टि से 'गुंजन' की रचनाएँ अपने मे बेजोड़ है। 'वीणा' से 'गुंजन' तक पतजी ने भाव और कल्पना के जैसे सुन्दर चित्र अंकित किये है वैसे अन्यत्र दुर्लभ है। लेकिन इसके बाद उनकी काव्य-साधना मे जो मोड़ आया है वह पहले से सर्वथा भिन्न है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे भाव और कल्पना के चित्रो के स्थान पर जीवन के मूर्त चित्र अंकित किये गये है। इन चित्रो का निर्माण मुख्यत मार्क्सवाद के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है। पतजी न तो कोरे गाधीवादी है और न कोरे मार्क्सवादी। उनका जीवन 'मधुकर का-सा जीवन' है। इसलिए वह कभी मार्क्सवाद की ओर झुके हैं

और कभी गाधीवाद का आर । वह दोनो मे सतुलन नही कर सके हैं । 'ग्राम्या' के पश्चात उनकी काव्य-साधना ने फिर एक नया मोड़ लिया है । इस बार 'स्वर्ण किरण, आदि की कविताओ में दार्शनिक गम्भीरता नही, बल्कि अरविन्द से प्रभावित दर्शन को काव्यारूप देने का आग्रह है ।

पतजी विकासशील कवि है । उनकी काव्य-साधना का विकास युग के अनुकूल स्वाभाविक ढङ्ग से हुआ है । युग-जीवन से नये-नये प्रभाव ग्रहण करने के लिए उन्होने अपने हृदय और मस्तिष्क को सदैव खुला रखा है । प्रतिभा भी उनमे इतनी सबल है कि वह अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाको को अपनी इच्छानुसार काव्य-रूप देने मे सफल हुए है । अब तक वह प्रकृति से जीवन, जीवन से प्रगति और प्रगति से दार्शनिक चेतना को ओर बढ़े है । यहॉ हम उनको इन्ही काव्य-प्रवृत्तियो पर सक्षेप मे विचार करेंगे ।

(१) प्रकृति-चित्रण—पतजी प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार उन्होने कई शैलियो मे प्रकृति का सफल चित्रण किया है । चित्रात्मक शैली मे प्रकृतिका वर्णन इन पक्तियो मे देखिए —

'चॉदनी रात का प्रथम प्रहर, हम चले नाव लेकर सत्वर ।
सिकता की सस्मित सीपी पर, मोती की ज्योत्स्ना रही बिखर ।।
लो पाले चढ़ीं, उठा लंगर ।'

पतजी प्रकृति के शब्द चित्र अंकित करने मे बहुत कुशल है । उन्होने प्रकृति को सजीव रूप मे देखा है । निम्न पक्तियो मे प्रकृति का सजीव चित्र देखिए —

'पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश ।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड ।।
अवलोक रहा है बारबार, नीचे जल मे निज महाकार ।
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण-सा फैला है विशाल ।।'

यह छायावादी शैली मे प्रकृति का सजीव चित्रण है । 'नौका-विहार' की निम्न पक्तिया भी इसी शैली की ओर सकेत करती है —

'विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक-दल ।
ज्योतित कर जल का अन्त तल ।

'जिनके लघु दीपो को चचल, अंचल की ओट किये अविरल ।
फिरती लहरें लुक छिप पल-पल ।'

पतजी को प्रकृति से रहस्यात्मक सकेतो का भी आभास मिलता है —

'शात सरोवर का उर किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चचल चचल ।'

पतजी ने अपने प्रकृति-वर्णन मे सवेदनात्मक शैली का भी उपयोग किया है । निम्न पंक्तियो मे उन्हे सुनहली संध्या ज्वालामय लाक्षागृह-सी प्रतीत हो रही है :—

'धधकती है जलदों से ज्वाल, बन गया नीलम व्योम प्रवाल ।
आज सोने का संध्या काल, जल रहा जतु-गृह-सा विकराल ॥'

इस शैली से भिन्न एक दूसरी शैली भी है जिसमे प्रतीक रूप मे प्रकृति का उपयोग कर मानसिक दशा का चित्रण किया जाता है । इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण मे मानसिक दशा का प्रमुख और प्रकृति का गौण स्थान रहता है । इसे हम प्रतीकात्मक प्रकृति-चित्रण कह सकते हैं । पंतजी ने अपनी रचनाओ मे यत्र तत्र इसका भी सफल प्रयोग किया है —

'तड़ित-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान, प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ गर्जन कर जब गम्भीर मुझे करता है अधिक अधीर ।
जुगुनुओ से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं तब तुम्हे निदान ॥'

अपनी रचनाओ मे कही-कही पतजी ने प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता धारी नारी के रूपमे भी देखा है —

'उस फैली हरियाली मे, कौन अकेली खेल रही माँ !
वह अपनी वयवाली में ।'

पतजी ने जब प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब उन्होने अपने को भी नारी रूप मे अकित किया है । प्रकृति के कोमल रूप के साथ ही 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे उन्होने प्रकृति के उग्ररूप का भी चित्रण किया है । इस प्रकार उनका प्रकृति-चित्रण सभी दृष्टियो से सुन्दर और काव्योचित है ।

(२) **जीवन-दर्शन**— प्रकृति के साथ-साथ पतजी जीवन के भी कवि हैं ।

आत्मा की सत्ता मे उनका अटल विश्वास है। साथ ही वह संसार की सत्ता स्वीकार करते हैं। उसकी प्रत्येक वस्तु से उन्हे प्रेम है और जग-जीवन मे वह उल्लास का अनुभव करते है —

'जग-जीवन मे उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे।'

सिद्धान्तत: पतजी जीवन मे सुख और दुख दानो की सत्ता स्वीकर करते है —

'बिना दुख के सब सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार।'

* * *

'सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।'

पतजी जीवन का शाश्वत अस्तित्व स्वीकार करते है। इसलिए सुख-दुख का उसमे कई अस्तित्व नही है —

'सुख-दुख के पुलिन डुबाकर लहराता जीवन-सागर।
अस्थिर है जग का सुख-दुख, जीवन ही नित्य चिरतन॥'

इसलिए पन्तजी कहते है :—

'जीवन की लहर-लहर से हम-खेल खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में नित डूब-डूब रे भाविक!'

लेकिन, लगता है, पन्तजी को अपने इस 'निष्क्रियावादी समन्वय' से सतोष नही हुआ उनको मानव जीवन की अपूर्णता 'उन्मन उन्मन' ही बनाती रही। फलत उनकी इस मन स्थिति ने उन्हे व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठकर 'जग-चिन्तन' को प्रेरणा दी। उनके 'जग-चिंतन' का आभास 'गुजन' की ही अनेक रचनाओं से मिलने लगता है।

(३) **मानव-प्रेम और नवीन** सस्कृति — स० १९९० से स० २००० तक की पन्तजी की रचनाएँ लोक-मगल की कामना से अभिभूत है। यह समय भारत की राजनीति मे बड़े उथल-पुथल का समय था। इस समय तक गाँधीवादी सिद्धान्तो के अनुरूप स्वतन्त्र भारत के भावी समाज की रूप-रेखा स्पष्ट नही हो पाई थी और इसके अभाव मे सोवियत रूप के साम्यवादी समाज ने भारतीय विचारको को मार्क्सवाद के नवीन मानववादी जीवनादर्शों की ओर उत्प्रेरित कर

दिया था। पन्तजी को भी इन से प्रेरणा मिली और 'गुंजन' के बाद 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना उन्होंने इन्ही प्रभावो के अन्तर्गत की। इनमें उन्होने प्रकृति और जीवन के माँसल चित्र अंकित किये हैं। साथ ही वर्तमान अर्थ-व्यवस्था से उत्पन्न जीवन की विषमताओ के प्रति 'तपरे मधुर-मधुर मन, विश्व-वेदना में तप प्रतिपल', वाली पक्तियाँ भी मुखर हो उठी है और उन्होने कहा है: —

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क-शीर्ण !

* * *

'गर्जन कर मानव- केसरि !
प्रखर नखर नवजीवन की लालसा गड़ाकर,
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर।'

गत युग के सड़े-गले जीवनादर्शो के प्रति पन्तजी की यह क्रान्तिकारी भावना उनकी एक ऐसी 'नव-संस्कृति' को जननी है जिसमे सदाचार और धर्म की महत्ता जन-हित पर आश्रित होगी और व्यष्टि की विशिष्टता समष्टि में लीन रहेगी :—

'धर्म, नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जन हित।
सत्य नहीं वह, जनता से जो नहो प्राण-सम्बन्धित।।'

* * *

'क्षुद्र व्यक्ति का विकसित हो अब बनना है जन-मानव।
सामूहिक मानव को निर्मित करना है नव संस्कृति।।'

नव संस्कृति के निर्माण मे पन्तजी का अपना स्वतन्त्र विचार है। इस दिशा मे उन्होने अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के अनुसार गाँधीवादी और साम्यवाद के सत्यो के मेल से काम लिया है। उनके विचार से व्यक्ति के विकास के लिए सत्य और की अहिंसा आवश्यकता है और साम्यवाद की भावना समष्टि के उन्नति के लिए अपेक्षित है। लोक-मंगल के लिए वह इसी की आवश्यकता महसूस करते हैं। 'उत्तर-शती' मे वह कहते है :—

'धनिक-श्रमिक के बीच भयङ्कर
जो शोषित-पंकिल खाई है

वर्ण-भेद की
उसे पाटना है इस युग को
आत्म-त्याग से,
सहिष्णुता, शिक्षा-समत्व से
और नहीं तो,
सत्याग्रह के शत-शत निर्भय बलिदानों से ?'

इन पंक्तियो मे लोक-कल्याण के लिए जिस नवीन संस्कृति का आग्रह है वह पन्तजी के काव्य की अनुपम विशेषता है। पन्तजी अपनी इस विशेषता के कारण छायावादी युग के सर्वश्रेष्ठ मानववादी कवि है।

(४) नारी और प्रेम—नारी और प्रेम छायावादी कवियो का मुख्य विषय रहा है। इस सम्बन्ध मे पन्तजी ने भी अपने उद्‌गार व्यक्त किये है। 'ग्रन्थि' उनकी प्रेम-व्यजना से परिपूर्ण एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है जिसमे वियोग शृङ्गार का अच्छा वर्णन हुआ है। असफल प्रेमी के हृदय का हाहाकर इन पक्तियो मे सुनिए :—

'कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिधकर तड़पता है, उधर,
दग्ध चातक तरसता है, विश्व का
नियम है यह, रो, अभागे हृदय ! रो !!'

प्रेम का यही तकाजा है कि प्रेमी को प्रेयसि के वियोग मे तडपना पड़ता है। पन्तजी ने इसी वियोग-व्यथा को काव्य की प्रथम प्रेरणा माना है :—

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखो से चुप चाप, बही होगी कविता अनजान।'

'ग्रन्थि' मे नारी-पुरुष-प्रेम-भावना का चित्रण सामाजिक धरातल पर हुआ है, लेकिन 'पल्लव' मे उसे मानवीय आधार प्राप्त हुआ है :—

स्नेहमयि सुन्दरतामयि !
तुम्हारे रोम-रोम से नारि मुझे है स्नेह अपार;
तुम्हारा मृदुल उर ही सुकुमारि ! मुझे है स्वर्णागार;

तुम्हीं इच्छाओ की अवसान, तुम्हीं स्वर्गिक आभास,
तुम्हारी सेवा मे अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !'

नारी के प्रति यह उदार भावना छायावाद-युग की देन है ।

पन्तजी की शैली

पन्तजी का काव्य हमे दो रूपो मे मिलता है (१) गीति-काव्य और (२) वर्णनात्मक काव्य । उनका गीति-काव्य भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है : (१) भाव-प्रधान और (२) विचार-प्रधान । 'वीणा' और 'पल्लव' के गीत भाव-प्रधान है, लेकिन 'गुंजन' के गीत प्राय विचार-प्रधान है । विचार-प्रधान गीतो मे जीवन की दार्शनिक अभिव्यंजना अधिक हुई है, इसलिए वे उतने सरस नही है जितने भाव-प्रधान गीत । भाव-प्रधान गीतो मे तन्मयता की मात्रा अधिक है । उनमें शृङ्गार, करुण और शान्त रसो का अच्छा परिपाक हुआ है ।

पन्तजी के वर्णनात्मक काव्य मे भाव और विचार दोनो को एक साथ स्थान मिला है । 'नौका-विहार', 'महात्माजी के प्रति', 'परिवर्तन', 'मानव' आदि उनके इसी प्रकार के काव्य है जिनमे भावो और दार्शनिक विचारो की अनेक सुन्दर लड़िया गूथी गई है । 'परिवर्तन' विचार-प्रधान रचना होते हुए भी रस-योजना की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर काव्य है । इसमे करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और शान्त के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिलते है । 'ग्रन्थि' मे रूप और परिस्थितियो के चित्रो के साथ प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, वेदना और कसक आदि विरह के उपकरणो पर अनुभूतिपूर्ण उद्गार है ।

पन्तजी के काव्य का कला-पक्ष अत्यन्त सबल है । शब्दो के लाक्षणिक प्रयोगो से उनकी रचनाएँ भरी हुई है । साथ ही भावो के मानवीकरण मे भी वह सिद्ध-हस्त है । प्रकृति-चित्रण मे उन्होने इसका अच्छा प्रयोग किया है । शब्दालकारो में अनुप्रास, श्लेष, यमक, पुनरुक्ति, सन्देह, समासोक्ति, यथासंख्य आदि के सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओ मे मिलते है । अँगरेजो के विशेषण-विपर्यय अलंकार से भी उन्होने अपनी कविता-कामिनी को सजाया है । 'मूक व्यथा का मुखर-भुलावा' मे यही अलंकार पाया जाता है ।

पन्तजी की छन्द-योजना अत्यन्त समृद्ध है। हिन्दी-छन्दो मे उन्हे पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि छंद अधिक प्रिय हैं। इन छन्दो के प्रयोग मे संगीत की प्रतिष्ठा करने के लिए उन्होने सफलतापूर्वक कुछ परिवर्तन भी किया है। इनके अतिरिक्त अतुकात छन्द और स्वच्छन्द छन्द के प्रयोग मे भी वह सफल है। अँगरेजी के चतुष्पदी और षष्टपदो छन्द भी उनकी रचनाओ मे मिलते है। उनके ये सभी छंद भावो की गति के अनुसार आगे बढते हैं। उन्हे छन्दो के चुनाव के लिए सोचना नही पड़ता, भाव स्वयं अपने अनुकूल छद का निर्वाचन कर लेते है।

पन्तजी की भाषा

पन्तजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खडीबोली है। उसमे सस्कृत के सरल और क्लिष्ट तत्सम शब्दो के साथ ब्रजभाषा के 'अजान', 'दई', 'दीठ', 'काजर', 'कोर' और फारसी के 'नादान', 'चीज' आदि शब्द भी मिलते है। इन शब्दो के साथ पन्तजी ने कुछ स्वरचित शब्दो को भी स्थान दिया है। 'स्वप्निल', 'अनिर्वच' आदि उनके गढ़े हुये शब्द है। 'सा', 'सी', 'रे' आदि का प्रयोग भी वह अत्यधिक करते है। प्रचलित शब्द के अनुरूप वह नये शब्द बनाने को कला मे भी पारगत है। प्रहसित, विहसित, सस्मित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन शब्द उन्होने इसी प्रकार बनाये है। इसके अतिरिक्त उन्होने कुछ पुल्लिग शब्दा का स्त्रीलिग की तरह और कुछ स्त्रीलिग शब्दो का पुल्लिग की तरह प्रयोग किया है। कही-कही सस्कृति के सधि-नियमो का भी उल्लघन किया गया है। ऐसा उन्होने केवल शब्द और अर्थ मे सामजस्य लाने के लिए ही किया है। उनकी भाषा में मुहावरो और कहावतो का अभाव है।

पंतजी की भाषा अत्यन्त मधुर और कोमल है। उसमे प्रसाद और माधुर्य गुण पाया जाता है। व्यजना की अपेक्षा उसमे अभिधा और लक्षणा से अधिक काम लिया गया है। साथ ही सगीतात्मकता और चित्रोपमता भी उसकी एक विशेषता है। चित्रोपमता के कारण ही कई आलोचको ने पतजी की भाषा को 'चित्र-भाषा' कहा है। पंतजी शब्दो के चयन मे अत्यधिक सतर्क है। उनके शब्द उनके भावों का सफल प्रतिनिधित्व करते है। सस्कृत की समस्त पदावली का

प्रयोग वह कल्पना-प्रधान रचनाओ मे ही करते हैं, लेकिन जहाँ भावो की स्वतन्त्र गति है वहाँ शब्द असमस्त है। सूक्ष्म भावो की अभिव्यक्ति मे उन्होंने साकेतिक भाषा का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार उनकी भाषा अपनी कई विशेषताओ के कारण किसी छायावादी-कवि से मेल नही खाती।

पंतजी और प्रसादजी

पंतजी और प्रसादजी दोनो छायावाद-युग के समर्थ कलाकार हैं। दोनो सहृदय और भावुक कवि है। दोनो आस्तिक है और दोनो को मानव-जीवन और उसके उच्चादर्शों के प्रति आस्था है। लेकिन फिर भी दोनो एक नही है। इसका मुख्य कारण है—दोनो की जीवन-परिस्थितियों की विभिन्नता और अध्ययन का विविधता। पंतजी प्रकृति की गोद मे पले है और स्वभावत कोमल है। संघर्ष मे पड़कर उन्होने जीवन की कठोर भूमि पर पैर रखने का कभी साहस नही किया है। इसलिए प्रकृति के जैसे सुन्दर चित्रकार वह हैं वैसे जीवन के नही। उनका जीवन-दर्शन एक ऐसे आदर्श से समन्वित है जो दार्शनिक क्षेत्र मे स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के अद्वैतवाद से और मानववादी क्षेत्र मे गांधीवाद तथा मार्क्सवाद से प्रभावित है। इसलिए उनकी रचनाओ मे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का अन्तर्द्वन्द्व नही है। जीवन के विविध पहलुओ को चित्रित करने का भी उनमें प्रयास नही है। इसके विरुद्ध प्रसादजी का जीवन संघर्षमय है। उनकी जीवन-परिस्थितियो ने ही उन्हे काव्य-प्रेरणा दी है और उनकी कविता जीवन के संघर्ष मे पनपी और फूली-फली है। उन पर शैव-दर्शन के आनन्दवाद का प्रभाव है। उन्होने भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। अपने देश के अतीत से भी उन्हे प्रेम है। उनमे दार्शनिकता भी है, लेकिन उनकी रचनाएँ दर्शन के भार से दबी हुई नही है। अपनी रहस्य-भावना मे वह साम्प्रदायिक हैं। पंतजी अपनी रहस्य-भावना मे स्वाभाविक हैं। उन्हे प्रकृति से ही रहस्य-भावना की प्रेरणा मिली है। पाश्चात्य-साहित्य और दर्शन मे उनकी अच्छी गति है। अपने देश के अतीत के प्रति उनका मोह नही है। पहले वह भावुक रहे है, लेकिन इधर उनकी रचनाएँ दार्शनिकता के भार से दब गई हैं।

कला के क्षेत्र मे पंतजी मुक्तक और प्रसादजी प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं।

प्रसादजी की भाषा में ओज और पौरुष है, पवजी की भाषा मे सहज कोमलता और माधुर्य। पतजी की भाषा प्रसादजी की भाषा की अपेक्षा अधिक अलकृत है। कल्पना-शक्ति भी पंतजी मे प्रसादजी की अपेक्षा अधिक है। पतजी प्रकृति के माध्यम से काव्य-क्षेत्र मे आये है, इसलिए उनके काव्य मे कल्पना और कला का सौंदर्य अधिक है, प्रसादजी जीवन के माध्यम से काव्य क्षेत्र मे आये है, इसलिए उनकी रचनाओ मे जीवन की कला का सौंदर्य अधिक है।

पंतजी और निरालाजी

पतजी और निरालाजी मे भी पर्याप्त अन्तर है। पंतजी 'मधुकर का-सा मेरा जीवन, कठिन कर्म है, कोमल है मन' वाले कवि है और निरालाजी जीवन के सघर्ष के। निरालाजी ने अपने जीवन मे कई चढाव-उतार देखे है। उनका बचपन जिस शान से बीता, जवानी मे उन्हे उतना ही सघर्ष करना पडा और अब वह एक पराजित योद्धा की तरह अपने दिन काट रहे है। लेकिन अपनी इस पराजय मे भी वह विजय का अनुभव करते है। उनमे स्वाभिमान है, अक्खड़पन है। उन्होंने जीवन और समाज के प्रति विद्रोह किया है और उसी विद्रोह-भावना से उन्होंने काव्य की परपरागत रूढियाँ तोडी है। पंतजी का जीवन उस सरिता के समान है जिसमे न तो कभी बाढ आई है और न जिसने कभी सूखने का नाम लिया है। उसके प्रेरणा-स्रोत बराबर खुले रहे है। इससे उनकी कविता जीवन के प्रहर्ष मे ग्राह्य हुई है। वह क्रमश. प्रकृति से जीवन, जीवन से प्रगति और दर्शन की ओर बढ़े है। उनके दर्शन पर पूर्व और पश्चिम—दोनो का प्रभाव है। अतीत की स्मृतियो ने उन्हे कम प्रेरणा दी है। वह मुख्यत: भाव और विचार के कवि है। निरालाजी को अपने अतीत से पर्याप्त बल मिला है और उनके दर्शन पर राम-कृष्ण परमहस का पूरा प्रभाव है। बगला की काव्य-प्रवृत्तियाँ को उन्होंने अच्छी तरह पचाया है और उनसे अपने काव्य का शृङ्गार किया है।

करुणा और सवेदना पंतजी मे भी है और निरालाजी मे भी। लेकिन पंतजी की करुणा और सम्वेदना केवल बौद्धिक है। निरालाजी ने विपत्तियाँ झेली हैं, दुखियो का दुख समझा-बूझा है। इसलिए उनकी करुणा और सवेदना मे गहराई और वास्तविकता है। इसी प्रकार विश्व-बन्धुत्व मे भी दोनो एक नहीं

है। पंतजी की विश्व-बधुत्व-भावना कुछ निश्चित सिद्धान्तो पर आधारित हैं जिन पर गाधीवाद और मार्क्सवाद का पूरा प्रभाव है। इन्ही सिद्धांतो के अन्तर्गत उनकी राष्ट्र-भावना का विकास हुआ है। लेकिन निरालाजी पहले राष्ट्र-प्रेमी है फिर मानव-प्रेमी। उनका मानव-प्रेम उनकी राष्ट्र-भावना पर आधारित है। इसलिए वह सजग और वास्तविक है। छायावाद और रहस्यवाद के क्षेत्र मे पतजी निरालाजी की अपेक्षा अधिक सफल है। प्रकृति के जैसे सरस रहस्यपूर्ण चित्र पतजी ने उतारे है वैसे निरालाजी नही उतार सके है। अद्वैतवादी होने के कारण निरालाजी की रहस्य-भावना जटिल है प्रकृति-प्रेमी होन के कारण पंतजी की स्वाभाविक। प्रकृति के प्रति निरालाजी का आकर्षण केवल बौद्धिक है जो उनके हृदय का सस्पर्श पाकर सरस हो गया है।

कला के क्षेत्र मे पतजी और निरालाजी दोनो सफल है। लेकिन निरालाजी मे पतजी की अपेक्षा कलाकारिता अधिक है। पतजी भाव और विचार-प्रिय कवि है। कला के भार से उन्होने अपनी कविता को बोझिल नही बनाया है। सुकुमार भावना के कवि होने से उनकी भाषा भी सुकुमार और कोमल है। निरालाजी की भाषा मे उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ओज और पौरुष अधिक है। छन्दो के प्रयोग और काव्य को सगीत और सगीत को काव्य के अधिक निकट लाने मे निरालाजी की कला पतजी की कला की अपेक्षा अधिक सफल है। इसके अतिरिक्त शैली मे नाटकीयता का समावेश होने से निरालाजी की कविता जितनी सुपाठ्य है उतनी पतजी की कविता नही है।

---

२६ : सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म-सं० १९६१ : मृत्यु-सं० २००४

जीवन-परिचय

सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म सं० १९६१ मे नागपंचमी के दिन प्रयाग के निहालपुर मुहल्ले मे हुआ था। उनके पिता ठाकुर रामनाथसिंह शिक्षा-प्रेमी थे।

उनकी देख-रेख मे सुभद्राकुमारी की प्रारभिक शिक्षा प्रयाग मे ही हुई। स० १९७६ मे उनका विवाह खडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिह चौहान के साथ हुआ। उस समय वह प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल की छात्रा थी। विवाह के पश्चात् वह अपने पति के आदेशानुसार बनारस के थियोसोफिकल स्कूल मे अध्ययन करने गई, परन्तु जब कलकत्ते की काग्रेस मे असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ तब उन्होने स्कूल छोड़ दिया और उनके पति ने भी जो, उसी वर्ष वकालत की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए थे, वकालत न करने का निश्चय किया। वकालत पास करके ठाकुर लक्ष्मणसिह जबलपुर चले गये और प० माखनलाल चतुर्वेदी के साथ 'कर्मवीर' के सम्पादन और असहयोग-आन्दोलन मे योग देने लगे। सुभद्राकुमारी भी अपने पति के साथ जबलपुर चली गई और राजनीतिक आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेकर अपने अदम्य राष्ट्रीय उत्साह का परिचय देने लगी। उन्हे कई बार जेल की यातनाएँ भी सहन करनी पडी।

सुभद्राकुमारी चौहान को कविता की धुन बचपन से ही थी। उनके पिता भजन गाने के अत्यन्त प्रेमी थे। बचपन मे सुभद्राकुमारी उनके भजनो को बड़े चाव से सुना करती थी और उनके साथ गुनगुनाने लगती थी। वह बहुत चपल और नटखट थी। इसीलिए लोग उन्हें 'गोगा आया', 'गोगा आया' कहकर डरवाया करते थे। पर उन्हे कभी 'गोगा' दिखाई नही दिया। ठीक इसी प्रकार उनके पिता के भजनो मे जिस ईश्वर की चर्चा रहती थी, उसे भी उन्होने अपनी आँखो से कभी नही देखा। 'गोगा' और 'ईश्वर' मे भावुक बालिका सुभद्रा को यह समता दिखाई पड़ी की लोग उनकी सत्ता तो निश्चित करते है, पर वे दिखाई नही पड़ते। अतः उन्होने झट यह तुकबन्दी तैयार कर दी.—

'तुम बिन व्याकुल हैं सब लोगा, तुम तो हो इस देश के गोगा।'

छ-सात वर्ष की बालिका के मुख से यह तुकबन्दी सुनकर लोग उनकी बाल-प्रतिभा पर आश्चर्य-चकित हो गये। आगे चलकर शिक्षा के प्रभाव से यह बाल-प्रतिभा और भी विकसित हुई। क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज मे पढते समय वह वार्षिकोत्सव आदि के अवसरो पर स्वरचित कविताएँ पढ़ा करती थी। उन्ही दिनो सामयिक पत्रो में भी उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगी थी। पं० माखनलाल

चतुर्वेदी के सपर्क मे आने पर उनकी काव्य-साधना को अधिक प्रोत्साहन मिला और फिर वह अच्छी रचनाएँ करने लगी। वसन्त पंचमी स०२००४, १२ फरवरी सन् १९४८ ई० को मोटर-दुर्घटना से उनका शरीरात हुआ।

सुभद्राजी की रचनाएँ

सुभद्राजी ने थोडा लिखा है, लेकिन उन्होने जितना लिखा है वह प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। उनकी रचनाएँ है—मुकुल (स०१९८७), बिखरे मोती, उन्मादिनी, त्रिधारा सभा के खेल और सीधे-सादे चित्र। इनमे से 'मुकुल' उनकी ३९ कविताओ का सग्रह है। इसी कविता-पुस्तक पर उन्हे 'सेक्स-रिया' पुरस्कार मिला है। 'त्रिधारा' प० माखनलाल चतुर्वेदी और प० केशवप्रसाद पाठक की कविताओ के साथ उनकी रचनाओ का सकलन है। 'सभा का खेल' उनको बालोपयोगी कविताओ का सग्रह है। 'सीधे सादे चित्र' मे उनकी नवीनतम कहानियाँ सगृहीत है। 'विवेचनात्मक गल्प विहार' उनका संपादित ग्रन्थ है।

सुभद्राजी की काव्य-साधना

छायावाद-युग मे जिन कवयित्रियो ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है उनमे सुभद्राजी का प्रमुख स्थान है। सुभद्राजी के व्यक्तित्त्व की दो विशेषताएँ है। एक ओर उनमे सामत-युग की क्षत्राणियो का रक्त और ओज है तो दूसरी ओर उनमे भारतीय नारी की सहज कोमलता और भावुकता। इन दोनो की स्पष्ट छाप उनकी रचनाओ पर देखने को मिलती है। वह स्वभावत कवयित्री हैं। उनमे न तो दूर की सूझ है, न कल्पना की ऊँची उडान है और न कला के प्रति विशेष आग्रह। अन्तस्तल मे व्याप्त रहनेवाली सच्ची अनुभूति ही उनके काव्य का शृङ्गार है। उनके काव्य-विषय साधारण और सामयिक है। 'मुकुल' मे उनकी जो रचनाएँ सकलित है उनके दो ही मुख्य विषय है: (१) देश-प्रेम और (२) पारिवारिक प्रेम। इन दोनो क्षेत्रो की वह प्रतिनिधि कवयित्री है —

(१) देश-प्रेम—सुभद्राजी का देश-प्रेम उत्सर्ग की भावना से परिपूर्ण है। उनका यह स्वर है :—

'क्षत्राणी हूँ सुख पाने दे अरुणामृत की धारो से।
बनने दे इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारो से॥'

'सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो इसको दे वरदान सखी !
अबलाएँ उठ पड़ें देश में करें युद्ध घमसान सखी !
पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ दहला दें ब्रह्माण्ड सखी !
भारत-लक्ष्मी लौटाने को कर दें लंका-काण्ड सखी !'

सुभद्राजी को इस गर्वोक्ति मे पुरुष और नारी दोनो के लिए एक साथ ललकार है। लेकिन उन्होने अपनी रचनाओ मे मुख्यत नारी-भावना का ही प्रतिनिबित्र किया है। पुरुषों की भीरुता पर उनका क्षोभ इन पंक्तियो मे देखिए –

'मै हूँ बहन किन्तु भाई नहीं है। है राखी सजी, पर कलाई नहीं है ॥'

अपने बधु को 'बिदाई' देते समय भी वह यह कामना करती है '—

'तुम्हारे देश-बधु यदि कभी डरें, कायर हो पीछे हटें।
बन्धु ! दो बहनो को बरदान, युद्ध में वे निर्भय मर मिटें ॥'

सुभद्राजी मे क्षत्राणियो का रक्त, ओज और पौरुष है और इसके बल पर वह पुरुषा को चुनौती देती है। राष्ट्रीयता के क्षेत्र मे उन्हे वीरागना लक्ष्मीबाई से प्रेरणा मिली है। इसलिए उन्होने मुक्त हृदय से उनकी वीरता का गुण-गान किया है :—

'चमक उठी सन् सत्तावन मे वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी;
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।'

देश की पराधीनता के दिनो मे सुभद्राजी की एक मात्र इस रचना ने नारी-जाति को जितना बल और पौरुष प्रदान किया उसका महत्त्व शब्दो मे नही आँका जा सकता। आज भी यह हमारा राष्ट्रीय जन गीत है। इसी प्रकार 'जलियाँ वाला बाग मे वसत', 'राखी', 'विजया दशमी', 'लक्ष्मीबाई की समाधि पर' आदि कविताएँ राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। इनमे वीर-भाव के साथ भावुकता इस प्रकार भर दी गई है कि इनका मूल्य वस्तुत देश के मूल्य के बराबर हो गया है। 'वीरो का कैसा हो वसत' की ये पक्तियाँ लीजिए —

'कहदे अतीत अब मौन त्याग,
लंके तुझमें क्यों लगी आग,

ऐ कुरुक्षेत्र अब जाग! जाग!
बतला अपने अनुभव अनंत
वीरों का कैसा हो वसंत?

सुभद्राजी की रचनाओ में हमारे देश का जागृत नारीत्व राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध हाहाकार कर उठा है। मध्यकालीन राजपूती आन-बान लिए हुये उन्होंने सोते हुए देश को जगाने के लिए जो प्रयास किया है वह कभी विस्मृत नही किया जा सकता।

(२) पारिवारिक प्रेम—सुभद्राजी की पारिवारिक प्रेम-सबधी रचनाएँ भी उनकी देश-प्रेम-प्रधान रचनाओ को भाँति नारी-भावना का प्रतिनिधित्व करती है। इस क्षेत्र मे उनकी रचनाएँ दो प्रकार की है· (१) प्रणय-प्रधान और (२) वात्सल्य-प्रधान। उनकी प्रणय-प्रधान रचनाओ मे आत्मसमर्पण का उन्माद है :-

'पूजा और पुजापा प्रभुवर! इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन का समझो॥
मै उन्मत्त प्रेम की प्यासी हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
चरणों पर अर्पित है इसका चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥'

सुभद्राजी साधारण घटनाओ मे भी जीवन का सौंदर्य देखती हैं और उनकी प्रेम की चुटकियाँ सरस, मधुर और मार्मिक होती है :—

'बहुत दिनों तक हुई परीक्षा, अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी बोल तो लिया करो तुम चाहे मुझ पर प्यार न हो॥'

पति के जेल जाते समय उनके हृदय का द्वन्द्व इन पक्तियो मे देखिए :—

'मै सदा रूठती आयी, प्रिय! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान-बाण-सा चुभता है अब देख तुम्हारा यह जाना॥'

सुभद्राजी की कुछ वात्सल्य-प्रधान कविताएं भी अपनी स्वाभाविकता मे अप्रतिम है। इनमे उनका मातृ-हृदय बोल उठा है :—

'मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन-सी फूल उठी यह छोटी सी कुटिया मेरी॥'

*   *   *

'मेरा मंदिर, मेरी मसजिद, काबा-काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ, ध्यान जप-तप है, घट-घट वासी यह मेरी॥'

*   *   *

'परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका।
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका॥'

'इसका रोना' भी मातृ-हृदय की भावुकता से भरी हुई एक सुन्दर रचना है। बच्चो का रोना सुनकर पिता का हृदय खीज उठता है, परन्तु माता का हृदय अभिमान से भर जाता है। इस भाव का निर्वाह इन पक्तियो मे देखिए —

'तुमको सुनकर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तो की पुकार सुन, गर्वित होते है भगवान॥'

निम्न पक्तियो मे शैशव और यौवन का सुन्दर, सजीव और स्वाभाविक चित्र देखिए :—

'मैं भी उसके साथ खेलती, खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वय मै भी बच्ची बन जाती हूँ॥'

सुभद्राजी मे एक ओर जहाँ प्रणय का मधु और वात्सल्य का अमृत है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्र के लिए प्राणोत्सर्ग करने की प्रबल कामना और दीन-दुखियो के प्रति करुणा का भाव भी है। निम्न पक्तियो मे 'मुरझाया फूल' की अन्योक्ति द्वारा उन्होने अपनी सवेदना अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त की है .—

'यह मुरझाया हुआ फूल है, इसका हृदय दुखाना मत।
स्वयं बिखरने वाली इसकी पंखड़ियाँ बिखराना मत॥'

सुभद्राजी की कविता मे अद्भुत मादकता, सौंदर्य, आकर्षण और हृदय की विविध परिस्थितयो की सुन्दर झाँकी है। 'अर्थ दुरुहता, शुष्क कल्पनाएँ और भावो की जटिलता से मुक्त जीवन की उच्चतम अनुभूति के आधार पर उनकी

लेखनी से निकले सभी शब्द भावो के सच्चे प्रतिनिधि और हृदय पर चोट करने वाले हैं। यही उनके काव्य की विशेषता है।

सुभद्राजी की शैली

सुभद्राजी की शैली मे काई उल्लेखनीय विशेषता नही है। उनकी अपनी कोई विशेष शैली भी नही है। नारी-जागरण के इस युग मे जिस प्रकार देवियो ने आभूषणो को ठुकरा दिया है उसी प्रकार उनकी शैली निरलंकृत है। उसकी शोभा उसकी सादगी मे है। अपने सहज सौंदर्य मे ही वह पूर्णता को पहुँची है।

सुभद्राजी भावप्रवण कवयित्री है। अपने स्वाभाव के अनुकूल उन्होने संयोग शृङ्गार, वीर और वात्सल्य का सुन्दर वर्णन किया है। इन रसो मे उनका वर्णनात्मक काव्य अत्यन्त सफल है। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति मे वीर, दाम्पत्य-प्रेम की अभिव्यक्ति मे सयोग शृङ्गार, मातृत्व को अभिव्यक्ति मे वात्सल्य और दीन-दुखियो के प्रति सवेदना की अभिव्यक्ति मे करुण रस के जैसे स्फीत और स्पष्ट वर्णन उनकी रचनाओ मे मिलते है वैसे अन्यत्र दुर्लभ है। 'विजयी मयूर' और 'मुरझाया फूल' आदि मे उनकी अन्योक्तियाँ भी अत्यन्त सरस और चुटोली है।

सुभद्राजी की रचनाएँ भावोन्माद की उपज है। इसलिए उनके भाव स्वय अपने लिए छन्द का चुनाव कर लेते है। छन्दो मे मात्रिक छन्द उन्हे अधिक प्रिय है। साथ ही उर्दू-छन्दो का भी सफल प्रयोग उनकी रचनाओ मे पाया जाता है। उनकी रचनाएँ सुपाठ्यय और सगीतमय है।

सुभद्राजी की भाषा

सुभद्राजी की भाषा साहित्यिक खडीबोली हैं। उसमे उन्होने सस्कृत के सरलतम तत्सम शब्दो के साथ फारसी के शब्द—खुशी, मर्दानी, खूब, कुरबानी, आजाद, आबाद, मुराद, फरयाद, कौमी, फकीरी आदि भी आये है, लेकिन इनके प्रयोग से न तो भाषा की गति मे बाधा उपस्थित हुई है और भावो के तारतम्य मे। जैसे निष्कपट उनके भाव है वैसी ही निष्कपट उनकी भाषा है। प्रसाद उनकी भाषा का गुण है। साथ ही वीर रस की भाषा मे ओज और शृङ्गार को भाषा मे माधुर्य पाया जाता है।

सुभद्राजी की भाषा सरल, सुबोध और व्यवहारिक है। थोड़ी हिन्दी पढ़े-लिखे

लोग भी आसानी से उनका रचनाओ का आनद उठा सकते है। भावो को उत्कर्षता प्रदान करने के लिए सुभद्राजी ने उसमे यथा स्थान मुहावरो का भी प्रयोग किया है। 'बलि-बलि जाना', 'आँखा मे बिठाना', 'पानी-पानी होना', 'शीश चढ़ाना' आदि सुन्दर मुहावरो के प्रयाग से उनकी भाषा सरस और अर्थ-गौरव से सपन्न है।

---

३० : रामकुमार वर्मा

जन्म-सं० १९६२

जीवन-परिचय

डाक्टर रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य-प्रदेश के सागर जिले मे १५ नवंबर, १९०५ को हुआ था। उनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसादजी सहायक कमिश्नर थे। इसलिए सरकारी नौकरी करते समय उन्हे कई स्थानो मे रहना पडा। ऐसी दशा मे वर्माजी की प्रारम्भिक शिक्षा भिन्न-भिन्न स्थानो मे हुई। रायटेक तथा नागपुर के मराठी स्कूल मे उन्होने मराठी भाषा की शिक्षा मे अपने चार वर्ष व्यतीत किये। हिन्दी की शिक्षा उनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने उन्हे घर पर ही दी। वह तुलसी और मीराँ के पद बड़े प्रेम से गाया करती थी और प्रभात बेला मे उन्हे जगाने के लिए 'भोर भयो जागहु रघुनन्दन' का स्वर छेड़ती थी। कविता के प्रति उनका जन्मजात प्रेम था और वह अपने अवकाश के क्षणो मे कभी-कभी कविता भी किया करती थी। उन्ही की स्वर-लहरी मे वर्माजी की कविता का स्पन्दन और उन्ही के स्नेहाचल मे उन्हे कविता का वरदान मिला।

वर्माजी अध्ययनशील विद्यार्थी थे। हिन्दी-कविता के अध्ययन की ओर उनकी विशेष रुचि थी। यह देखकर उनकी माता उन्हे निश्चित काल के भीतर कोई साहित्यिक ग्रंथ समाप्त कर लेने पर पुरस्कार दिया करती थी। इससे प्रोत्साहित होकर वर्माजी ने सं० १९७७ मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की। तब से हिन्दी-साहित्य उनके अध्ययन का मुख्य विषय बन गया। स० १९७६ के राष्ट्रीय आन्दोलन मे वर्माजी ने स्कूल छोड़ दिया। उस

समय वह इन्ट्रेस मे पढते थे। उनके पिताजी ने उन्हे बहुत समझाया, पर वह अपने निश्चय पर अटल रहे। उस समय उन्होने कई कविताएँ लिखी। उन्हे 'देश-सेवा' शीर्षक कविता पर कानपुर के देवीप्रसाद खन्ना का ४१) का 'खन्ना-पुरस्कार' मिला। इस सफलता पर उनकी माता ने भी उन्हे ५१) देकर उनका उत्साह बढाया। स० १९८० से उन्होने पुन स्कूल मे पढना आरभ किया और उसी वर्ष इन्ट्रेस की परोक्षा पास की। इसके बाद वह जबलपुर के राबर्ट्सन कालेज मे प्रविष्ट हुए। इस कालेज से स० १९८२ मे उन्होने एफ० ए० की परीक्षा पास की और फिर वह प्रयाग-विश्वविद्यालय मे पढने लगे। इस विश्वविद्यालय से स० १९८६ मे उन्होने हिन्दी लेकर प्रथम श्रेणी मे एम० ए० पास किया। इसी समय प्रयाग-विश्वविद्यालय मे एक हिन्दी-लेक्चरर की आवश्यकता हुई। अत वह उसी पद पर नियुक्त हो गये। 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर नागपुर-विश्वविद्यालय ने उन्हे पी० एच० डी० की उपाधि दी। इस प्रकार अधिक काल तक सफलतापूर्वक शिक्षण-कार्य करने के पश्चात् वह फिर जबलपुर चले गये। वह वहाँ कुछ समय तक मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर रहे, परन्तु इस पद पर उनका जी नही लगा। राजकीय कार्यो मे अधिक समय देने के कारण साहित्य-सेवा से उनका सबध छूटने लगा। इसलिए उन्हे पुन शिक्षण-कार्य मे लग जाना पड़ा। इस समय वर्माजी प्रयाग विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष है।

वर्माजी की रचनाएँ

वर्माजी हिन्दी के समर्थ साहित्यकार है। अपनी माता से प्रेरणा पाकर सर्वप्रथम उन्होने काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया है। इसीलिए वह पहले कवि, इसके बाद एकाकीकार, नाटककार, निबधकार और आलोचक है। उन्होने दर्जनो एकाकी लिखे है और वह हिन्दी मे एकाकी-कला के जन्मदाता माने जाते है। कबीर-साहित्य का उन्होने गभीर अध्ययन किया है। आलोचना के क्षेत्र मे 'कबीर का रहस्यवाद' और 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। उनके काव्य-ग्रंथ इस प्रकार हैं :—

(१) **प्रबन्ध-काव्य**—वीर हम्मीर (सं० १९८१), कुल-ललना (सं०१९८३),

चित्तौड़ की चिता (स० १६८६), रूपराशि (सं० १६६०), निशीथ (स० १६९०) और एकलव्य (सं० २०१६)

(२) काव्य-संग्रह—चितवन (सं०१६८४), अभिशाप (स० १६८७), अजलि (सं० १६८८), चित्र-रेखा (स० १६९२), और चद्र-किरण (स० १६६४)

इनके अतिरिक्त 'आधुनिक कवि' (सं० १६६८) मे वर्माजी की चुनी हुई रचनाएँ सगृहीत है। इन रचानाओ मे से 'चित्र-रेखा' पर उन्हे दो हजार रुपये का देव-पुरस्कार और 'चन्द्र-किरण' पर पॉचसौ रुपये का चक्रधर-पुरस्कार मिला है।

वर्माजी की काव्य-साधना

छायावाद-युग के अंतिम चरण के कवियो मे वर्माजी का प्रमुख स्थान है। उनका रचना-काल स० १६७६ से आरभ होता है। उस समय वह विद्यार्थी थे और अपने पारिवारिक वातावरण से प्रेरणा पाकर कविता करते थे। 'वीर हम्मीर', 'चित्तौड़ की चिता' और 'अभिशाप' उनकी उसी समय की रचनाएँ हैं। इनमे काव्य-कला का विशेष उन्मेष नही है। लगता है, इनमे वर्माजी अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रहे है। इनके बाद की रचनाएँ 'अजलि', 'रूप राशि' और 'निशीथ' हैं। इनमे वर्माजी के काव्य को दृढ आधार-भूमि मिली है। इसलिए इनमे भाव और कल्पना का वैभव एक साथ देखने को मिलता है। साथ ही इनमे वर्माजी सौदर्य, प्रेम, यौवन और जीवन के कवि है। उनके लिए सौदर्यामृत का पान ही दिव्य जीवन है —

'दिव्य जीवन है छवि का पान, यही आत्मा की तृषित पुकार।'

'नूरजहाँ के रूप-लावण्य और उसके शरीर की कोमलता का वर्णन करने मे वर्माजी की कल्पना-शक्ति का चमत्कार इन पक्तियो मे देखिए :—

'कांतिमयी थी मानो शशि-किरणो पर तू सोती थी।
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी॥'

इसके साथ ही एक तरुणी का कुछ वेदना-मिश्रित यह शब्द-चित्र भी लीजिए :—

'बैठ गई वह भू पर कुछ तिरछी-सी धनुषाकार।
केश उलट कर गिरे कपोलों पर झोके में मुक्त;

आखे भी हो गई शीघ्र दो-चार अश्रु से युक्त।'

औरंगजेब के भय से भागे हुए उसके भाई शुजा के व्यथित मन की झलक अरावली पर्वत के इस सवेदनात्मक चित्र मे देखिए —

'ये शिला खंड काले कठोर वर्षा के मेघो-से कुरूप;
दानव-से बैठे, खड़े या कि अपनी भीषणता में अनूप।
ये शिला खंड मानो अनेक पापों के फैले हैं समूह,
या नीरसता ने चिर निवास के लिए रचा है एक व्यूह।'

यहाँ तक वर्माजी एक सफल समाज-निष्ठ कवि के रूप मे हमारे सामने आते है। लेकिन स० १९९० के बाद उनके मन पर सभवत कबीर के अध्यात्म-दर्शन का ऐसा गहरा प्रभाव पडा है कि जीवन के प्रति उनका अनुराग विराग में परिणत हो गया है और वह समाज-निष्ठ से आत्म-निष्ठ हो गये हैं। आत्म-निष्ठ कवि की इतिवृत्ति मे आस्था नही होती, वह अपनी निराशा और दुःख का गीत गाता है। इस दृष्टि से 'चन्द्र-किरण' और 'चित्ररेखा' वर्माजी के दो प्रतिनिधि-काव्य सग्रह है। इनमे कल्पना और भाव से युक्त अनुभूतिपूर्ण रचनाओ का संकलन है। ऐसी रचनाएँ दो प्रकार की है एक तो वे है जिनमे ससार की क्षणभगुरता की भाव-भूमि पर करुणा और निराशा का चित्रण हुआ है और दूसरी वे है जिनमें प्रकृति के रूप-सौदर्य से उद्दीप्त रहस्यानुभूति को अनुगूज सुनाई देती है। वर्माजी की ऐसी दोनो प्रकार की रचनाएँ सफल है।

वर्माजी पर जीवन और जगत की क्षणभगुरता का विशेष प्रभाव है। इसी प्रभाव के कारण उनमे निराशा और करुणा की भावनाएँ उद्दीप्त हो उठी हैं। आत्म-निष्ठ होने से पूर्व वह प्रकृति और जीवन मे सौन्दर्य को खोज किया करते थे, लेकिन अब उनमे जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई है :—

'क्या शरीर है? शुष्क धूल का थोड़ा-सा छविजाल।
उस छवि में ही छिपा हुआ है वह भीषण ककाल॥'

* * *

'तज नक्षत्रों-से पूर्णलोक, आलोक छोड निज ज्योति रोक,
मेरी पृथ्वी जो है मलीन, जिसमे है, पीड़ा, रुदन, शोक;

उसमें आने के हेतु न जाने क्यो इतनी यह ललचाई ?
यह चन्द्र-किरण भू पर आई ।'

*   *   *

'यह निर्झर मेरे ही समान किस व्याकुल की है अश्रु-धार ?
देखा, यह मुरझा गया फूल जिसको मैने कल किया प्यार ।'

*   *   *

'मेरे दुख मे प्रकृति न देती क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य मे रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ ।'

वर्माजी की इन पंक्तियो मे उनके हृदय की निराशा, वेदना और करुणा का स्फीत चित्रण हुआ है । उनमे जीवन की करुण अभिव्यक्ति की ओर विशेष झुकाव है । सच पूछिए तो करुण रस की अभिव्यक्ति मे ही उनके व्यथित हृदय ने विश्राम पाया है । यही उनके रहस्यवाद की मूल प्रेरणा है जिसकी अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है । उनके जीवन का प्रभात-काल बुन्देलखड के पर्वतीय प्रान्तो मे बीता है । इसलिए प्रकृति के प्रति उनके हृदय मे स्वाभाविक अनुराग है । इसी अनुराग मे वह आत्म-शांति प्राप्त करते है :—

'मेरे सुख की किरण अमर !
जीवन-बूंदों मे से चलकर, बिखरो इन्द्र धनुष बनकर,
मेरे नव जीवन-बादल मे, रंग सुनहला दोगी भर ?
बाला बनकर छूलोगी क्या मेरा यह पीड़ित अन्तर ?
जब मेरे तृण सोते होगे अन्धकार के अम्बर पर,
तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन, उन्हें जगाना चूम अधर ।'

*   *   *

'यदि तेरा जीवन जीवन है तो फिर है उच्छ्वास कहां ?
अपने ही हंसने पर तुझको क्षण भर है विश्वास कहाँ ।'

वर्माजी की इस रहस्य चेतना मे निराशा और वेदना की तीव्र कसक के साथ आत्म-शांति प्राप्त करने की ललक और लालसा भी है । इस ललक और लालसा ने ही उनको प्रकृति मे विराट अज्ञात-शक्ति की कल्पना करने की ओर

उन्मुख किया है। अज्ञात के प्रति उनकी कौतूहल और जिज्ञासा की भावना इन प.क्तयो मे देखिए :—

'ओसों का हँसना बाल रूप, यह किसका है छविमय-विलास?
विहगों के कठों में समोद, यह कौन भर रहा है मिठास।'

भक्ति के आधार पर मानवीय भावनाओ की व्यजना-प्रधान रहस्यवादी झलक इन पक्तियो मे देखिए :—

'धूम्र जिसके कोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव-प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मै।
सिद्ध पाकर भी तुम्हारी भावना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।'

वर्माजी ने अपनी रहस्य-चेतना मे विश्व-बन्धुत्व की भी सुन्दर कल्पना की है। अपने सुख-दु ख से ऊपर उठकर उन्होंने सहानुभूति की विस्तृत भाव-भूमि पर लोक-मगल का विचार किया है। विश्व की ज्वाला शात करने के लिए वह कहते हैं :—

'मै आज बनूँगा जलदजाल,
मेरी करुणा का वारि सींचता रहे अवनि का अन्तराल।'

ऐसे ही अनेक सुन्दर गीतो मे वर्माजी ने अपनी रहस्य-चेतना को अपनी भावनाओ मे रंगकर प्रकृति और जीवन के शब्द-चित्र उतारे हैं। उनके गीत भावपूर्ण, सक्षिप्त और सगीतमय होने के साथ साथ भावो की अभिनयात्मक व्यजना से सरस हैं।

वर्माजी की शैली

वर्माजी की काव्य-शैली के दो रूप है : (१) वर्णनात्मक काव्य और (२) गीति-काव्य। उनकी वर्णनात्मक रचनाएँ इतिहास के इतिवृत्त पर आधारित हैं। इनकी भी दो शैलियाँ है : (१) कल्पना-प्रधान और (२) अनुभूति-प्रधान। 'रूप-राशि' की 'शुजा' और 'नूरजहाँ' शीर्षक कविताएँ पहले प्रकारकी है और 'निशीथ' दूसरे प्रकार की रचना है। वर्माजी के काव्य का दूसरा पहलू गीतात्मक है। गीतात्मक काव्य के भी दो विषय हैं एक मे जीवन की क्षणभगुरता की निराशा-

जनक अनुभूति है और दूसरी मे रहस्यवाद-चेतना जो प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हुई है।

वर्णनात्मक काव्य मे वर्माजी ने मात्रिक छन्दो का प्रयाग किया है और गीति-काव्य मे उन्होने गीत की शैलो अपनाई है। उनके गोत भावपूर्ण और सगीत-मय होने के साथ-साथ सक्षिप्त भी है। अभिनयात्मक व्यजना उनके गीतो की विशेषता है। रसो मे करुण, शान्त ओर शृङ्गार उन्हे अधिक पसन्द है। इनके परिपाक मे उन्हे अच्छी सफलता मिली है। भावो को उत्कर्षता प्रदान करने और भाषा का शृङ्गार करने के लिए उन्होने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की अच्छी योजना की है। उनमे प्रखर कल्पना-शक्ति है जिसके सहारे उन्होने अप्रस्तुतो का विधान कर काव्य मे अच्छा चमत्कार उत्पन्न किया है। एक उदाहरण लोजिए —

'और कांचके टुकड़े बिखराकर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख देता है नभ नीच।'

वर्माजो की भाषा

वर्माजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है। उसमें सस्कृत के सरल तत्सम शब्दो के साथ कहीं-कहीं क्लिष्ट तत्सम शब्द भी मिलते हैं। साथ ही कहीं-कहीं उनके शब्द परम्परा की पूर्ति करते हुये भी दिखाई देते है। सुसमीर, सुराग, सहास, सुप्रवाह, सुपवन ऐसे ही शब्द है। लेकिन इनके कारण न तो भाषा के प्रवाह मे कमी आने पाई है और न भावो के उत्कर्ष मे बाधा पड़ी है। वर्माजी ने विषय और भाव के अनुरूप ही अपनी भाषा का निर्माण किया है। प्रसाद-गुण उनकी भाषा मे सर्वत्र पाया जाता है। वर्णनात्मक काव्य की भाषा कुछ कर्कश है, लेकिन गीति काव्य की भाषा अत्यन्त मधुर और कोमल है। उसकी शब्दावली भावो के अनुरूप मधुर और कोमल होती है। वर्माजी कोमल भाषा के धनी है। रहस्यवादी होने पर भी उन्होने न तो क्लिष्ट अलकारो से अपनी भाषा का शृङ्गार किया है और न उसे लाक्षणिक शब्दो के प्रयोग से दुरूह बनाने की चेष्टा की है। उन्होने शब्दो की अभिधा शक्ति से ही प्रायः काम लिया है। इससे उनके पाठको को उनकी कविता पढते समय अधिक सोचने और मस्तिष्क-मथन करने की आव-

श्यकता नही पडती। भाषा के प्रयोग मे उन्होने सर्वत्र उसके व्याकरण के नियमो का पालन किया है। इसलिए वह कही भी अपनी भाषा मे अस्पष्ट नही है। उनकी भाषा मे उनके भाव बराबर प्रतिबिंबित होते रहते हैं।

---

३१ : महादेवी वर्मा

जन्म-सं० १९६४

जीवन-परिचय

महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ वि० मे फर्रुखाबाद मे हुआ था। उनके पिता श्री [illegible] प्रसाद वर्मा और उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी, दानो शिक्षा-प्रेमी थे। [illegible] हेमरानी देवी कभी-कभी कविता भी किया करती थी। महादेवीजी के नाना भी ब्रजभाषा के कवि थे। इससे बचपन मे ही महादेवीजी में कविता करने की ओर रुचि उत्पन्न हो गई थी। उनकी प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्होने छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर चित्र-कला और संगीत की शिक्षा भी उन्हे दी गई। तुलसी, सूर और मीराँ का साहित्य उन्होने अपनी माता से ही पढ़ा। स० १९७३ मे उनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वशुर लड़कियों की शिक्षा के पक्ष मे नही थे। लेकिन जब उनका देहान्त हो गया तब महादेवीजी पुन शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुई। सं० १९७७ मे उन्होने प्रयाग से प्रथम श्रेणी मे मिडिल पास किया। सयुक्त-प्रान्त के विद्यार्थियो मे उनका स्थान सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हे छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८१ मे उन्होने इट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की और पुन प्रान्त भर मे उन्हे सर्वप्रथम स्थान मिला। इस बार भी उन्हे छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८३ मे उन्होने इटर-मीडिएट और स० १९८५ मे बी० ए० की परीक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज से पास की। अन्त मे उन्होने संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा पास की। इस प्रकार उनका

विद्यार्थी-जीवन आदि से अन्त तक बहुत सफल रहा। बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलिए उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भार अध्ययन किया। इस अध्ययन की छाप उन पर अब तक बनी हुई है।

महादेवीजी मे बचपन से ही कविता करने की रुचि थी। बड़ी होने पर वह अपनी माता के पदो मे अपनी ओर से कुछ कड़ियाँ जोड़ दिया करती थी। स्वतत्र रूप से भी वह तुकबदिया करती थी। लेकिन वह अपनी तुकबदियाँ किसो को दिखाना पसन्द नही करती थी। उस समय उनमे एक झिझक थी जो धीरे-धीरे शिक्षा की उन्नति के साथ निकल गई। फिर उन्होने अपनी रचनाएँ 'चाँद' मे प्रकाशित होने के लिए भेजी। हिंदी-ससार मे उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओ का अच्छा स्वागत हुआ। इससे महादेवीजी को अधिक प्रोत्साहन मिला और फिर वह नियमित रूप से काव्य-साधना की ओर अग्रसर हो गई। आज वह हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री समझी जाती है।

महादेवीजी का अब तक का जीवन शिक्षा-विभाग मे ही बीता है। एम० ए० पास करने के पश्चात् वह प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रधानाचार्या नियुक्त हुई और अब भी वह उसी पद की शोभा बढा रही हैं। उनके सतत उद्योग से उक्त विद्यापीठ ने उत्तरोत्तर उन्नति की है। वह 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी है। 'नीरजा' पर ५००) का 'सेक्सरिया पुरस्कार' और 'यामा' पर १२००) का 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' उन्हे मिल चुका है।

महादेवीजी की रचनाएँ

महादेवीजी की रचनाओ का हिन्दी मे अधिक सम्मान है। उनकी रचनाएँ थोडी है, लेकिन वे हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। उनका रचना-काल स० १९८४ से आरम्भ होता है। उस समय से अब तक उन्होने हमे अपनी कई सुन्दर रचनाएँ दी हैं। 'अतीत के चल-चित्र', 'शृ खला की कड़ियाँ', 'स्मृति की रेखाएँ', 'क्षणदा', 'पथ के साथी' आदि उनके गद्य-ग्रथ है जिनमे उनके निबध, सस्मरण और रेखा-चित्र आदि सगृहीत है। उनकी कविता-पुस्तकें केवल पाँच हैं (१) नीहार (स० १९८७), रश्मि (सं० १९८९), नीरजा (सं० १९९२), साध्यगीत (स० १९९३) और दीपशिखा (स०१९९९)। 'यामा' नीहार, रश्मि, नीरजा और साध्यगीत की कवि-

ताओ का सयुक्त सग्रह है। इनके अतिरिक्त 'आधुनिक कवि' में उनकी ७४ कवि-ताएँ सगृहीत है। इन गीतो का संचयन उनकी विविध कृतियो से हुआ है।

महादेवीजी की काव्य-साधना

महादेवीजी छायावाद-युग की प्रसिद्ध कवयित्री हैं। पहले वह ब्रजभाषा मे कविता करती थी, लेकिन कुछ दिनो बाद वह खडीबोली मे रचनाएँ करने लगी। उनकी खडीबोली की रचनाएँ सर्वप्रथम 'चाँद' मे प्रकाशित हुई। जिस समय इस पत्र द्वारा उन्होने हिन्दी के काव्य-जगत मे प्रवेश किया उस समय छायावाद काव्य अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था और प्रसाद, पत तथा निराला की कविताएँ काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। महादेवीजी को इन रचनाओ से पर्याप्त प्रेरणा मिली। दर्शन से उन्हे प्रेम था ही, इसलिए उन्हे उस प्रेरणा को आत्मसात करने मे कुछ कठिनाई नही हुई। उन्होंने उसे पचाकर अपने ढग से उसे अपनाया और अपने युग के कवियो मे शीघ्र ही अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इस प्रकार उन्होने दो ही काव्य-वादो के प्रभाव के अन्तर्गत अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रसार किया एक तो छायावाद और दूसरा रहस्यवाद। यहाँ हम इन दोनो प्रभावो के अन्तर्गत ही उनकी काव्य-साधना पर विचार करेंगे।

(१) **छायावाद**—छायावाद आधुनिक काव्य की एक शैली है जिसके अन्तर्गत प्रकृति के विविध सौंदर्यपूर्ण अगो पर चेतन-सत्ता का आरोप कर उनका मानवीकरण किया जाता है। इस प्रकार इसमें अनुभूति और सौदर्य-चेतना की अभिव्यक्ति को प्रमुख स्थान दिया जाता है। महादेवीजी के काव्य में ये दोनो विशेषताएँ पाई जाती हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ छायावद के अन्य कवियों ने प्रकृति मे उल्लास का अनुभव किया है वहाँ महादेवीजो ने उसमे वेदना का अनुभव किया है। आलबन के रूप मे हिमालय पर्वत का चित्र लीजिए :—

'हे चिर महान्!
तव स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल, बरसा जाती रगीन हास;
सेली बनता है इन्द्रधनुष, परिमल मल-मल जाता बतास;
पर रागहीन तू हिम-निधान!'

महादेवीजी ने अपने छायावादी काव्य मे कल्पना के आधार पर प्रकृति

का मानवीकरण कर उसे एक विशेष भाव-समृद्धि और गीत-सौष्ठव से विभूषित किया है। इसलिए उसमे छायावाद की विभिन्न भावगत और कलागत विशेषताएँ मिलती है। भावगत विशेषताओ के अन्तर्गत मुख्यत तीन प्रकार के प्रकृति-चित्रण मिलते है : (१) प्रकृति मे मानवीय क्रियाओ का चित्रण, (२) प्रकृति मे विराट की छाया का चित्रण और (३) प्रकृति मे व्यक्तिगत सत्ता की छाया का चित्रण। नारी के रूप मे क्रियाएँ करते हुए रजनी का यह मनोमुग्धकारी चित्र लीजिए —

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत-रजनी।
तारकमय नव वेणी-बन्धन शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सित घन-अवगुंठन, मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी, पुलकती आ वसंत-रजनी।'

* * *

'सज केसर-पट, तारक बेंदी, दृग-अंजन, मृदु पद मे मेंहदी,
आती भर मदिरा से गगरी, संध्या अनुराग-सुहाग भरी।
मेरे विषाद मे वह अपने मधुरस की बूँदे छलकाती।'

प्रकृति मे विराट की छाया का चित्रण इन पंक्तियो मे देखिए :—

'पुष्प मे है अनन्त मुस्कान, त्याग का है मारुत में गान;
सभी में है स्वर्गीय विकास, वही कोमल कमनीय प्रकाश।'

प्रकृति मे व्यक्तिगत सत्ता की छाया देखनी हो तो निम्न सुन्दर पंक्तियाँ लीजिए जिनमे महादेवीजी ने अपने जीवन को 'साध्य-गगन' का रूप दिया है —

'प्रिय! साध्य-गगन मेरा जीवन!
यह क्षितिज बना धुँधला विराग, नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग।
छाया-सी काया वीतराग, सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन।'

महादेवीजी ने छायावाद की अभिव्यंजना-पद्धति को अपनी रहस्य-भावना के लिए भी स्वीकार किया है :—

'पथ देख बिता दी रैन, मै प्रिय-पहचानी नहीं।
तुमने धोया नभ-पंथ सुवासित हिम-जल से,

सूने आँगन मे दीप जला दिये झिल-मिल से,
आ प्रात बुझा गया कौन, अपरिचित जानी नहीं।'

इन उदाहरणो से महादेवीजी के छायावाद के स्वरूप और उसके विकास की विभिन्न दिशाओ का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। छायावाद के सबध मे महादेवीजी की मौलिक सूझ-बूझ है। उन्होने अपने-निबधो मे छायावाद के काव्य-सिद्धान्तो पर काफी विचार किया है। इसलिए वह छायावाद की कवयित्री ही नही, उसकी आचार्या भी है। उन्होने छायावादी काव्य के लिए जो सिद्धान्त स्थिर किये है उन्ही के अनुरूप उन्होने अपने छायावादी काव्य का शृङ्गार किया है। इस दृष्टि से उनके छायावादी काव्य का हिन्दी के काव्य-साहित्य मे विशेष महत्व है।

(२) **वेदना-भाव**—महादेवी के काव्य की मूल भावना है– वेदना। लौकिक जीवन मे वेदना की उपज दो कारणो से होती है : (१) जीवन मे किसी अभाव के कारण और (२) दूसरो के कष्टो से प्रभावित होने के कारण। पहले प्रकार की वेदना को हम व्यक्तिगत वेदना अथवा 'स्व' की वेदना कह सकते हैं और दूसरे प्रकार की वेदना को हम सामाजिक वेदना अथवा 'पर' की वेदना कह सकते है। काव्य मे व्यक्तिगत वेदना की अपेक्षा सामाजिक वेदना को विशेष महत्व दिया जाता है। हिन्दी के अनेक प्राचीन और आधुनिक कवियो ने सामाजिक वेदना को अपना कर शोषित-पीड़ित और दलित-उपेक्षित वर्ग के प्रति अपनी संवेदना प्रकट की है। महादेवीजी ने भी इसे अपनाया है। अपनी एक रचना मे भारत-माता से वह प्रश्न करती हैं :—

'कह दे माँ! क्या अब देखूँ ?
देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरो को ?
तेरी चिर यौवन-सुषमा या जर्जर जीवन देखूँ ?'।

लेकिन काव्य के इस क्षेत्र मे महादेवीजी की वेदना मुखर नही हो पाई है। इसे मुखर होने का अवसर मिला है उनके गद्य मे। काव्य मे उनकी वेदना का मूल कारण है, चिर वियोग जिसने लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रूप धारण कर लिया है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ लीजिए :—

'कहीं से कुछ आई हूँ भूल।

कसक-कसक उठती सुधि किसकी, रुकती-सी क्यों गति जीवन की,
क्यों अभाव छाये लेता है विस्मृत-सरिता के कूल।'

महादेवीजी ने अपनी इस अभावगत विरह वेना को जब प्रकृति के चेतन रूप के माध्यम से व्यक्त किया है तब उसने छायावाद का रूप धारण कर लिया है और जब उसे अध्यात्म के माध्यम से व्यक्त किया है तब उसने रहस्यवाद का रूप धारण कर लिया है। अध्यात्म के क्षेत्र मे उसका समावेश होने से महादेवीजी को वह अत्यन्त प्रिय है। वह उसे त्याग कर मुक्ति की भी कामना नही करती। मुक्ति की अपेक्षा उसमे घुल-घुलकर मरना उन्हे अधिक प्रिय है —

'ऐसा तेरा लोक, वेदना नहीं, नही जिसमें अवसाद।
जलना जाना नहीं, नहीं जाना जिसने मिटने का स्वाद।
क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।'

साथ ही उनकी यह भी कामना है :—

'उसी सुमन-सा पल-भर हँसकर सूने मे हो छिन्न मलीन,
झर जाने दो जीवन-माली! मुझको रह कर परिचय-हीन।

यह विरह-वेदना महादेवी जी को इतनी प्रिय है कि प्रियतम की प्राप्ति होने पर भी उसका अन्त नही होगा —

'पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा मे ढूंढ़ा, तुम में ढूंढूँगी पीड़ा।'

'चिन्ता क्या है ऐ निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अंधेरा।'

इसलिए यह पीड़ा ही उनका सर्वस्व है :—

'मेरी आहें सोती हैं, इन ओठो की ओटो में,
मेरा सर्वस्व छिपा है इन दीवानी चोटों में।'

इसलिए अपने आराध्य से उनकी यही प्रार्थना है :—

'मेरे छोटे जीवन में, देना तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर।'

* * *

'आज आये हो हे करुणेश ! इन्हे जो तुम देने वरदान,
गलाकर मेरे सारे अग, करो दो आँखो का निर्माण ।'

महादेवीजो की विरह-वेदना रहस्यमय है । उनका पता कोई नही पास सका :—

'कितनी बीती पतझारे, कितने मधु के दिन आए ।
मेरी मधुमय पीड़ा को कोई पर ढूँढ़ न पाए ।'

इस प्रकार महादेवीजी का वेदना-भाव अत्यन्त सयत और पूत है । यह भाव वियोग शृङ्गार और शात रस के माध्यम से व्यक्त हुआ है । इसलिए इसमें यदि एक ओर अलौकिक प्रेम की गरिमा है तो दूसरी ओर जीवन के प्रति गहन उदासीनता । इन दानो विशेषताओ के साथ अनुभूति का सयोग होने से महादेवीजी का वेदना-काव्य पाठक के हृदय को स्पर्श और प्रभावित करने मे सफल है ।

(३) **रहस्यवाद**—महादेवीजी मूलत रहस्यवादी कवयित्री हैं । उन्होंने रहस्यवाद की विस्तृत व्याख्या की है और छायावाद की भाँति उसके सम्बन्ध मे भी कुछ सिद्धात स्थिर किये है । उन्ही सिद्धातो के अनुरूप उन्होने अपने रहस्यवादी काव्य का शृङ्गार किया है । सामान्यतः रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा-परमात्मा के रागात्मक सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है । इसलिए उसमे तीन विषयो का समावेश रहता है . (१) आत्मा, (२) परमात्मा और (३) प्रकृति । प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में, माध्यम का काम करती है । सर्वप्रथम उसी के चेतन-रूप मे आत्मा को परमात्मा की छवि का दर्शन प्राप्त होता है । यह रहस्यवाद की पहली अवस्था है जिसमे जिज्ञासा और विस्मय का अत्यधिक समावेश रहता है । महादेवीजी ने इस अवस्था के चित्रण में प्रकृति से प्राप्त अनुभूतियो के साथ-साथ अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो को भी स्थान दिया है .—

'कनक-से दिन, मोती-सी रात, सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात ।
मिटाता-रंगता बारंबार, कौन जग का वह चित्राधार ?'

* * *

'कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक मे नित मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ फिर झरता अपरिचित ?'

रहस्यवाद की दूसरी अवस्था इसके बाद आरभ होती है। प्रकृति मे परमात्मा की छवि देखकर आत्मा उससे इतनी प्रभावित हो जाती है कि वह उसका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए आकुल हो उठती है। महादेवीजी ने इस अवस्था का चित्रण इन पंक्तियो मे किया है :—

'अलि ! कैसे उनको पाऊँ ?
मेघों में विद्युत्-सी छवि उनकी बनकर मिट जाती।
आखों की चित्रपटी मे, जिसमे मै आँक न पाऊँ॥
वे आभा बन खो जाते शशि-किरणों की उलझन में।
जिसमें उनको कण-कण मे ढूँढूँ, पहिचान न पाऊँ॥'

आत्मा की इस विवशता मे ही सच्चे रहस्यवाद का उदय होता है। महादेवीजी ने इस अवस्था का अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक अनुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। आत्मा की इस अवस्था मे जब इतनी गहनता और तीव्रता आ जाती है कि उसे बिना परमात्मा से मिले चैन नही पड़ता तब रहस्यवाद की तीसरी अवस्था का आरभ होता है। यह परमात्मा के प्रेम मे तन्मय होने की अवस्था है। महादेवीजी ने इस अवस्था के चित्रण मे अपने हृदय की सारी वेदना उँडेल दी है। निम्न पंक्तियो मे 'दीपक' को 'आत्मा' का प्रतीक बनाकर वह कहती है :—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल, प्रियतम का पथ आलोकित कर—
सौरभ फैला विपुल धूप बन, मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन।
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित, तेरे जीवन का अणु-अणु गल—
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !'

किन्तु इस अवस्था से भी महादेवीजी को सतोष नही है। इसलिए वह कहती है :—

'नहीं गाया जाता अब देव ! थकी अँगुली, ढीले हैं तार।
विश्व-वीणा मे अपनी आज मिला लो यह अस्फुट झंकार।'

इस अवस्था पर पहुँचते-पहुँचते महादेवीजी को 'प्रियतम' के आनेकी सूचना मिलने लगती है। यह मिलन की अवस्था रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था है —

'मुस्काता संकेत-भरा नभ, अलि ! क्या प्रिय आने वाले हैं ?
नयन श्रवणमय, श्रवण नयनमय, आज हो रही कैसी उलझन !
रोम-रोम में होता री सखि ! एक नया उर का-सा स्पंदन।
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं।'

महादेवीजी के 'प्रियतम' आते है। उनसे उनका मिलन होता है और फिर वह 'चिर सुहागनी' हो जाती हैं। वह इस मिलनको असत्य नही मानती :—

'कैसे कहती हो सपना है, अलि ! इस मूक मिलन की बात।
भरे हुये अब तक फूलो मे मेरे आँसू, उनके हास ॥'

इस 'महामिलन' मे महादेवीजी के मोह का निर्मम दर्पण टूट जाता है। और फिर साधक और साध्य मे कोई अन्तर नही रह जाता। इसलिए वह कहती हैं :—

'क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर-मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।'

इस प्रकार हम देखते है कि महादेवीजी ने अपने काव्य मे रहस्यवाद की चारो अवस्थाओ का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। इसमे उनके नारी-हृदय की अनुगूज पद-पद पर सुनाई देती है। इसलिए उनका रहस्यवादी काव्य अत्यन्त स्वाभाविक है। मिलन के क्षणो मे नारी-हृदय की मान-भावना का आनन्द इन पंक्तियो मे लीजिए :—

'सजनि ! मधुर निजत्व दे, कैसे मिलूँ अभिमानिनी मै।'

महादेवीजी का रहस्यवाद मीराँ, कबीर आदि की भाँति साधनात्मक न होकर भावात्मक है जिसके अन्तर्गत उन्होने मधुर-भाव को प्रमुख स्थान दिया है। मधुर-भाव से ओत-प्रोत उनकी रहस्यवादी रचनाएँ हिन्दी-काव्य मे बेजोड़ हैं।

महादेवीजी की शैली

महादेवीजी का काव्य गीति-काव्य है। गीति-काव्य से हमारा तात्पर्य उस रचना से है जिसमे कवि अपनी अनुभूतियो को संगीत के माध्यम से व्यक्त करता है। इसलिए वह स्वतन्त्र रूप से गेय होता है। साथ ही उसके भाव-पक्ष मे अनुभूति की

गहनता तथा तीव्रता, भावो की एक रूपता और आत्म-कथन को संक्षिप्तता रहती है और उसके कला-पक्ष मे स्वर-ताल के तारतम्य, नाद-सौदर्य, कोमल-कान्त-पद-विन्यास आदि के सुन्दर आयोजन पर बल दिया जाता है। महादेवीजी का गीति काव्य इन सभी विशेषताओ से मंडित है। उसमे विचार-तत्व भी अनुभूतिके संस्पर्श से सरस हो गया है।

महादेवीजी के गीति-काव्य की दो मुख्य शैलियाँ मिलती हैं. (१) चित्र-शैली और (२) प्रगीत-शैली। चित्र-शैली के अन्तर्गत उनकी वे रचनाएँ आती हैं जिनमें उन्होने या तो सन्ध्या और रात्रि के वातावरण का चित्रण किया है या फिर उपयुक्त प्रतीकों-द्वारा अपनी विरह की अभिव्यक्ति की है। उनकी यह शैली अधिक व्यापक नही है। इसकी अपेक्षा उन्होने प्रगीत-शैली का ही अत्यन्त व्यापक स्तर पर प्रयोग किया है। इसमे छन्दोबद्ध शैली की अपेक्षा भावो की अभिव्यक्ति के लिए अधिक सुविधा रहती है। महादेवीजी की प्रगति-शैली अत्यन्त सफल है। इसमे उन्होने साहित्यिक गीतो के साथ-साथ लोक-गीतो को भी स्थान दिया है भावो की संक्षिप्तता और उनकी सुसबद्धता तथा संगीतात्मकता इस शैली की विशेषताएँ है।

महादेवीजी का काव्य भाव और अनुभूति-प्रधान है। इसलिए वह सरस होता है। महादेवीजी के काव्य मे विषय के अनुरूप वियोग शृंगार, शान्त और करुण रसो के व्यापक प्रयोग मिलते हैं। इनके प्रयोग मे महादेवीजी सफल हैं। भाव-तत्व के इस वैभव के साथ उनके काव्य का कला-पक्ष भी अत्यन्त सबल हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष और शब्दो के लाक्षणिक प्रयोग से उन्होने अपनी भाषा का अलंकरण किया है और उपमा, रूपक और समासोक्ति के प्रयोग-द्वारा अपने भावो को उत्कर्षता प्रदान की है।

महादेवीजी की भाषा

महादेवीजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है। इसमें संस्कृत के सरल और क्लिष्ट तत्सम शब्दो के साथ-साथ नैन, बैन, बयार, 'रैन', 'बतास' आदि जैसे शब्द भी मिलते है। इन शब्दो का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से हुआ है। महादेवीजी के शब्द प्रसाद और माधुर्य गुणो से युक्त है। इसलिए उनकी भाषा अत्यन्त

कोमल और मधुर है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। भावों के उतार-चढाव का उनकी भाषा पर पूरा प्रभाव है। सरल भाषा भी उनके गम्भीर भावो का स्पर्श पाकर गम्भीर हो जाती है। उनकी भाषा मे सकोच भी है। थोड़े शब्दो में वह बहुत कुछ कह जाने की कला मे सपन्न है। व्यर्थ शब्दो को ठूस-ठाँस उनकी भाषा मे नही है, फिर भी अन्य छायावादी कवियो की तरह 'रे' का प्रयोग उन्होने भी किया है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर, भावानुकूल और काव्योचित है।

महादेवीजी ने अपनी कुछ रचनाओ मे साकेतिक भाषा का भी प्रयोग किया है। इन रचनाओ मे उन्होने कुछ शब्द—तारा, दीपक, सागर, तरी आदि—प्रतीक के रूप मे स्वीकार कर लिए हैं और उनके माध्यम से अपने भावो को व्यक्त किया है। 'तारे' लौकिक भावो के 'दीपक' आत्मा के, 'सागर' ससारके और 'तरी' जीवन के लिए प्रतीक-रूप मे आये हैं। इसी प्रकार इच्छाओ को अभिव्यक्ति के लिए सौरभ, मकरन्द, इन्द्र-धनुष आदि का प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रतीक दो प्रकार के हैं कुछ परिचित है और कुछ ऐसे हैं जो अभी अपरिचित-से है। इन अपरिचित प्रतीको के प्रयोग से उनकी भाषा दुरूह हो गई है और उसमे उनके भाव अस्पष्ट भी हो गये हैं।

महादेवीजी की भाषा मे कुछ उल्लेखनीय त्रुटियाँ भी मिलती है। मात्राओ की पूर्ति और तुक के आग्रह के कारण उन्होने यत्र-तत्र शब्दो का अगभंग, रूप-परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य भी किया है। आधार के स्थान पर 'अधार', अभिलाषाएँ के स्थान पर 'अभिलाषे', कर्णधार के स्थान पर कर्णाधार', ज्योतिके स्थान पर 'ज्योती' आदि शब्दो का प्रयोग उन्होने स्वतन्त्रतापूर्वक किया है। लेकिन उनके पाठक उनके भावो के साथ इतना बह जाते है कि इन त्रुटियो की ओर उनका ध्यान ही नही जाता। यो उनकी भाषा व्याकरणपरक है, लेकिन कही-कही व्याकरण के साधारण नियम भी भंग किये गये हैं। इन त्रुटियो के बावजूद भी उनकी भाषा सरल, सरस, संगीतपरक, प्रवाहयुक्त, कोमल और मधुर है।

रहस्यवादी कवियों में महादेवीजी का स्थान

हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद की दो धाराएँ मिलती हैं: (१) प्राचीन धारा का रहस्यवाद और (२) नवीन धारा का रहस्यवाद। प्राचीन धारा का

रहस्यवाद तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है : (१) सतो का रहस्यवाद, (२) भक्तो का रहस्यवाद और (३) सूफियो का रहस्यवाद। इन तीनो पर वैष्णव दर्शन का प्रभाव है। वैष्णव-दर्शन मे दो 'वादो' की प्रतिष्ठा की गई है : (१) निर्गुण वाद और (२) सगुणवाद। निर्गुणवाद एकान्तत. पीड़ा का दर्शन है। कबीर और उनकी परम्परा के सत इसी दर्शन से प्रभावित हैं। वे अद्वैतवादी सत हैं और आत्मा और परमात्मा मे अभेद-सम्बन्ध मानते है। इस सम्बन्ध को उन्होने दो रूपो मे व्यक्त किया है · (१) दर्शन के रूप मे जिसे हम साधनात्मक रहस्यवाद कहते है और (२) दाम्पत्य प्रेम के रूप मे जिसे हम भावात्मक रहस्यवाद की सज्ञा देते हैं। पहले प्रकार के रहस्यवाद मे ज्ञान अथवा योग का आश्रय लिया गया है। इसलिए वह जटिल और शुष्क है और सच पूछिए तो वह रहस्यवाद है भी नही। लेकिन माधुर्य भाव की अभिव्यजना होने से दूसरे प्रकार का रहस्यवाद सरस और काव्यमय है। इसमे परमात्मा को 'पति' और आत्मा को उसकी 'पत्नी' मानकर इन दोनो के बीच वियोग की विभिन्न अन्तर्दशाओ का अत्यन्त सजीव चित्रण किया गया है। महादेवीजी की रहस्य-भावना इसी के अन्तर्गत आती है। अन्तर केवल इतना है कि जहा सतो की रहस्य-भावना के पीछे उनकी साधना है वहाँ महादेवीजी का रहस्यवाद के प्रति केवल काव्यगत दृष्टिकोण है।

सूफियो की रहस्य-भावना से महादेवीजी की रहस्य-भावा मेल नही खाती। अद्वैतवाद से प्रभावित होने पर भी सूफियो ने भावात्मक रहस्यवाद की शैली को उसी रूप मे नही अपनाया है जिस रूप मे कबीर आदि सतो ने। कबीर ने भारतीय दर्शन से प्रभावित दाम्पत्य-जीवन की प्रेम-पद्धति के आधार पर अपनी पीड़ा का चित्रण किया है और सूफी साधक—जायसी आदि—ने फारसी प्रेम-पद्धति के आधार पर। फारसी-प्रेम-पद्धति मे आत्मा को 'प्रेमी' और परमात्मा को 'प्रेमिका' मानकर उनके बीच वियोग की विभिन्न अन्तर्दशाओ का आध्यात्मिक चित्रण किया जाता है। स्पष्ट है कि यह क्षेत्र महादेवीजी का नही है।

रहस्य-भावना के क्षेत्र मे वैष्णव-भक्त सतो से भिन्न है। वे सगुणवादी है। सगुणवाद भी पीड़ा का दर्शन है, लेकिन उसमे आनन्द का यथेष्ट समावेश है। भक्तो ने सगुणवाद के इसी आनन्द-पक्ष को अपनाया है। इसलिए उनका रहस्यवाद

इसलिए प्रसादजी अपनी रहस्य-भावना मे जटिल भी हैं। उन्ही की भाँति निरालाजी भी अपनी रहस्य-भावना मे दुरूह हो गए हैं। जो आत्म-पीड़ा रहस्यवाद को जन्म देती है उसका उसमे भी अभाव है। 'तुम और मैं, 'पचवटी प्रसग' और 'करण' शीर्षक कविताओ मे उनके रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष ही काव्य के रूप मे व्यक्त हुआ है। पंतजी का रहस्यवादी काव्य इन दोनो कवियो से इस बात मे भिन्न है कि जहाँ उन्होने अपने-अपने दर्शन से रहस्यवाद की प्रेरणा ग्रहण की है वहाँ पंतजी के रहस्यवाद ने सीधे प्रकृति से। प्रकृति को उन्होने उल्लास-भरे रूप मे देखा है। इसलिए उनकी रहस्य-भावना जिज्ञासा और आश्चर्य तक ही मुख्यत: सीमित है। इसलिए वेदना भाव का जो चरमोत्कर्ष महादेवीजी की रचनाओ मे चित्रित हुआ है वह उनकी रचनाओ मे नही है। इस प्रकार क्या प्रसादजी, क्या निरालाजी और क्या पतजी, महादेवीजी के मुकाबले के रहस्यवादी कवि नही है। महादेवीजी ने रहस्यवाद की प्राचीन और नवीन—सभी शैलियो को अपनाकर उसकी मूल प्रवृत्ति—वेदना-भाव—के माध्यम से असीम और समीम तथा आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को जिम कलात्मक ढग से व्यक्त किया है वह अनुपम और अद्वितीय है ओर इस कारण वह आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवयित्री हैं।

---

३२ : रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन्म-स० १९६५

जीवन-परिचय

रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सं० १९६५ के आश्विन मास शुक्ल पक्ष में बिहार के मुगेर जिलान्तर्गत गंगा के बाएँ तट पर स्थित सिमरिया घाट नामक ग्राम मे हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। प्रायमरी तथा मिडिल की परीक्षाएँ पास करने के बाद उन्होने मोकामाघाट के एच० ई० स्कूल से मैट्रिक

की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। इसके बाद उन्होने स० १९८७ मे एफ० ए० और स० १९८९ मे पटना-विश्वविद्यालय से इतिहास लेकर 'आनर्स' के साथ बी० ए० पास किया।

शिक्षा समाप्त करने के बाद दिनकरजी ने नौकरी कर ली। पहले वह स० १९९० मे एच० ई० स्कूल, मोकामाघाट के प्रधानाध्यापक हुए। फिर कुछ दिनो तक सब रजिस्ट्रार और प्रचार-विभाग मे उप-निर्देशक का कार्य करते रहे। अन्त मे उन्होने लिंगटसिंह पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुजफ्फरपुर मे काम करना आरम्भ किया और हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गए। स० २००९ मे उन्होने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और पार्लियामेट मे राज्य-सभा के सदस्य हो गए।

काव्य-रचना की ओर दिनकरजी की प्रवृत्ति आरम्भ से ही थी। मिडिल पास करने के बाद ही उन्होने कई देहाती गीतो की रचना की थी। उस समय जबलपुर से 'छात्र-सहोदर' नाम का एक पत्र निकलता था। इसमे प्रकाशित रचनाओ का भी दिनकरजी पर प्रभाव पड़ा। मोकामाघाट के विद्यालय मे पढते समय उन्होने प० रामनरेश त्रिपाठी की रचना 'पथिक' (स० १९७८) तथा गुप्तजी की 'भारत भारती' (स० १९६९) भी पढी थी। इन दोनो रचनाओ का भी उन पर प्रभाव पड़ा था। इसी समय स० १९७८ का असहयोग-आन्दोलन आरभ हुआ। इस आन्दोलन ने भी दिनकरजी पर अपना पूरा प्रभाव डाला। एक स्थान पर वह स्वय लिखते हैं—'मेरी आज की भावनाओ का मूल 'पथिक', 'भारत भारती', 'छात्र-सहोदर की राष्ट्रीय कविताओ' और सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन मे है।'

आरंभ मे दिनकरजी ने 'पथिक', 'जयद्रथ-वध' तथा 'मेघनाद-वध' के अनुकरण पर कई रचनाएँ की, पर दो-तीन सर्गों के बाद उनका काम आगे नही बढा। मैट्रीकुलेशन पास करने के बाद ही उन्होने नियमित रूप से काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया। स० १९९२ मे वह बिहार-प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के कवि-सम्मेलन के अवसर पर उसके सभापति चुने गये। उनकी 'हिमालय' शीर्षक कविता पर बनैली के कुमार कृष्णसिंह ने उनको एक स्वर्ण-पदक दिया। उनकी एक दूसरी कविता 'नई दिल्ली' भी बहुत पसन्द की गयी। 'हिमालय'

और 'नई दिल्ली' दोनो कविताओ का गुजराती भाषा में गुजराती के प्रसिद्ध कवि मेघाणीजी ने अनुवाद किया है। हिन्दी-जगत मे उनके महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' से उनको विशेष सम्मान मिला है।

दिनकरजी को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष प्रेम है। उनको रचनाओ पर इन विषयो की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वह विचार-प्रिय कवि है। वह प्रत्येक रचना मे विचार खोजते है। उन्हे वह लेखक बहुत ही भला लगता है जिसमे विचारो का प्राचुर्य और कुछ देने की आतुरता रहती है। हिन्दी के अतिरिक्त सस्कृत, उर्दू, अगरेजी और बगला का उन्हे अच्छा ज्ञान है। इन भाषाओ की कविता का उन्होने अच्छा अध्ययन किया है।

दिनकरजी की रचनाएँ

दिनकरजी का रचना-काल स० १९८५ से आरभ होता है। उस समय से अब तक उन्होने हमे अपनी अनेक रचनाएँ दी है। गद्य और पद्य दोनो क्षेत्रो मे उनकी गति है। 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्धनारीश्वर', 'रेती के फूल', 'भारतीय सस्कृति के चार अध्याय' आदि उनके गद्य ग्रन्थ हिन्दी मे बहुत लोक-प्रिय है। इनमे उनका मनन, चिन्तन और अध्ययन प्रतिफलित हुआ है। काव्य उनकी भावना और अनुभूति की अभिव्यक्ति का क्षेत्र है। उन्होने कई काव्य-ग्रथो की रचना की है जो इस प्रकार है :—

(१) **महाकाव्य**—कुरुक्षेत्र (सं० २००३), रश्मिरथी (सं० २००९)

(२) **खण्ड-काव्य**—प्रणभंग (स० १९८७)

(३) **वर्णनात्मक काव्य**—बारडोली-विजय (स० १९८६), धूप-छाँह (सं० २००३), बापू (सं० २००४), इतिहास के आँसू (सं० २००८), मिर्च का मजा (स० २००८), दिल्ली (सं० २०११)

(४) **मुक्तक काव्य**—रेणुका (स० १९९२), हुँकार (सं० १९९६), रसवन्ती (सं० १९९७), द्वन्द्वगीत (सं० १९९७), सामधेनी (स० २००४), धूप और धुआँ (स० २००८), नीम के पत्ते (सं० २०११), नील कुसुम (सं० २०११), सीपी और शख (स० २०१२), नये सुभाषित (स०२०१३), चक्रवाल (सं०२०१४)

दिनकरजी की काव्य-साधना

छायावाद की निर्वैक्तिकता, सात्विकता, दार्शनिकता और निराशा से अपने आपको मुक्तकर सामाजिक चेतना का अपनी रचनाओं मे व्यक्त करनेवाले कवियो मे दिनकरजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होने जिस समय कविता करना आरभ किया उस समय भारतीय राजनीति मे साम्यवादियो के प्रवेश से मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन पर आधारित मनुष्य की सामूहिक मुक्ति के एक नवीन मानववादी जीवनादर्श की ओर भारत के नवजवान कवियो को उत्प्रेरित करना आरम्भ कर दिया था। दिनकरजी भी इस ओर झुके। लेकिन इस क्षेत्र मे उन्होने तीव्र गति से प्रवेश नही किया। सबसे पहले उन्होने 'रेणुका' मे अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया। इसमे सगृहीत 'नाचो हे नाचो नटवर' और 'हिमालय' शीर्षक कविताओ से उनकी उस क्रांति-भावना का स्पष्ट आभास मिलता है जो शोषक-शोषित समाज का उन्मूलन कर वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहती है। इस भावना का पुष्ट रूप 'हुँकार' और 'सामधेनी' मे और इसका विकसित रूप 'कुरुक्षेत्र' मे दिखाई देता है। कहने का तात्पर्य यह कि यही भावना उनके सपूर्ण काव्य का केन्द्र-बिन्दु है। इससे हमारा अभिप्राय यह नही है कि उन्होने इतर भावनाओ का स्वतत्र रूप से वर्णन नही किया है। किया है और सफलतापूर्वक किया है, लेकिन उनमे भी यत्र-तत्र वर्तमान की विषमताओ के प्रति उनकी क्रांति-भावना उद्दीप्त हो उठी है। निम्न पक्तियो मे हम इसी बात पर आधारित उनकी काव्य-प्रवृत्तियो पर विचार करेंगे —

(१) राष्ट्र-प्रेम—दिनकरजी ने अपनी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति दो आधारो पर की है : (१) अतीत और (२) वर्तमान। अतीत का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष से और वर्तमान का प्रत्यक्ष से होता है। वर्तमान मे कोलाहल और सघर्ष हैं। इसकी अपेक्षा अतीत गौरवपूर्ण, सुखद और आनन्दमय है। इसलिए दिनकरजी कुछ क्षणो के लिए अतीत मे ही रमना पसद करते हैं :—

'दीव! दुखद है वर्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
कहीं सुखद इससे सस्मृति मे है अतीत का रत रहना॥'

'रेणुका' मे अतीत-गौरव के अनेक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं।

'हिमालय' की इन पक्तियो मे दिनकरजी ने अतीत के प्रति अपना प्रेम और वर्त-मान के प्रति अपना क्षोभ अत्यन्त मार्मिक ढग से व्यक्त किया है —

'तू पूछ अवध से राम कहाँ ? वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक, वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?'

'पाटलिपुत्र की गंगा' को पूर्व-गौरव का स्मरण कराते हुए उनका हृदय चीत्कार कर उठता है :—

'तुझे याद है चढ़े पदों पर कितने जय-सुमनों के हार ?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने धोई है तुझ में तलवार ?'

दिनकरजी ने भारत के स्वर्ण अतीत के अनेक भावुकतापूर्ण चित्र अंकित किये हैं। इन चित्रो को देखकर हम भाव-विभोर तो हो जाते हैं, लेकिन इनमे हमारा हृदय तल्लीन नही हो पाता, इसलिए कि वे तेजी से बदलते रहते है। एक चित्र ने हमे प्रभावित किया नही कि उससे भिन्न दूसरा चित्र सामने आ जाता है। अतीत के प्रति दिनकरजी के भावो मे विस्तार है, गहनता नही है। इसलिए उनके अतीत-चित्र हमारे हृदय को स्पर्श भर कर पाते है।

अतीत की अपेक्षा वर्तमान के चित्रण मे दिनकरजी अधिक सफल है। 'हुंकार' मे उनकी जो रचनाएं सगृहीत है उनमे उन्होने वर्तमान के ही दु:ख-दैन्य का वर्णन किया है। 'पराजित की पूजा' की इन पक्तियो मे देश के होनहार नवयुवको के प्रति उनकी सहानुभूति देखिए :—

'क्या होगा भगवान ! हाल मिट्टी मे पड़ी जवानी का !
इस किशोर खिलती ज्वाला का, इस चढ़ते-से पानी का !'

लेकिन आज के भगवान भी पूंजीपतियो पर ही रीझे हुये है, क्योकि उनके मन्दिरो मे उन्हे जो मोहनभोग मिलता है वह दीनो की कुटियो मे कहा मिल सकता है ! 'रेणुका' की इन पक्तियो मे राम के प्रति उनका व्यग्य देखिए :—

'शबरी के जूठे बेरो से आज राम को प्रेम नहीं।
मेवा छोड़, शाक खाने का आज पुरातन प्रेम नहीं।'

'हुंकार' मे उनका यह व्यंग्य और भी मुखर हो उठा है :—

'दूध-दूध ! ओ वत्स मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं ।
दूध-दूध ! तारे बोलो इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?'

*　　*　　*

'श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं ।
माँ की हड्डी से चिपक-ठिठुर,जाड़े की रात बिताते हैं ।'

भारत के दुःख-दैन्य से दिनकरजी की प्रकृति भी संवेदनशील हो उठी है । एक नगे-भूखे दाम्पत्य की लाज बचाने मे वायु की आतुरता का, इन पंक्तियों में, अनुभव कीजिए :—

'अर्द्ध नग्न दंपति के घर में मैं झोंका बन आऊँगी ।
लज्जित हों न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी ।'

वर्तमान के चित्रण मे दिनकरजी की दृष्टि उन्ही लोगो पर जमी है जो शोषित, पीड़ित और दलित है । इनके प्रति उनकी सवेदना अत्यन्त सजग है ।

(२) विश्व-प्रेम—अपने देश के दुःख-दैन्य से ऊपर उठकर दिनकरजी ने 'हुँकार'-कालीन कविताओ मे अन्तर्राष्ट्रीय वैषम्य-परिस्थितियो के प्रति भी अपनी सहानुभूति का परिचय दिया है। लेकिन इस क्षेत्रमे उनकी सहानुभूति 'क्रांति-भावना' मे परिणत हो गई है । इस क्रान्ति भावना के बीज 'रेणुका' मे ही मिलते है :—

'हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं ।
दूध-दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं ।'

'हुँकार' मे संगृहीत प्रगतिवाद से प्रभावित रचनाओं मे दिनकरजी का व्यक्तिवाद विश्वास-भरा स्वर लेकर गर्वोक्ति के रूप मे प्रकट हुआ है :—

'उदयाचल पर आलोक शरासन ताने,
आया मैं उज्ज्वल गीत विभा के गाने ।
ज्योतिर्धनु की शिंजनी बजा गाता हूँ,
टंकार-लहर अंबर में फैलाता हूँ ।'

विश्व मे व्याप्त वर्ग-सघर्ष, मजदूर-आन्दोलन और दीनों का रक्त शोषण करनेवाली आडम्बरपूर्ण पूजीवादी सभ्यता के प्रभाव में दिनकरजी का भाव-प्रवण कवि-हृदय मर्माहत और कुपित हो उठा है और उनकी लेखनी भी

अन्य प्रगतिशील कवियो की लेखनी की भांति क्रांति का आह्वान कर रही है :—

'क्रांति-धात्रि कविते ! जाग उठ, आडम्बर में आग लगा दे,
पतन-पाप पाखण्ड जले, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।'

दिनकरजी इस क्रांति-कालिका की जय-जयकार करते हैं। उनकी इस जय-जयकार मे मास्को के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव है :—

'अरुण विश्व की काली जय हो,
लाल सितारो वाली जय हो;
दलित, बुभुक्षु, विषण्ड मनुज की—
शिखा रुद्र मतवाली जय हो।'

दिनकरजी अपनी प्रगतिवादी भावनाओ मे साम्प्रदायिक न होकर उदार है। विश्व की मगल-कामना करते हुए भी वह अपने देश को नही भूले है। 'सामधेनी' की इन पक्तियो मे उन्होने उन कवियो के प्रति व्यग्य किया है जो 'विश्व-विश्व' तो चिल्लाते है लेकिन अपने देश की परिस्थिति के प्रति उदासीन हैं :—

'चिल्लाते हैं 'विश्व विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी।
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मास्को के रणधीरो के गुण गाये जाते।
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।'

दिनकरजी अपनी इस भावना के कारण ही हमारे राष्ट्र-कवि है। उनका राष्ट्र-प्रेम उनके विश्व-प्रेम मे समाया हुआ है। 'रेणुका' से 'सामधेनी' तक वह अपनी इसी भावना के कवि है। 'कुरुक्षेत्र' मे विश्व-शाति की समस्या पर भीष्म के इन विचारो मे गाँधीवादी दर्शन की स्पष्ट झलक दिखाई देती है :—

'आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग मे रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नही जीवन अनीति से॥
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीति से।

स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से ॥'

'हुँकार' और 'सामधेनी' मे दिनकरजी ने यदि प्रगतिवाद से प्रभावित रचनाएँ की है तो 'कुरुक्षेत्र' मे गाँधीवादी दर्शन से। इस प्रकार उनकी राष्ट्र-भावना धीरे-धीरे लोक-मगल की ओर अग्रसर हुई है।

(३) **वस्तु-वर्णन**—वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत दिनकरजी की वे रचनाएँ आती है जिनमे उन्होने प्रकृति, रूप और परिस्थितियो का चित्रण किया है। सन्ध्या समय गाँवो की चहल-पहल देखने योग्य होती है। उस समय का दृश्य इन पंक्तियो मे देखिए :—

'स्वर्णांचला अहा ! खेतो में उतरी सध्या श्याम परी।
रोमन्थन करती गाएँ आ रही रौदती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुवाँ जलते चूल्हे बारी-बारी।
चौपालों मे कृषक बैठ गाते—'कँह अटके बनवारी।'

षोडशी ऊषा का यह चित्र भी अत्यन्त भव्य है :—

'नत नयन लाल कुछ गाल किये, पूजा-हित कंचन थाल लिये,
ढोती यौवन का भार, अरुण कौमार्य-बिन्दु निज भाल दिये।
स्वर्णिम दुकूल फहराती-सी, अलक्षित, सुरभित, मदमाती-सी;
दूबों से हरी-भरी भू पर, आती षोड्शी उषा सुन्दर।'

दिनकरजी ने अपनी रचनाओ मे प्रकृति-चित्रण की कई शैलियाँ सफलता-पूर्वक अपनाई है। इन पर यत्र-तत्र छायावाद और रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-पद्धति का भी प्रभाव दीख पड़ता है :—

'किरणों के दिल चीर देख, सब में दिनमणि की लाली रे।
चाहे जितने फूल खिलें, पर एक सभी का माली रे।'

परम विरह की झलक इन पंक्तियो मे देखिए :—

'तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिये;
संध्या लिये विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिये,

हँसे कौन ! तुझको तजकर जो चला वही हैरान चला;
रोती चली बयार, हृदय में मै भी हाहाकार लिये ।'

परन्तु दिनकरजी की इन पक्तियो मे रहस्यवादी शैली और काव्य-वस्तु के बधन ढीले पड गये है। इनकी अपेक्षा वे चित्र अच्छे लगते है जिनमे उन्होने नारी-रूप का सजीव वर्णन किया है। प्रसूत-गृह से माँ बनकर निकली हुई ग्रामीण नारी का यह चित्र लीजिए :—

'आखों में गीली काजल, लम्बी रेखा सेंदुर की,
नासिकाग्र से चली गई है ऊपर चीर चिकुर को—
सीधी रेख बना, कच दोनो ओर सजे हैं ऐसे,
फटकर दी हो राह तिमिर ने जैसे किसी किरण को।'

यही नारी अपनी गोद के नवजात शिशु को कितने स्नेह से निहार रही है —

'अचल के सुकुमार फूल को वह यो देख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यो भरे नयन से।'

लेकिन दिनकरजी अपनी इन रचनाओ के कारण हिन्दी मे सम्मानित नही है। वह मूलतः हमारे राष्ट्र-कवि है और हम इसी रूप मे उन्हे हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो मे सर्वोच्च स्थान देते हैं।

दिनकरजी की शैली

दिनकरजी की काव्य-शैली के स्पष्टतः दो रूप हैं : (१) प्रबन्ध-शैली और (२) मुक्तक-शैली। प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत उनके महाकाव्य, खड-काव्य और अन्य छोटे-मोटे काव्यो की गणना की जा सकती है। मुक्तक-शैली की दो धाराएँ हैं : (१) प्रबन्ध-मुक्तक और (२) भाव-मुक्तक। इन दोनो को रचना में दिनकरजी अत्यन्त सफल है। उनके भाव-मुक्तक ही गीति-काव्य के अन्तर्गत आते हैं। गीति-काव्य मे प्रगीतो की सख्या कम है। दिनकरजी मे भावो का प्रसार अधिक है, गहराई कम। इसलिए प्रगीतो की रचना मे वह सफल नही हो सके है। साथ ही वह अपनी कविताओ मे परस्पर विरोधी भावो की सृष्टि कर प्रभाव-अन्वित को तोड़-मरोड़ देते हैं। वह दो-तीन भावनाओ को एक साथ लेकर चलते हैं, इस-

लिए उनके मुक्तक आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं। भावो और विचारो की गहराई की दृष्टि से उनके प्रबन्ध-काव्यो में 'कुरुक्षेत्र' सर्वश्रेष्ठ है। इसमे अनुभूति, कल्पना और बुद्धि-तत्त्व —तीनो का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है।

रस और भाव की दृष्टि से दिनकरजी की सभी रचनाएँ अत्यन्त समृद्ध है। राष्ट्रीय रचनाओ मे उन्होने वीर, रौद्र और करुण रसो का सफलतापूर्वक प्रयाग किया है। 'द्वन्द्वगीत' मे शान्त रस और 'रसवन्ती' मे शृङ्गार के सुन्दर उदाहरण मिलते है। रसो के साथ गुणो की अचल स्थिति मानी गई है। काव्य मे श्रवण मात्र से ही जहाँ अर्थ तुरन्त समझ मे आजाय वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। दिनकरजी के काव्य की यह परम विशेषता है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओ मे भावानुकूल माधुर्य और ओज भी पाया जाता है। इसके साथ ही उन्होंने अभिधा ओर लक्षणा के प्रयोग मे भी अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। अलकारो मे उपमा, उत्पेक्षा, रूपक आदि उन्हे अधिक प्रिय है। अँगरेजी के 'विशेषण विपर्यय' के भी यत्र तत्र सुन्दर उदाहरण मिलते है। 'रानी ! सब दिन गीलो रही कथा है' मे कथा 'गीली' नही, रानी का हृदय गीला अर्थात् द्रवित है। इसी प्रकार प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की सुन्दर योजना इन पक्तियो मे देखिए :—

'दहक रही मिट्टी स्वदेश को, खौल रहा गंगा का पानी;
प्राचीरो मे गरज रही है जंजीरो से कसी भवानी।'

अमूर्त भावो को मूर्त रूप देने और उनका मानवीकरण करने मे दिनकरजी की शैली अत्यन्त सफल है। प्रतीको के सहारे अपने भावो को व्यक्त करने मे भी वह कुशल है। अपने गीति-काव्य मे उन्होने मात्रिक छदो का प्रयोग किया है। तुकान्त और अतुकान्त दोनो प्रकार के छद उनकी रचनाओ मे मिलते हैं। कही-कही उर्दू के छंद भी दिखाई देते है। 'कुरुक्षेत्र' मे मात्रिक छन्दो के साथ-साथ वर्णिक छन्दो का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार शैली की दृष्टि से दिनकरजी के काव्य में अनेक प्राचीन और आधुनिक विशेषताएँ मिलती हैं।

दिनकरजी की भाषा

दिनकरजी की भाषा साहित्यिक खडीबोली है। इसके मुख्यत दो रूप हैं · (१) फारसी से प्रभावित साहित्यिक खड़ीबोली और (२) विशुद्ध साहित्यिक

खड़ोबोली। फारसी से प्रभावित साहित्यिक खडीबोली मे असहाय, त्राण, वत्स आदि संस्कृत के तत्सभ शब्दो के साथ कब्र, आरजू, अरमान, लाश, जजीर आदि फारसी के शब्द भी पाये जाते है। इसके अतिरक्त कही-कही पाँख, हितू, दूध, कीच, घडे आदि ग्रामीण शब्द भी मिलते है और भाषा के बिहारी प्रयोग भी —

'जबाँ बन्द, बहती न आंख, गम खा शायद आसू पीते हैं।'

* * *

'बसन कहा? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।'

* * *

'पर इस भरे जग मे गरीबो का हितू कोई नहीं।'

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग दिनकरजी ने अपनी राष्ट्र-भावना-प्रधान रचनाओ मे ही किया है। इसमे भावो का ओज है, पर भाषा का परिष्कृत रूप नही है। दूसरे प्रकार की भाषा इससे भिन्न है। इसमे संस्कृत के सरल और क्लिष्ट, दोनो प्रकार के तत्सम शब्दो का प्रयोग हुआ है। यह भाषा सरस, मधुर और अलंकृत भी है। इमका और भी परिकृत रूप 'कुरुक्षेत्र' मे देखने को मिलता है। 'कुरुक्षेत्र' की भाषा दिनकरजी की आदर्श भाषा है जो सरल होते हुए भी प्रवाहपूर्ण, साहित्यिक और काव्योचित है। भावो के अनुरूप दिनकरजी की भाषा का रूप बदला है और उसका परिष्कार हुआ है। मुहावरा के प्रयोग से भी उनकी भाषा सर्वत्र समृद्ध है :—

'मैंने भी क्या हाय! हृदय मे अंगारे पाले, सजनी!
पल भर को भी हाय व्यथाएं टली नही टाले, सजनी!'

दिनकरजी की भाषा मे यत्र-तत्र व्याकरण-सम्बन्धी दोष बहुत खटकते है। साथ ही कुछ लचर शब्दो के प्रयोग से उनकी भाषा का रूप नष्ट हो गया है। लेकिन ज्यो-ज्यो उनकी भाषा आगे बढी है त्यो-त्यो वह इन दोषो से मुक्त होती गई है और उसमे निखार आता गया है। फिर भी उसमे फैलाव अधिक, सकोच की मात्र कम है।

दिनकरजो और गुप्तजो

गुप्तजी और दिनकरजो, दोनो हमारे राष्ट्र-कवि हैं। लोकिन अपनी राष्ट्रीय

चेतना की अभिव्यक्ति मे दोनो एक नही हैं। गुप्तजी पर गाधीवाद के व्यावहारिक दर्शन का प्रभाव है जिसे उन्होने अतीत-गौरव के माध्यम से किया है। उनमे वर्तमान के प्रति आस्था नही है। वर्तमान सघर्षमय है और गुप्तजी सघर्ष-प्रिय नही है। वर्तमान की अपेक्षा गौरवमय अतीत उन्हे प्रिय है। यही कारण है कि गुप्तजी ने वर्तमान की ओर से उदासीन होकर अतीत के उन युगो पर अपनी दृष्टि जमाई है जो समृद्ध है और जिनमे उनकी लोक-मगल-भावना के पोषण एव विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध हो सकते है। तात्पर्य यह कि वह वर्तमान से अतीत की ओर गये है और वही जम गये है। उनकी नीति अतीत की नीति है, उनका आदर्शवाद अतीत का आदर्शवाद है जिस पर गाधीवाद के व्यावहारिक दर्शन का उसी सीमा तक प्रभाव है जिस सीमा तक वह उनकी रामोपासना के अनुकूल है। दिनकरजी सघर्ष-प्रिय कवि है। इसलिए वर्तमान उन्हे प्रिय है। उन्होने अतीत को मुडकर देखा-भर है, उसमे वह रमे नही हैं। रमे हैं वह अपने वर्तमान मे ही। वर्तमान की शोषित-पीडित जनता के प्रति जैसा विक्षोभ और असतोष उनके हृदय मे पाया जाता है वैसा गुप्तजी के हृदय मे कहाँ है! इस प्रकार दिनकरजी आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी और क्रातिवादी हैं।

दिनकरजी का क्रातिवाद मार्क्सवाद से प्रभावित है। आरभ मे इसीलिए उन्होने रूस के लाल झण्डे की जय का उद्घोष किया है। लेकिन भारतीय सस्कृति के प्रति उनकी आस्था और उनकी आस्तिकता ने उन्हे इससे आगे नही बढने दिया। ऐसी स्थिति मे दिनकरजी ने गाँधीवाद के तत्त्व-चिंतन के आधार पर नव जागरण का सदेश दिया है। इसीलिए उनकी रचनाओ मे गाधीवाद के व्यावहारिक दर्शन का वह रूप नही है जो गुप्तजी की रचनाओ मे पाया जाता है। गाधीवाद का तत्व-चितन पीडा का तत्व-चिंतन है जिसका जन्म एक परतत्र देश की चिर-पराजय से हुआ है। इसलिए स्वभावत यह गुप्तजी की अपेक्षा दिनकरजी के व्यक्तित्व के अनुकूल हैं। इस प्रकार दिनकरजी और गुप्तजी राष्ट्रीय भावना के क्षेत्र मे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। गुप्तजी ने जिस पर अपनी दृष्टि जमाई है उसे दिनकरजी ने त्याग दिया है और जिस पर दिनकरजी ने अपनी दृष्टि जमाई है उसे गुप्तजी ने स्वीकार नही किया है। वे एक नही है, एक दूसरे के पूरक अवश्य हैं।

दिनकरजी और नवीनजी

दिनकरजी और नवीनजी, दोनो हमारे राष्ट्र-कवि है, लेकिन राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं। नवीनजी 'स्व' के कवि है। गाधीजी के असहयोग-आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेने के कारण उन्होने जो यावानाएँ सही है और अँगरेजो सरकार-द्वारा निरीह जनता पर किये गये जो अत्याचार उन्होने अनुभव किये है उन्ही के विरुद्ध उनमे व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना जाग उठी है। दिनकरजी को इस क्षेत्र का व्यक्तिगत अनुभव नही है। वह वर्तमान जीवन की विषमताओ से प्रभावित है। उन्होने परतत्र भारत के शोषित-पीड़ित किसान-मजदूरो की व्यथा-विवशता के विरुद्ध अपने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है। इसलिए उनके 'स्व' का आधार 'पर' है। वह वर्तमान जीवन के के चितक और आलोचक है। वर्तमान जीवन के पाप, पाखड और आडबर को जलाकर वह यात्रिक और वैज्ञानिक सभ्यता के स्थान पर एक ऐसी अभिनव सभ्यता का निर्माण करना चाहते है जिसमे किसी को किसी के प्रति द्वेष न हो और सब मिल-जुलकर प्रेम, सहयोग और त्याग-द्वारा आत्म-विकास कर सके। इस प्रकार वह क्रातिदर्शी होने के साथ-साथ स्रष्टा भी है।

नवीनजी केवल क्राति-दर्शी है जिसका मूल स्रोत नौकरशाही के प्रति उनका आक्रोश है। इसलिए उनकी क्राति-भावना विकासोन्मुखी नही है। वह कहते-भर है, क्राति के बाद की व्यवस्था का कोई आयोजन नही करते। वह मौज और मस्ती के कवि है। उनमे व्यक्तिवादी चेतना अधिक है। उनकी राष्ट्र-भावना-प्रधान रचनाओ की अपेक्षा उनकी वे रचनाएँ अधिक सफल है जिनमे उन्होने प्रणय का चित्रण किया है। दिनकरजी सामाजिक चेतना के कवि है। 'रसवती' की रचनाएँ प्रणय प्रधान है अवश्य, लेकिन उनमे भी वह दलित भारत के प्रति आकुल-व्याकुल ही दीख पड़ते हैं। वह अतीत-प्रिय भी हैं। भारत के अतीत गौरव से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होने उसके अनुरूप ही 'कुरुक्षेत्र' मे एक अभिनव सभ्यता की व्यवस्था की है। उसमे उन्होने स्वदेश और विश्व के कल्याण पर एक साथ विचार किया है और इसके लिए उन्होंने जो योजना प्रस्तुत की है उसमें भारतीय संस्कृति और गाधी-वाद का स्वर एक स्थान गूँज उठा है।

३३ : श्यामनारायण पाण्डेय

जन्म-स० १९६७

जीवन-परिचय

श्यामनारायण पाण्डेय का जन्म जिला आजमगढ के डुमरॉव नामक ग्राम मे श्रावण बदी पंचमी, स० १९६७ को हुआ था। उनके बचपन मे ही उनके पिता पं० रामाज्ञा पाडेय की असामयिक मृत्यु हो गई। इससे उनके भरण-पोषण का सारा भार उनकी माता श्रीमती बवासी देवी को ही उठाना पडा।

पाडेयजी की प्रारभिक शिक्षा गॉव मे ही हुई। इसके बाद उन्होने हिन्दी-उर्दू मिडिल की परीक्षा पास की। अर्थाभाव के कारण वह आगे नही पढ सकते थे। यह देख कर उनके पितृव्य प० विष्णुदत्त पाडेय और बडे भाई प० सत्य-नारायण पाडेय के सामयिक प्रयत्न से उनका नाम राजकीय सस्कृत महाविद्यालय, काशी मे लिखा दिया गया और वह वही सस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने लगे। इस महाविद्यालय से उन्होने स० १९९१ मे साहित्य-शास्त्री की परीक्षा पास की। दुर्भाग्य से उसी वर्ष उनकी माता का भी स्वर्गवास हो गया। इससे उनके अध्ययन मे फिर बाधा उपस्थिति हो गयी, लेकिन वह लगे ही रहे और कई वर्ष बाँद उन्होने साहित्याचार्य की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् राजकीय सस्कृत महाविद्यालय (सरस्वती भवन) मे वह रिसर्च स्कालर हो गये और लगभग ३ वर्ष तक पुराण-साहित्य का अध्ययन एव अनुशीलन करते रहे। इन तीन वर्षो मे उन्होने सस्कृत मे बहुत-सी पौराणिक कहानियाँ लिखी। इन कहानियो से साहित्य के प्रचार मे पूरी सहायता मिल सकती है।

पाडेयजी अध्ययनशील व्यक्ति हैं। वह बचपन से ही परिश्रमी और अध्यवसायी रहे है। वह अपने जीवन के स्वय निर्माता है। विघ्न और बाधाओ के बीच रह कर ही उन्होने अपने जीवन का निर्माण किया है। इसलिए वह निर्भीक, उदार, करुण और सहृदय है। इस समय वह काशी मे रहते हैं।

पांडेयजी की रचनाएं

पाडेयजी हिन्दी के प्रतिभा-सपन्न कवि हैं। उनका रचना-काल स० १९८८ से आरभ होता है। उस समय वह सस्कृत के विद्यार्थी थे, लेकिन हिन्दो के प्रति भी उनका प्रेम था। वह उसमे कविता भी करते थे। उनकी प्रारभिक रचनाएँ 'त्रेता के दो वीर', 'माधव', 'रिमझिम' आदि है। लेकिन इन रचनाओ-द्वारा उन्हे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नही हो सकी जा उन्हे 'हल्दीघाटी' द्वारा प्राप्त हुई है। उनके इस प्रबन्ध-काव्य का हिन्दो-काव्य मे सर्वोच्च स्थान है। उनका अब तक को रचनाएँ इस प्रकार है —

(१) **महाकाव्य**—हल्दीघाटी (सं० १९९८), जौहर (स० २००३)

(२) **खण्ड-काव्य**—त्रेता के दो वीर (सं०१९९०), तुमुल (स०२००५), गोरा-वध (स० २००७), जय हनुमान (स० २०१३)

(३) **मुक्तक-काव्य**—माधव (स० १९९३), रिमझिम (स० १९९५), आँसू के कण (सं० २००१), आरती (स० २००३)

इन रचनाओ मे से 'हल्दीघाटी' पर उन्हे 'देव-पुरस्कार' मिला है और 'जौहर' पर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने उन्हे 'द्विवेदी-पदक' प्रदान किया है।

पांडेयजी की काव्य-साधना

भूषण त्रिपाठी के पश्चात् जातीय वीर-भावना का उद्घोष करनेवाले कवियो मे पाडेयजी का सर्वप्रथम स्थान है। जातीय वीर-भावना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने दो युगो से सामग्री एकत्र की है (१) त्रेता-युग और (२) राजपूत-युग। 'त्रेता के दो वीर', 'तुमुल', 'जय हनुमान' आदि खण्ड-काव्यो मे उन्होने त्रेता युग के वीरो के शौर्य एव पराक्रम का अत्यन्त ओजस्वी वर्णन किया है। 'त्रेता के दो वीर' का सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण 'तुमुल' है। इसमें लक्ष्मण और मेघनाद के बीच होनेवाले युद्ध का अत्यन्त सजीव वर्णन है। 'जय हनुमान' पाडेयजी का दूसरा पौराणिक खंड-काव्य है इसमे राम-भक्त हनुमानजी के अद्भुत पराक्रम का ओजस्वी वर्णन है। पौराणिक इतिवृत्ति पर आधारित इन खण्ड-काव्यो के अतिरिक्त पाडेयजी ने राजपूत-युग के शौर्य एव पराक्रम की अभि-व्यक्ति के लिए जिन प्रबन्ध काव्यो की रचना की है उनमें 'हल्दीघाटी' का सर्व

प्रथम स्थान है । यह वीर रस-प्रधान महाकाव्य है । इसमे हिन्दू-जनता में प्रतिष्ठित महाराणा प्रताप (स० १६२६-५४) और मुगल-सम्राट अकबर (स० १६१३-६२) के बीच होनेवाले हल्दीघाटी के युद्ध (स० १६३३) तथा उत्साह से भरी सघर्ष की अन्तर और बाह्य परिस्थितियो का लोमहर्षक वर्णन है । इसके बाद की रचना 'जौहर' है । यह करुण रस-प्रधान प्रबध काव्य है । इसका कथानक अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल (स० १३५३-७३) की वह इतिहास-प्रसिद्ध घटना है जिसका सबध मेवाड के राणा रतन सिंह की सर्वसुन्दरी महारानी पद्मिनी से है । अलाउद्दीन खिलजो ने स० १३६० मे मेवाड पर आक्रमण किया था । इस आक्रमण से ही पद्मिनी की कथा का सबध स्थापित किया जाता है । परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस कथा को कपोल-कल्पित मानते हैं । पाडेयजी ने इसी कथा को अपनाया है जो इतिहास-द्वारा समर्थित न होने पर भी उनकी भावना के सर्वथा अनुकूल है । 'गोरा-वध' भी इसी काल से सबंधित रचना है ।

पाडेयजा ने अपने उक्त सभी छोटे-बडे काव्योकी रचना एक विशिष्ट दृष्टिकोण से ही की है । अपने समय की राष्ट्रीय जाग्रति से प्रेरणा पाकर भी वह राष्ट्र-चेतना की व्यापक भाव-भूमि पर नही उतरे हैं । यह क्षेत्र गुप्तजी, दिनकरजी आदि का है । गुप्जी और दिनकरजी आदिकी रचनाओ मे देश की सामयिक परिस्थितियो के बीच राष्ट्रीय भावना का पोषण हुआ है । अतीत के गौरवमय चित्र उतारते हुये भी उन्होने देश की वर्तमान व्यापक वस्तून्मुखी जीवन-दृष्टि की उपेक्षा नही की है । इसलिए उनकी रचनाओ मे उनका युग बोल उठा है । लेकिन पाडेयजी की रचनाओ मे इसका सर्वथा अभाव है । इस अभाव का कारण देश की सामयिक परिस्थितियो के प्रति उनको पलायन की प्रवृत्ति नही, बल्कि उनका अपना विचार-गत दृष्टि-कोण है । जिस समय उन्होने काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया उस समय मुस्लिम लीग के दो राष्ट्र-सिद्धात के कारण हिन्दू और मुसलमानो के बीच साम्प्रदायिक भावना बढती जा रही थो । आये दिन साम्प्रदायिक दगे होते रहते थे और उनके आधार पर 'पाकिस्तान' की माँग जोर पकडतो जा रही थी । हिन्दू-मुस्लिम एकता की पुकार करनेवाले काँग्रेसी नेताओ की आवाजें इस कालाहल मे धीमी पड जाती थी । हिन्दुओ का कोई प्रबल समर्थक नही था । 'काऊ को

विश्वास न निज जातीय उदय मे'——के समान हिन्दुओ की स्थिति हो गई थी। इस निराशा और अविश्वास से हिन्दू-जाति को उबारनेवाले पाडेयजी पहले कवि हैं। उन्होने भारत के अतीत से उन वीरो को खोज निकाला है जो आर्य-सस्कृति के रक्षक और उसके विरोधियो के भक्षक थे। इस प्रकार उन्होंने वही काम किया जो उनसे दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व 'भूषण' कर चुके थे। इसलिए हम उन्हे भूषण की परपरा का आधुनिक कवि मानते है।

पाण्डेयजी के प्रबन्ध-काव्य कथानक की दृष्टि से अत्यन्त चुस्त और सुसगठित है। पौराणिक तथा ऐतिहासिक इतिवृत्तो मे जहाँ कल्पित घटनाओ का सहारा लेकर कुछ हेर-फेर किया गया है वहाँ भी कथा का प्रवाह ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। कथाओ मे घटनाओ और परिस्थितियो का सर्गो मे विभाजन करते समय कथा-सूत्र का ध्यान रखा गया है और उन्ही घटनाओ और परिस्थितियो का सविस्तर वर्णन किया गया है जो वीर रस अथवा करुण रस के परिपाक के लिए उपयुक्त है। अनावश्यक घटनाओ और परिस्थितियो के वर्णन से बचने की पाण्डेयजी ने पूरी चेष्टा की है। भाव-व्यजना के अनुकूल घटनाओ और परिस्थितियो को चुनकर उन्होने उन्ही पर अपनी दृष्टि जमाई है। इसलिए उनके प्रबन्ध-काव्यो मे बाह्य और आन्तरिक सघर्षो के सजीव चित्र सर्वत्र दीख पड़ते है। वह प्रत्येक घटना का वर्णन करने के पूर्व उसकी सुन्दर पृष्ठ-भूमि तैयार करते है और फिर उसके आधार पर उस घटना का इतना चित्ताकर्षक चित्रण करते हैं कि पाठक का हृदय कवि-हृदय के साथ एक होकर फडक उठता है। उनकी प्रत्येक पक्ति युद्ध का आवाहन करती है और उस पक्ष को चुनौती देती है जो भारतीय सस्कृति को कुचलना चाहती है।

पाडेयजी हिन्दी के यथार्थवादी कवि है। उनकी वर्णन-शैली अत्यन्त चित्ताकर्षक है। वह जिस घटना अथवा परिस्थिति का चित्रण करते है उसका सजीव चित्र सामने उपस्थित करते है। हल्दीघाटी के युद्ध का यह चल-चित्र देखिए ——

'निर्बल बकरो से बाघ लड़े, भिड गए सिह मृग-छौनो से।
घोड़े गिर पड़े, गिरे हाथी, पैदल बिछ गये बिछौनो-से ॥

हाथी से हाथी जूझ पड़े, भिड़ गये सवार सवारो से।
घोड़ो पर घोड़े टूट पड़े, तलवार लड़ी तलवारो से॥'

*　　*　　*

'कल-कल बहती थी रण-गङ्गा, अरि-दल को डूब बहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को॥
वैरी दल की ललकार गिरी, वह नागिन-सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो-बचो, तलवार गिरी, तलवार गिरी॥'

चेतक का यह सजीव वर्णन लीजिए :—

'जो तनिक हवा से बाग हिली लेकर सवार उड जाता था।
राणा की पुतली फिरी नहीं तब तक चेतक फिर जाता था॥'

पांडेयजी की इन पंक्तियो मे वीर रस सकार हो उठा है। चित्तौड़ के प्रति उनका अनन्य अनुराग है। 'जौहर' की इन पंक्तियो मे उनका चित्तौड़-प्रेम देखिए :—

'यही देश राणा प्रताप की स्वतन्त्रता का अवलम्बन।
इसी भूमि-कण का दर्शन है शत-शत मन्दिर का दर्शन॥
इसी भूमि की पूजा की वीरो ने रण की चाहो से।
माँ-बहनो ने जौहर से, दीनो ने अपनी आहो से॥'

'जौहर' मे करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। 'जय हनुमान' भी इस दृष्टि से एक सफल काव्य है। सीताजी का करुणपूर्ण चित्र इन पक्तियो में देखिए :—

'कपि ने सीता को देखा, जल-कमल-हीन वापी-सी।
कृशिता-उच्छ्वसिता-दीना, तम घिरे प्रात की श्री-सी॥'

*　　*　　*

'उस अश्रुमुखी सीता की आखो से ढर-ढर पानी—
गोरे गालों पर गिरता, मानों गल रही जवानी।'

पाण्डेयजी ने अपनी रचनाओ में प्रकृति के भी सुन्दर चित्र उतारे हैं। उन्होंने संध्या, प्रभाव, पर्वत, वन, झाड़ी, नदी आदि का अत्यन्त कलात्मक वर्णन

किया है। मध्याह्न का प्रभावात्मक चित्रण इन पक्तियो मे देखिए —

उस दोपहरी में चुपके से खेतों-खेतो मे चचु खोल।
आतप के भय से बैठे थे खग मौन तपस्वी-से अबोल ॥'

चादनी रात मे अरावली पर्वत का यह चित्र लीजिए :—

'गिरी पर थी बिछी रजत चादर, गह्वर के भीतर तम-विलास,
कुछ-कुछ करता था तिमिर दूर जुग-जुग जुगनू का लघु प्रकाश।'

राणा प्रताप के प्रति प्रकृति की सवेदनशीलता इन पक्तियो मे देखिए :—

'ओसो के मिस नभ-दृग से बहते थे आँसू झर-झर।'

* * *

'बच्चो ने भी रो-रोकर की विनय-वन्दना माँ की।
पत्थर भी पिघल रहा था वह देख-देख कर झाँकी ॥'

लका का यह वैभवपूर्ण चित्र भी देख लीजिए :—

'मणि-खचित खिड़कियो से थी सागर की हवा झुरुकती।
गृह-तरुणी-छवि-दर्शन के हित चारु चाँदनी रुकती ॥'

* * *

'वैदूर्य-वेदिका शोभित सोने के द्वार कही थे।
लटके कलधौत-गृहो में मोती के हार कही थे ॥'

प्रबन्ध-काव्यो के अतिरिक्त पाडेयजी ने मुक्तको की भी रचना की है। इस दृष्टि से उनका 'आरती' काव्य-संग्रह अत्यन्त सुन्दर है। इसमे वन्दनाएँ और राष्ट्र-गीत सगृहीत है। साथ ही शकरके ताडव-नृत्य का वर्णन अत्यन्त उच्च कोटि का है। 'रूपातर' उनका अनूदित काव्य है। यह कालिदास-कृत 'रघुवश' का अनुवाद है। इसमे सात सर्ग है। पाडेयजी का पाडित्य केवल इसी बात से सिद्ध होता है कि उन्होने सस्कृत के प्रत्येक श्लोक का अनुवाद हिन्दी के उतने ही बड़े छन्द मे किया है।

पांडेयजी की शैली

पाण्डेयजी की काव्य शैली के मुख्यत. दो रूप हैं : (१) प्रबन्ध-काव्य और (२) मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य की भी दो शैलियाँ है · (१) महाकाव्य और (२) खंड-

काव्य । इनकी रचना मात्रिक ओर वर्णिक, दानो प्रकार के छन्दा में की गई है । 'जय हनुमान' के अतिरिक्त शेष सभी काव्यो मे विभिन्न मात्रिक छन्द ही मिनते है । 'जय हनुमान' में मात्रिक, वर्णिक और स्वच्छद छन्द अपनाए गए हैं ।

विषय-वस्तु की दृष्टि से पाण्डेयजी के काव्य की तीन शैलियाँ हैं : (१) वर्णनात्मक, (२) परिचयात्मक और (३) भावात्मक। वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्यामे इन तीनो का प्रयोग हुआ है, लेकिन मुक्तकों की शैली केवल भावात्मक है । युद्धों, परिस्थितियो तथा प्रकृति-चित्रण आदि की शैली वर्णनात्मक है, पात्र जहाँ स्वयं अपना परिचय देते है वहाँ परिचयात्मक शैली है और जहाँ क्रोध, उत्साह, करुणा, निर्वेद आदि का चित्रण किया गया है वहाँ भावात्मक शैली पाई जाती है । इन तीनो शैलियो के निर्माण मे पाण्डेयजी सफल है । इन शैलियो मे काव्योचित चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रम आदि अलकारो का उपयोग किया गया है । पाण्डेयजी स्वभावत: अलकार-प्रिय नही हैं । वह अपनी बात सरलतम ढङ्ग से कहकर पाठको को प्रभावित करने की कला जानते हैं । इसलिए उनमे न तो कथन की वक्रता है और न भाषा को अलंकारो से लादने की प्रवृत्ति । शब्दो की अभिधा-शक्ति से उन्होने अधिक काम लिया है । इसलिए उनकी प्रत्येक शैली सरल, सरस, प्रवाहमय, प्रभावोत्पादक ओर स्वाभाविक होने के साथ-साथ काव्योचित भी है । परिस्थितियो ओर घटनाओ के शब्द-चित्र अकित करने मे भी वह सफल है । उर्दू-कवियो, मुख्यत 'अनीस' और 'दबीर' का पाण्डेयजी पर विशेष प्रभाव है और इस प्रभाव के अन्तर्गत ही उन्होने 'हल्दीघाटी' की रचना की है ।

पाण्डेयजी की भाषा

पाण्डेयजी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है । उसमे संस्कृत के तत्सम शब्दा के साथ-साथ बदरंग, शान, कुर्बान, नजदीक, जहर, खून, दुश्मन आदि फारसी-अरबी के शब्द भी पाये जाते है । कही-कही उनकी भाषा पर पूर्वीपन की छाप भी दीख पड़ती है । लेकिन इन शब्दो के चयन मे उनकी भाषा की सफलता का रहस्य नही है । उनकी भाषा की सफलता का रहस्य उनके द्वारा चुने गये शब्दो के सामजस्य एवं समन्वय मे निहित है । वह जिस भाषा के जिस शब्द को अपनाते हैं

उस पर वह अपना पूरा नियन्त्रण रखते है और उसका मेल अन्य भाषा के शब्द के साथ इस तरह बैठाते है कि यदि वह विदेशी हुआ तो वह अपना विदेशीपन खो बैठता है। भाषा की यह विशेषता खडीबोली के कवियो मे कम पाई जाती है।

पाडेयजी की भाषा के मुख्यत: दो रूप है · (१) व्यावहारिक और (२) सस्कृत-गर्भित। 'हल्दीघाटी' की भाषा व्यावहारिक भाषा है। इस भाषा पर उर्दू-शैली का विशेष प्रभाव है। इसमे वही चुलबुलापन, वही रग, वही प्रवाह और वही रवानी है जिसके लिए उर्दू भाषा प्रसिद्ध है। 'जय हनुमान', 'जौहर' आदि मे भी व्यावहारिक भाषा पाई जाती है, लेकिन उसमे यह बात नही है। पाडेयजी की व्यावहारिक भाषा समय और विषय के अनुसार अपना रूप बदलती है। यही कारण है कि वन्दना आदि और 'रूपान्तर' की भाषा मे उन्होने सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसमे सामासिक पदावली का भी सफल प्रयोग हुआ है। लेकिन फिर भी यह भाषा दुरूह नही है। पाण्डेयजी ने सस्कृत के पंडित होते हुये भी अपनी भाषा को क्लिष्ट होने से बचाया है। अवसरानुकूल वह अपनी भाषा मे मुहावरो के प्रयोग-द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने मे भी समर्थ है। मस्तक पर चढ जाना, पाले पड़ना, छिड़ जाना, रग जाना आदि मुहावरे उनकी 'हल्दीघाटी,' 'जौहर' आदि प्रबन्ध-काव्यो की भाषा मे भरे पड़े है। संस्कृत-गर्भित भाषा मे मुहावरे अपेक्षाकृत कम है।

इन विशेषताओ के अतिरिक्त पाडेयजी की भाषा के सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान मे रखने योग्य है और वह यह कि उनकी भाषा विषय, परिस्थिति और काल के अनुसार बदलती है। 'तुमुल' मे उनकी भाषा का प्रारभिक रूप है, पर वही विकसित एवं परिमार्जित होकर 'हल्दीघाटी' मे नही आयी है। 'हल्दीघाटी' मे उनकी भाषा ने, विषय और परिस्थिति के अनुसार, अपना रूप बदला है। 'रूपातर' की भाषा सस्कृत-गर्भित है। उसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो का बाहुल्य है और सामासिक पदावली का खुलकर प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यदि हम उनकी भाषा का वर्गीकरण करें तो हमे ज्ञात होगा कि वह दो प्रकार की भाषाएँ लिखते है— एक तो वह जिसमे सस्कृत, उर्दू, फारसी तथा ग्रामीण आदि शब्दो का खुलकर प्रयोग होता है और दूसरी वह जिसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो एवं सामासिक

पदावलियो का प्राधान्य रहता है।

पाडेयजी की भाषा मे व्याकरण की भद्दी भूले बहुत कम हैं। उनकी भाषा प्राजल, साहित्यिक, वेगपूर्ण, ओज और प्रसाद-गुणयुक्त, प्रयत्नहीन, प्रवाह-मय, मुहावरेदार और बिषयानुकूल होती है। कही-कही ग्रामीण शब्द अवश्य खटकते हैं और सस्कृत-फारसी के शब्दो के मेल कृत्रिम-से जान पडते हैं। ऐसे स्थलो पर भाषा का प्रवाह मन्द हो गया है और भाव-व्यजना मे बाधा पडी है। जान पड़ता है, पाडेयजो ने तुक के आग्रह से ही ऐसा किया है।

---

३४ : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

जन्म-स० १६७२

जीवन-परिचय

रामेश्वर शुक्ल 'अचल' का जन्म १ मई सन् १९१५ई० को फतेहपुर जनपद के अन्तर्गत किशनपुर नामक ग्राम मे हुआ था। उनके पिता प० मातादीन शुक्ल उस समय कालेज के विद्यार्थी थे। अंचलजी के जन्म के छ मास पाश्चात् ही उनके पितामह की असामयिक मृत्यु हो जाने से प० मातादीन पर परिवार के भरण-पोषण का भार आ पड़ा। इसलिए पढ़ाई छोडकर जीविकोपार्जन के लिए उन्हे प्रयाग जाना पड़ा। प्रयाग मे दो वर्ष तक नौकरी करने के बाद वह जबलपुर चले गये और वहाँ के हितकारिणी हाई स्कूल मे अध्यापक हो गये।

अचलजी की प्रारभिक शिक्षा जबलपुर मे ही सम्पन्न हुई। इसके बाद जब उनके पिता 'माधुरी' के सहायक सपादक होकर लखनऊ चले गये तब उन्होने अँगरेजी पढ़ना आरभ किया और लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया। इसके आगे वह न पढ सके। उन्होने नौकरी कर ली। उत्तर प्रदेशीय सचिवालय मे कुछ दिनो तक कार्य करने के बाद उन्होने उत्तर प्रदेशीय लोक-सेवा-आयोग के प्रयाग-स्थित-कार्यालय मे काम करना आरभ किया। यही से नौकरी करते हुए

उन्होने नागपुर-विश्वविद्यालय से हिन्दी लेकर एम० ए० पास किया। साहित्यिक वातावरण मे पले होने के कारण कार्यालय की फाइलो मे उनका जी न लगता था। इसलिए वह नौकरी छोड़कर सं० २००२ मे जबलपूर चले गये और वहाँ राबर्टसन कालेज मे हिन्दी के प्राध्यापक और फिर स० २०१३ मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गये। जबलपुर में प्रान्तीय शासन-द्वारा स्थापित 'भाषा-अनुसंधान-संस्था' के अन्तर्गत हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर भी उन्होने कार्य किया। फिर सं० २०१५ मे जबलपुर-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इस समय वह उसी पद से हिन्दी की सेवा कर रहे है।

अंचलजी की रचनाएँ

अचलजी बचपन से ही हिन्दी-प्रेमी है। जबलपुर मे उनके पिता अध्यापक ही नही, सपादक भी थे। 'छात्र सहोदर' (मासिक) 'तिलक' (अर्द्ध साप्ताहिक), 'कर्मवीर' (साप्ताहिक) आदि का सपादन करने के कारण उनके पास हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ आती रहती थी। अचलजी इन्हें उलटा पलटा करते थे। धीरे-धीरे जब उन्हे कुछ पढने-लिखने का अभ्यास हो गया तब उन्हें इन पत्र-पत्रिकाओ के अध्ययन मे विशेष आनन्द मिलने लगा। लखनऊ जाने पर उनके साहित्य-प्रेम को और भी बल मिला। वहा हिन्दी के कई प्रतिष्ठित साहित्यकारो के निकट सपर्क मे आने का उन्हे सुभ अवसर मिला। इससे उनकी प्रतिभा जाग उठी और वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही रचनाएँ करने लगे। सबसे पहले 'माधुरी' मे उनकी कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित हुई। इस प्रकार उनका रचना-काल स० १९८८ से आरम्भ होता है। तब से अब तक उनके दो कहानी-सग्रह 'तारे' और 'ये-वे-बहुतेरे' प्रकाशित हो चुके है। इनके 'अतिरिक्त 'चढती धूप', 'नई इमारत', उल्का' और 'मरु प्रदीप' उनके उपन्यास है। 'समाज और साहित्य' तथा 'रेखा-लेखा' मे उनके निबंधो का सग्रह है। 'हिन्दी-साहित्य परिचय' और 'हिन्दी-साहित्य अनुशीलन' उनके इतिहास-सम्बन्धी ग्रथ हैं। उनके काव्य सग्रह इस प्रकार हैं :—

(१) **मौलिक काव्य-संग्रह**—मधूलिका (सं १९९५), अपराजिता (सं० १९९६), किरण-बेला (सं० १९९८), करील (सं० १९९९), लालचूनर (सं०

२००१), वर्षान्त के बादल (स० २०१२), विराम चिह्न (सं० २०१४)

(२) संपादित काव्य-संग्रह—काव्य-कौमुदी (स० २००८), हिन्दी-काव्य-सग्रह (स० २००८)

इन रचनाओ मे से स० १९९६ मे उन्हे 'मधूलिका' पर 'चक्रधर पुरस्कार' मिला है।

अंचलजी की काव्य-साधना

स० १९८७ के बाद छायावाद की जटिल दार्शनिकता, अशरीरी सौंदर्य-कल्पना और अतीन्द्रियता के विरुद्ध जिस बौद्धिक चेतना का आविर्भाव हुआ उसने हिन्दी-काव्य मे कई वादो की प्रतिष्ठा की। जिस कवि की जैसी रुचि थी, जिसका जैसा अध्ययन था और जिसका जैसा जीवन-अनुभव था उसने उसके अनुसार उन वादो को अपनाकर काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया। अचलजी ने भी उसी समय कुछ लिखने के लिए लेखनी उठाई, लेकिन वह अपने हृदय के सत्य को किसी वाद की संकुचित परिधि के भीतर बाँधकर उसका हनन न कर सके। उन्होने स्वयं अपने कवि का निर्माण किया और वह अपने आकुल अतर की अतृप्त तृष्णा और लालसा के गीत गाते हुए हमारे सामने आये। इसलिए हिन्दी-काव्य मे उनकी कृतियाँ सर्वथा मौलिक और अछूती है और वह हिन्दी के प्रतिनिधि-कवि माने जाते है।

'मधूलिका' अचलजी का प्रथम काव्य-सग्रह है। इसमे उन्होंने अपनी यौवन-सुलभ तृष्णा, लालसा और पिपासा का चित्रण स्मृति और विषाद की पृष्ठ-भूमि पर किया है। इसलिए इसमे यदि एक ओर यौवन का अजस्र प्रवाह है तो दूसरी ओर प्रेमानुभूतियो की कसक है। पूछा जा सकता है कि अचलजी की काव्य-प्रेरणा का स्रोत क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे उनकी निम्न पक्तियाँ लीजिए '—

'जब पराग की घन-जाली में मत्त कोयलिया बोली।
तब मैंने अगड़ाई लेकर अपनी जलन टटोली।।
तब यह चिरवंचित प्राणी बेसुध-सा, उन्मत्त-सा।
विटप-विटप में बोल उठा अगणित-मधुओं का प्यासा।।'

इन पंक्तियो से यह स्पष्ट है कि प्रकृति के साहचर्य से अंचलजी मे 'किसी

निरुपमा की सुधि जागी' है और उस 'सुधि' ने उन्हे 'बेसुध' बना दिया है। वह 'सुधि' किस की है ? यह वह स्वय नही जानते :—

'प्यार किया कब किसको मैने स्यंव नहीं यह जाना
जलता रहा अनल-सा अपने में, न उसे पहचाना
घुल-घुल नव-नीहार हार-सा मैं सदैव अकुलाता
पर न जानता किसका रस-सौंदर्य मुझे तरसाता।'

अचलजी ने अपनी उसी अज्ञात प्रेयसी का सौन्दर्य समस्त विश्व में देखा है और उसी के व्यक्त रूप के दर्शन की लालसा और उसके प्रति प्रेम की प्यास जाग उठी है जो किसी भी दशा मे छिपाये नही छिपती :—

'कहां छिपाऊं अर्ध रात्रि-सी यह निर्बंध पिपासा,
गंध अब उन्मत्त दृगो की हिल्लोलित अभिलाषा।'

इसलिए उन्होने प्रेम को कोसा भी है —

'प्रेम! एक अभिशाप, एक चीतकार-भरा सपना है
मौन-मौन इस पूत चिता में तिल-तिल कर तपना है'
'प्रेम-नगर की रीति यही है, प्राण हथेली पर रखना
अमृत को ठुकराते चलना, विष का कुँभ अभय रखना।'

प्रेम की इस मजिल पर पहुँचकर कवि या तो आत्मा-सतोषी हो जाता है या फिर वह किसी रहस्य-लोक मे विचरण करने की कामना करता है। अचलजी की रचनाओ मे इन दोनो की अभिव्यक्ति हुई है —

'और सुनो तो यही कौन कम है यह हम उन्मत्त रहें
यहा बड़ा वरदान सदा जो जला करें, उत्तप्त रहें'
'इस ज्योत्स्ना के पार सुदूर रहस्य-लोक में रानी!
क्या न कभी तुम पहुँचादोगी मेरी करुण कहानी।'

अचलजी ने प्रकृति को अपने रग मे ही रगी हुई देखा है। इसलिए उन्होने उसके विषादमय चित्र ही अकित किये हैं। प्रकृति के उल्लसित रूप के प्रति उनका आकर्षण नही है और जहाँ है भी वहाँ उसके प्रति उनकी विद्रोह-भावना

तीव्रतर हो उठी है। 'किंशुक' शीर्षक कविठा की इन अंतिम पंक्तियों में प्रकृति की मुस्कराहट के प्रति उनका आक्रोश देखिए :—

'आज जला दूंगा मैं सारे कुकुम-गन्ध-गवाक्ष-दिगन्त
देखूं फिर कैसे आता है केसर लिये गुलाल वसन्त।'

उन्माद के क्षणों मे प्रकृति के प्रति ही नही, ईश्वर के प्रति भी अचलजी का आक्रोश अधिक उग्र है। उन्होने वियोग का प्राय सभी अन्त-र्दशाओ का अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक चित्रण किया है। 'अपराजिता' भी उनका वियोग-प्रधान काव्य-सग्रह है। इसमे भी उनकी कविता वेगवती सरिता की भाँति हाहाकार करती हुई आगे बढती है। उसके दो कूल हैं. (१) वियोग और (२) सयोग। वियोग की गहराई के कारण उसका वेग उस ओर ही अधिक तीव्र है—इतना तीव्र है कि वह अपने साथ जीवन का सब कुछ बहा ले जाता है। लेकिन संयोग उथला और शान्त है। इसलिए इस ओर उसका मद-मद प्रवाह है। ऐसे अवसर पर अचलजी मे समन्वय के भाव जाग्रत होते हैं :—

'आज', 'आज' के दौर चलें अब, कल की अभिलाषा कैसी !
कल आयेगा, यह क्या निश्चय, यह कल की आशा कैसी।'

* * *

'जग मे पीड़ा दुख देखकर प्राण न किंचित अकुलाता
हम दीवानों ने युग-युग से जग में दुःख ही सुख जाना।'

* * *

आओ यहीं बसाले अपना छोटा केशर-कुंज सखी।
और मुक्त हो घोल बहादें यह प्राणो का पुंज सखी।

'अपराजिता' मे संगृहीत 'प्रभाती' मे उनका यह स्वर और भी उदात्त है —

'खोल चितवन के ज्योतिर्द्वार, भरो जग में मधु सौरभ प्यार।'

अचलजी के काव्य का यह नवीन सदेश 'किरण-वेला' और 'करील' से छनता-छनाता 'लाल चूनर' मे विशेष रूप से मुखर हुआ है। पूँजीपतियों की शोषण-प्रवृत्ति के विरुद्ध उनकी विद्रोह-भावना इन पंक्तियो में देखिए —

'कब तक पशुता के प्रतीक वे जुल्म करेंगे, दुख देंगे
अपनी स्वार्थ-साधना मे मानव-समाज की बलि लेंगे
हनन करेंगे कब तक सबके सुख को कुछ के सुख पर
कब तक वे तेजाब उडेलेंगे मानव के मुख पर'

इस प्रकार 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे लौकिक ऐषणा—तृष्णा, पिपासा और लालसा—के बीच समन्वय के जो जीवन-स्पर्शी अकुर प्रस्फुटित हुए थे वे अगली तीन रचनाओ मे उन्ही ऐषणाओ के बीच पल्लवित हुए और 'वर्षान्त के बादल' मे वे लहलहा उठे है। इसमे भी अचलजी उद्दाम काव्य के प्रणेता है, लेकिन इसके साथ ही जग-जीवन और प्रकृति के साथ सपर्क स्थापित कर उन्होने अपनी उद्दाम भावनाओ को पर्याप्त परिष्कृत और सयत किया है। इसलिए पूर्व-कृतियो की अपेक्षा इसमे भावो की व्यापकता, अनुभूतियो की परिपक्वता और विचारो की गहनता अधिक पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'नव सस्कृति' की निम्न पंक्तियाँ लीजिए :—

'तुम मेरे साथ चली आओ !
पथ की बाधाओ से न डरो, सहमो न तनिक तुम घबराओ।
महलों के वैभव मे अब तक तुम छवि की छाया-सी भूली,
रागो मे स्वर बन लहराईं, निशि मे शेफाली-सी फूली,
कितनी ऊँची अतृप्त परवशता थी तुम चीर जिसे बाहर आईं,
कितनी ऊँची दीवारे थी तुम छोड़ जिन्हे पीछे आईं।'

अचलजी की ये पंक्तियाँ उनकी परिष्कृत एवं सतुलित भावना की द्योतक है। इनमे उनके काव्य का परिवर्तित स्वर बहुत ऊँचा उठा हुआ है। अगली पक्तियो मे उमड़ते हुए वर्षा के पहले बादल से उन्होने जो प्रार्थना की है वह जग-जीवन के प्रति उनकी सच्ची सहानुभूति का द्योतक और उनके मानववादी दृष्टिकोण का पोषक है :—

'तुम बरसो, जलती धरती का तम शीतल होले
तुम बरसो, उतरी थकान का मन मिसरी घोले
ओ बरसा के पहले बादल ! बे-बरसे मत जाना'

इन पूव भावनाओ के साथ-साथ अचलजी ने अपने 'दाता' को भी उच्च स्वर से स्मरण किया है :—

'मेरी सतप्त पुकारों ने अब तक न तुम्हारा स्वर पाया।
फिर भी मेरे दाता! मैं तो विश्वास तुम्हीं पर कर पाया।

अचलजी के काव्य के इस विकास क्रम में 'विराम चिह्न' का प्रमुख स्थान है। यह उनकी सातवी कृति है। इसमे भी सख्या की दृष्टि से प्रेम-सबन्धी कविताएँ ही अधिक है, लेकिन इनमे प्रेम का वह मासल रूप नही है जो उनकी पूर्व-कृतियो मे पाया जाता है। 'मधूलिका' मे उन्होंने अपनी जिस 'प्रेयसी' के लिए अपने मन को पीड़ा की आग मे तपाया था और जिसकी याद करते-करते वह 'वर्षान्त के बादल' तक आये थे वह 'विराम चिह्न मे अदृश्य-सी हो गई है। इससे उनके मन का टूटना स्वाभाविक है। 'नभ के तारे की क्या आशा' शीर्षक कविता मे उनके मन की निराशा इन पक्तियो मे देखिए —

'अपना ही अपना न हुआ, आकाश बिहारी की क्या आशा
जब मन ही का फूल मर गया, क्या आकाश-कुसुम की आशा।

मन की यह निराशा कवि के जीवन को समाप्त कर देनेवाली निराशा है, लेकिन अंचलजी ने बड़े कलात्मक ढग से उसे निराशा के गर्त से निकाल कर उसमे आशा का सचार किया है :—

'है परम्परा अमर ज्योति की रोज सबेरा आता
लाकर नई किरण की सासें रोज उजेला लाता।'

इसके साथ ही उन्होंने अपने आराध्य से भी यह प्रार्थना की है :—

'दूर करो दुख के भय को, सुख का अभिमान हरो।
मेरी सुधि-सुधि में अपने सुमिरन की गूंज भरो,
मेरे संशय-संशय में जय-घोष तुम्हारा हो।
मेरी अनियन्त्रित गति में संतोष तुम्हारा हो।'

इस प्रकार अंचलजी ने अपने मन को एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया है। 'विराम चिन्ह' इस नई दिशा से प्राणवान है। 'जन-जन मन में' 'दलित उत्पीड़ित मनुज', 'नवयुग की दीवारें' आदि कविताओ मे हम उनके इसी

गतिशील दृष्टिकोण का परिचय पाते हैं। युग-पुरुष गांधीजी, महाकवि तुलसीदास और रानी दुर्गावती के उज्वल यश और पावन-स्मृति में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। 'उनको भूल न जाना' शीर्षक उनकी रचना उन शहीदों के त्याग की पुनीत स्मृति है जिन्होंने देश की आजादी की लड़ाई में अपना जीवन उत्सर्ग किया है :—

'देश-प्रेम के ओ मतवालों! उनको भूल न जाना।
महाप्रलय की अग्नि-साध लेकर जो जग में आये,
विश्वबली शासन के भय जिनके आगे मुरझाये।
चले गये जो सीस चढ़ाकर अर्घ्य लिए प्राणों का,
चलो मजारों पर हम उनके आज प्रदीप जलायें।'

अचलजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। उनके काव्य का विकास धीरे-धीरे स्वाभाविक ढंग से हुआ है। जैसे-जैसे वह यौवन की परिधि से बाहर निकलते गये हैं वैसे-वैसे वह जीवन और जगत के साथ नाता जोड़ते गये हैं। उनके काव्य का यह विकास-क्रम उनके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है।

अंचलजी की शैली

अचलजी की काव्य-शैली मुक्तक-काव्य की शैली है। मुक्तक दो प्रकार के होते हैं : (१) भाव-मुक्तक और (२) प्रबन्ध-मुक्तक। अचलजी ने इन दोनों प्रकार के मुक्तकों की सफल रचना की है। 'वर्षान्त के बादल' और 'विराम चिह्न' में इन दोनों को स्थान मिला है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के कुछ भाव-मुक्तक दीर्घ होने पर भी सुन्दर हैं। उनके मुक्तक सुपाठ्य होते हैं, लेकिन इसके साथ ही गेय मुक्तक अथवा प्रगीत लिखने में भी अचलजी आज के किसी गीतिकार से पीछे नहीं हैं। स्वयं गायक न होते हुए भी उन्होंने अपने प्रगीतों में काव्य और संगीत को निकट संपर्क में लाने का सफल प्रयत्न किया है। 'माँझी', 'मैं तुम्हें पहचान लूँगा', 'नव संस्कृति', 'दीपक-माला', 'पुकार', 'दीप जल में बह चला' आदि उनके ऐसे सुन्दर प्रगीत हैं जिनमें संगीत की स्वर-लहरियों पर अनुभूति का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है।

अंचलजी भाव-प्रिय कवि हैं। उनकी रचनाओं में चिन्तन की अपेक्षा भावों का उत्कर्ष ही दीख पड़ता है। शृङ्गार और करुण उनके प्रिय रस हैं। इनके

अतिरिक्त शान्त और वीर के भी यत्र-तत्र उदाहरण मिलते है। इन रसो के परि-पाक मे अचलजी को पूरी सफलता मिली है। वियोग-श्रृङ्गार के वर्णन मे उनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। इस क्षेत्र मे वह अपने समय के कवियो मे अग्रगण्य है। वह भाव-विभोर होकर कविता करते हैं। इसलिए उनमे भावो को सजा-सँवार कर काव्य-रूप देने की कृत्रिम प्रवृत्ति नही है। वह धारा-प्रवाह लिखते हैं। उस समय अलकार उनके भावो का स्वाभाविक रूप से अनुगमन करते हैं। उत्प्रेक्षा, उदाहरण, अनुप्रास, उपमा और रूपक उनके प्रिय अलंकार है। इनका प्रवेश उनकी रचनाओ मे स्वाभाविक ढग से ही हुआ है। उनमे कथन की वक्रता नही है। वह अपनी बात अपने ढग से सरल शब्दो मे कहते है। शब्दो की अभिधा शक्ति से काम लेने के कारण उनकी प्रत्येक रचना पाठक के हृदय पर भरपूर चोट करती है।

अचलजी मे एक ही भाव का विस्तार अधिक है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे उनकी जो रचनाएँ सगृहीत हैं उनमे उनकी तृष्णा और पिपासा ने ही खुलकर अभिव्यक्ति प्राप्त की है। इससे उनकी भाव भूमि का क्षेत्र सकुचित हो गया है। यद्यपि आगे चलकर 'वर्षान्त के बादल' और 'विराम चिह्न' मे उन्होने इस अभाव की पूर्ति की है, फिर भी वह एकदम अपनी पूर्व-प्रवृत्ति से मुक्त नही हो सके हैं। पाठको की दृष्टि मे यह दोष भले ही हो, लेकिन अचलजी के लिए यह विशेष गुण है। उन्होने अपने इस विशेष गुण की उसी तरह रक्षा की है जिस तरह महादेवजी ने अपने वेदना-भाव की। यही कारण है कि अचलजी हमे अपनी प्रत्येक रचना मे जीते-जागते दीख पड़ते हैं। उन्होने अपने मूल प्रेरणा-स्रोत से पृथक होकर और फिर भावो को कुरेद-कुरेद कर जगाने और उन्हे काव्य का रूप देने की कही भी विफल चेष्टा नही की है। इसलिए उनके हृदय का सत्य उनकी रचनाओ मे बोल उठा है। अपने हृदय के सत्य को उन्होने प्राय मात्रिक छन्दो मे ही व्यक्त किया है। कुछ रचनाएँ अतुकान्त छन्दो मे भी मिलती हैं। इन हिन्दी-छन्दो के साथ-साथ उर्दू-छन्द भी अपनाये गये है और इनके प्रयोग मे भी उन्हे अच्छी सफलता मिली है। भावो के अनुरूप छन्दो का विधान करने मे वह आज के कवियो में किसी से पीछे नही हैं।

अचलजी की भाषा

अचलजी की भाषा साहित्यिक खड़ीबोली है। उसमे तृणाकुल, मालच, उन्मन, विपुल, क्षुब्ध, मुखर, अविराम, विभुक्षित आदि सस्कृत के सरल और क्लिष्ट तत्सम शब्दो के साथ 'हिया', हियरा, गैल, डगरी, सपना, फुलझड़ी, पछुआ, बौना, धीर, सुमिरन, टेरे, बुझन, जुडावन' आदि ग्रामीण और हस्ती, शबनम, अरमान, पैगम्बर, वीरान, तूफानी, बेहोश, साकी आदि फारसी अरबी के तत्सम शब्द भी मिलते है। इन दोनो वर्ग के शब्दो के प्रयोग से अंचलजी की भाषा को विशेष बल नही मिला है। निम्न पंक्तियो मे 'शमा' और 'सनम' शब्द भावो के प्रवाह मे ही नही, भाषा के प्रवाह मे भी बाधक है :—

'फिर चली निष्कम्प शात प्रखर शमा-सी रूप उन्मन।'

*   *   *

'मृत्यु मे भी सुख कहाँ इससे अधिक होगा सनम-बिन।'

अचलजी की भाषा से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो शब्द-प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल और अर्थ की स्पष्टता मे बाधक है। 'वेदनमय' 'अविजानित' 'आकाशो', 'मनजोत', 'कपूरी', 'अवनीदी' आदि जैसे अप्रचलित शब्द भी कही कही भाषा मे अडचने पैदा कर देते है। लेकिन अचलजी की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती गई है। 'वर्षान्त के बादल' और 'विराम चिह्न' की भाषा 'मधूलिका', 'अपराजिता' आदि की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरी और भावानुकूल है।

अचलजी की भाषा की सर्वत्र एक-सी गति नही है। जब वह मानस में डूबकर लिखने बैठते है तब उनकी भाषा, चाहे वह 'मधूलि का' कीभाषा हो, चाहे 'लाल चूनर' की और चाहे 'विराम चिह्न' की, सरस, साफ-सुथरी, आवेगपूर्ण प्रवाहमय और प्रभावोत्पादक होती है, लेकिन जब वह चिंतन-प्रधान होते है तब उनकी भाषा मन्थर गति से भटक-भटक कर चलती है और उसके लिए उन्हे इधर-उधर से शब्द खोजकर उसकी पूर्ति करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में उनकी भाषा का रूप शिथिल और विकृत हो जाता है।

शब्द-प्रयोग की दृष्टि से अचलजी की भाषा के दो रूप हैं : (१) व्यावहारिक और (२) संस्कृत-गर्भित। उनकी व्यावहारिक भाषा का रूप भाव-प्रधान

रचनाओ में अत्यन्त सुन्दर है। उसमे भाषा भावो का पूरी तरह अनुगमन करती है। उसमे सस्कृत के सरलतम तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए है और सामासिक पदो को योजना भी कम है। लेकिन उसकी अपेक्षा सस्कृत-गर्भित भाषा कुछ क्लिष्ट है :—

'सुख में अमर भ्राति का हास, बन विकास में 'ह्रास अपार
दुख में आहों का उच्छ्वास, अरे! सृजन में बन संहार
जीवन में जीवन म्रियमाण, अहा उदय में बन अवसान
नाच रहे हैं मेरे गान।'

अचलजी की भाषा भावो और विचारो के अनुसार अपना रूप बदलती रहती है। उसमे सर्वत्र प्रसाद गुण पाया जाता है। शृङ्गार रस के वर्णन में माधुर्य गुण उसकी विशेषता है। 'विराम चिह्न' को कुछ रचनाओं मे भाषा ओज गुण-सम्पन्न भी है। इस प्रकार अचलजी की भाषा विविध-रूपिणी है। लेकिन इसके साथ ही यत्र-तत्र उनकी पद-योजना चुस्त नही है। कही विभक्तियो का लोप, कही क्रियाओ की अपूर्णता, कही विशेषण-विशेष्य के अनुचित गठ-बन्धन और कही व्याकरण-विरुद्ध बहुवचन उनकी भाषा मे अत्यधिक अड़चनें पैदा करते है।